

तंत्र-महाविज्ञान

(प्रथम खण्ड)

[तन्त्र के सिद्धान्तों का वैज्ञानिक निरूपण]

लेखक

वेदमूर्ति तपोनिषु

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

चारों वेद, १०८ उपनिषद्, पट् दर्शन, २० स्मृतियों

एव १६ पुराणों के प्रसिद्ध भाष्यकार

संरकृति संस्थान

खाजा कुतुब (वेद नगर)

वरेली (उ० प्र०)



COLLECTION OF VARIOUS

- HINDUISM SCRIPTURES
- HINDU COMICS
- AYURVEDA
- MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!



KAPWING

४

प्रकाशक ।

डा० चमनलाल गौतम
सस्कृति संस्थान, खाजा कुतुब,
बरेली ।

५

लेखक :

प० श्रीराम शर्मा आचार्य,
डा० चमनलाल गौतम

६

सर्वाधिकार सुरक्षित

७

प्रथम संस्करण ।

१९६९

८

मुद्रक :
शेखर प्रिण्टलेण्ड,
वृन्दावन दबोजा,
मथुरा ।

९

मूल्य
सात रुपये पचास पैसे ।

प्राककथन

भारतीय अध्यात्म-साहित्य में 'तन्त्र' की एक विशिष्ट स्थिति है। सामान्यतया सभी तन्त्र-ग्रन्थ भगवान शिव के मुख में आविभूत बतलाये गये हैं और उनको आस-वाक्य के समान पवित्र और प्रामाणिक माना गया है। पर इसी देश के विद्वानों में एक दल ऐसा भी है, जो उनको अनेक दूषित प्रवृत्तियों का स्रोत और इस कारण व्यक्ति एव समाज के लिए अकल्याणकारी बतलाता है।

जब इस मस्त्या का निर्णय करने के लिए हम इसके गहन-तन्त्र में दृश्यपात करते हैं, तो विदित होता है कि ये दोनों ही मत न्यूनाधिक परिमाण में विचारशीलता से परे हैं। तन्त्र ग्रन्थों को शिव-प्रणीत और आस-वाक्य मानना वैसा ही है, जैसा कि अविकाश पुराणों को व्रद्धा, विष्णु या किसी अन्य देवता के मुख से नि सृन बतलाता। भारतवर्ष के विद्वान् समस्त ज्ञान का मूल स्रोत भगवान की चित्तशक्तिको ही मानते हैं, इसलिए वर्ष में और अध्यात्म के सम्बन्ध में उनका जो स्फुरणा होती है और जिन तथ्यों तथा भावनाओं को वे ग्रन्थरूप में प्रकट करते हैं, उनको अपनी कृति न मानकर विश्व की चैतन्य-सत्ता को ही उनका उद्दगम कहते हैं। तन्त्र जात्य के प्रणेताओं ने भी आरम्भ में इसी परिपाठी का अनुसरण किया है और मभी प्रमुख तन्त्र ग्रन्थ किसी व्यक्ति विशेष के नाम से प्रसिद्ध न होकर भगवान शिव के नाम स ही प्रसारित किए गये।

पर जिस प्रकार प्रत्येक स्थाया अथवा विचार-प्रवाह में क्रमशः अनधिकारी और स्वार्थी व्यक्तियों का प्रवेश हो जाता है और वे मूल भावना को तोड़-परोड़कर उसे अपनी हचि अथवा दुरुभिसन्वियों वी पूर्ति का साधन बना लेने की चेष्टा करते हैं, वही बात तन्त्र के सम्बन्ध में भी हुई। महापुरुषों ने तो योग और ज्ञान-मार्ग की साधनाओं को सवसाधारण के निए दुर्गम समझकर तन्त्र का अपेक्षाकृत सरल मार्ग प्रादुर्भूत किया, जिससे वे भी अध्यात्म-क्षेत्र में कुछ प्रगति कर सकें

और क्रमशः उच्च स्तरों तक पहुँचने का अवसर पा सके। पर हीन मनोभूमि के ध्यक्तियों ने उसमें मनमानी कल्पनायें और अनोखे विधि-विधान जोड़कर उसे जादू टोना जैसा बना दिया। इतना ही नहीं, भ्रष्ट आचरण वाले व्यक्तियों ने उसे अपनी गर्हित पाश्विक वृत्तियों का साधन बनाने में भी कसर नहीं रखी।

पर जब हम इन पक्षपातपूर्ण मान्यताओं को छोड़कर तात्त्विक मिद्धान्तों पर निष्पक्ष रूप से विचार करते हैं, तो यही प्रतीत होती है कि उसकी प्रतिष्ठापना अन्धविश्वास के बजाए अध्याम-विज्ञान के सुनिश्चित तथ्यों के आधार पर हुई है। आरम्भ में हम देश के बहु-संख्यक विचारकों तथा मनोविदियों ने आत्मोत्थान और मोक्ष के लिए समार-त्याग और कठिन तपश्चर्यायों का प्रतिपादन किया। उस समय देश-कानूनोंमार अधिकाश लोगों को वन्य और अविकसित परिस्थितियों में रहना भी पड़ता था। इसलिए उनको उस मार्ग में विशेष कठिनाई नहीं जान पड़नी थी। ग्रामे चलकर कुछ विशिष्ट सम्प्रदाय वालों ने उस विचार-धारा को और भी बढ़ाया तथा सासार त्याग तथा अधिकाधिक कष्ट-सहनको मोक्ष-मार्ग बतलाया। यह उपदेश मानव-प्रकृतिके अनुकूल न था, इसलिए सामान्य लोगों का ध्यान अध्यात्म और उच्च धार्मिक साधनाओं की तरफ से हटने लगा। होते होते ऐसा समय आ पहुँचा जब गृहत्यागी तपस्वियों और गृहस्थों के बीच में एक गहरी खाई खुद गई और सामान्य जनता अपने को अध्यात्म-मार्ग के लिए सवथा अनुपयुक्त समझने लग गई।

पर भारतीय मनोर्धी जानते थे कि किसी भी देश के निवामियों का अध्यात्म भावनाओं से शून्य हो जाना दुर्भाग्य का ही लक्षण है। ऐसे लोग भौतिकवादी दृष्टिकोण को अपनाने लगते हैं और उनमें से परमार्थ की भावना क्षीण होने लग जाती है। परमार्थ ही त्याग, परोपकार, सेवा, जेमी समाज कल्याणकारी प्रवृत्तियों का जन्मदाता है और उसके बिना मनुष्य निरन्तर स्वार्थसाधन को प्रवानना देता हुआ निम्न मन फी और बढ़ता चला जाना है। इसी दृष्टिकोण से गीता में 'निष्ठाम क्रमयोग' का उपदेश दिया गया था, जिसमें मनुष्य लीकिक

और पार्लीकि दोनों पक्षों को संभाल सके। यह यह मिद्धात ऐसा सूक्ष्म और विचार-प्रवान था कि मावारण विद्या-तुदि का मनुष्य न तो उमे हृदयहृष्ट कर सकता था और न उसे विश्वास होता था कि वह उम मार्ग दर सफलतापूर्वक चलकर नर्वोच्च गति का अधिकारी बन सकता है।

वह हम्ही परिमितियों में तन्त्र-शास्त्र का आविर्भाव हुआ। उमका मुन्ध उद्देश्य यही था कि मनुष्य गृहम्य में रहकर सासारिक नीवन व्यनीत करता हुआ भी न्यूनाविक परिमाण में अव्यात्म-नत्व को प्रदृग्ह कर सके और इस मार्ग पर प्रगति कर सकते में मर्मर्य हो जाय। इन्हिए उमपे उपासना के कठोर अथवा अस्वाभाविक विधानों को त्याग बर ऐसी विवरणों को प्रवर्णन किया गया जो गृहम्य-नीवन के प्रत्यक्ष्म हो और जिनके कारण सामाजिक कार्योंमें किसी प्रकारकी वाचा न पड़ती हो।

वाद में अन्य विद्वानों ने तन्त्र-माध्यना में कुछ चमत्कारी शक्तियों और निदियों के विचारों और विविधों को सम्मिलित किया। सभवत उनका उद्देश्य था कि ऐसा करने ने भासान्य स्तर के व्यक्ति भी इस और आकर्षित होंगे और उनका विश्वास दृढ़ हो सकेगा। इसमें मन्देह नहीं कि मनुष्य की मानसिक शक्ति और एकाग्रता के प्रभाव को देखते हुए वे विवान असभव अथवा अवैज्ञानिक न थे। आज भी हमारे देश में तथा अन्य देशों में कुछ लोग उनकी मचाई परीक्षकों के सामने सिद्ध कर देते हैं। परं जैमा हम जानते हैं कि 'मिद्धियों और चमत्कारों' का मार्ग आगे चलकर प्राय परनोन्मुख बन जाता है। उसी के अनुसार मध्य-नानीन तन्त्र ग्रन्थों में सामान्य मन्त्र-विग्रहों अथवा युक्तियों द्वारा इनी विश्वाल और असुभव सफलताओं की बातें लिख दीं कि सभी समझदार व्यक्तियों का उन पर से विश्वास हट गया।

इस ग्रन्थ में हमने उपर्युक्त तथ्यों का न्यूटोक्रण करते हुए यही बनलाने की चेष्टा की है कि तन्त्र का वास्तविक स्वल्प अन्वविश्वास या गपोड़ों पर आधारित नहीं है, वरन् वह अव्यात्म-विज्ञान की एक ऐसी शाढ़ा है, जिसका अवलम्बन करके सर्वथा सामान्य व्यक्ति भी सासारिक न्तर से ऊपर उठकर क्रमशः उच्च-जीवन में प्रविष्ट हो सकता है।

तन्त्र-विज्ञान [प्रथम खण्ड] की विषय-सूची

१.	तन्त्र की तथाकथित घृणित साधनाएँ व उनकी वास्तविकता का स्पष्टीकरण	६
	स्वाथपर्ता और मिलारट, पशुबलि का कलक, तन्त्र के भेद, वाहरी प्रभाव, सभी दोषी नहीं, अधिकार, प्रतीक, निन्दा, भय प्रदर्शन, दण्ड-विधान, चच्चे उद्देश्य।	
२	तन्त्र की असाधारण महत्ता और उद्देश्य	३०
३	तन्त्र की प्रामाणिकता	४५
४	तन्त्र की प्राचीनता — — —	४८
	शैव-सम्प्रदाय (नैपाल, कम्बोडिया, बाली, लाओस, थाइ- लैण्ड, वर्मा, हिंदू-चीन, बीतनाम, जावा, मणोलिया तिब्बत में शैव-तन्त्र का प्रभाव), शाकत-सम्प्रदाय (चीन, जापान, इरानोनेशिया, तिब्बत में देवी-उपासना), गाणपत्य- सम्प्रदाय।	
५	तन्त्र की गोपनीयता — — —	७४
६.	तन्त्र का अधिकार	८६
७	तन्त्र-साधन में उदार मावना	१०४
८	तन्त्र-साहित्य की विशालता	११३
	बौद्ध-तन्त्र, भैरव-तन्त्र, विष्णुक्राता वर्ग के तन्त्र, रथक्राता वर्ग के तन्त्र, शश्वक्राता वर्ग के तन्त्र, शाकत-साहित्य, शैव- तन्त्र, वैष्णव-तन्त्र।	
९	तन्त्र में योग का स्थान —	१३४
१०	तन्त्र-साधना में गुरु की आवश्यकता	१४२
११	तन्त्र के विभिन्न अथ	१७१
१२	तन्त्र का सिद्धान्त	१८२
	शक्ति-तत्त्व की व्याख्या, शक्तिका वास्तविक रूप, शिव-शक्ति दोनों से सृष्टि-रचना का सम्पादन, व्यवहारिक रूप।	

१३	तात्त्विक भाव	—	—	—	१६३
	वैज्ञानिक पद्धति, सकेत द्वारा, आत्म-कल्पणा, नई सुषिट्ठि-रचना, पशु-भाव, वीर-भाव, दिव्य-भाव ।				
१४	तात्त्रिक आधार	—	—	—	२१०
	वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, समन्वयात्मक पद्धति, छामाचार, मिद्धानाचार, कुलाचार ।				
१५	तात्त्रिक पूजा का रहस्य	—	—	—	२३१
	परिभाषा, प्रकार, ६४ उपचार, १८ उपचार, १६ उपचार १० उपचार, ५ उपचार, पूजा का रहस्य, मानस-पूजन ।				
१६	पञ्चमकार-रहस्य	—	—	—	२४४
	मध्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा, मैथुन की वास्तविकता पर प्रकाश ।				
१७	दीक्षा की अनिवार्यता	—	—	—	२७३
	मानव-विकास मे गुरु की परम आवश्यकता, मनोभूमि का परिष्कार, दीक्षा की आवश्यकता, गुरु-शिष्य की परस्पर परीक्षा, अधिकारी व अनविकारी शिष्य के लक्षण, महिमा, परिभाषा, प्रकार, समय-दीक्षा, पुत्रक-दीक्षा, निवाण-दीक्षा, वेघ-दीक्षा, शिववर्मी और लोकवर्मी-दीक्षा, अन्त-दीक्षा ।				
१८	शक्तिपात की वैज्ञानिक प्रक्रिया	—	—	—	३०४
	परिभाषा, गुरुकृपा, शक्तिपात के लाभ, लक्षण, घटनाएँ, प्रकार, अधिकार, वैज्ञानिक प्रक्रिया ।				
१९	कुण्डलिनी द्वारा शक्ति जागरण और प्रभाव	—	—	—	३२२
२०	नाद-साधना	—	—	—	३३०
	परिभाषा, विराट रूप, लाभ ।				
२१	विन्दु साधना	—	—	—	३४३
	महिमा, परिभाषा और ध्यात्वा, वैज्ञानिक स्पष्टीकरण,				

२२	कला-साधना	---	---	३५६
	प्रकार, पाँच कलाओं द्वारा तात्त्विक मात्रना, पृथ्वी तत्त्व, जल-तत्त्व, अग्नि-तत्त्व, वायु-तत्त्व, आकाश-तत्त्व ।			
२३.	बलिदान का तात्त्विक स्पष्टीकरण			३६७
२४	यन्त्रों का प्रेरणात्मक अव्ययन	---	---	३७८
	अर्थ, महिमा, उद्देश्य, श्रीयन्त्र, यशराज यन्त्र, मुक्तियन्त्र, सर्वतोभद्र यन्त्र, स्मरहर यन्त्र ।			
२५.	वरणों की रेखाकृतियाँ शक्ति के स्रोत हैं	•	•	३६२
	शक्ति का रूप, ध्वनि की विशेषता, रेखाकृतियों का विज्ञान, स्वरूप ।			
२६.	मातृकाओं की बोलिक व्याख्या	---	•	४२४
	महिमा, परिभाषा, स्वरूप ।			
२७	मन्त्रों की वैज्ञानिक रूपरेखा	---	•	४४०
	परिभाषा, मन्त्रों द्वारा प्राण विजय, विभिन्न शक्तियों का विकास, इतिहास की साक्षी, एक विद्युपी द्वारा मन्त्रशक्ति के चमत्कार, मन्त्रशक्ति का वैज्ञानिक रहस्य, मन्त्र का आविर्भाव, शब्द-शक्ति का चमत्कार, ध्वनि तरणों में परीक्षण, स्वर-लहरों की अद्भुत प्रक्रिया, योगिक ग्रथियों का जागरण, मन्त्र-सिद्धि में सफलता के साधन ।			
२८	बीजाक्षरों की महान शक्तियाँ	---		४६०
२९	जप-विज्ञान
	महत्व, लाभ, अर्थ, प्रकार, नित्य-जप, नैमित्तिक-जप, काम्य-जप, निषिद्ध-जप, प्रायश्चित-जप, अचल-जप, चल- जप, वाचिक-जप, उपाधु-जप, ऋमर-जप, मानसिक-जप, ध्वराठ-जप, अजपा-जप, प्रदक्षिणा-जप, जप की सहयोगी प्रक्रियाएँ, शब्द, साधना का महत्व, वैज्ञानिक प्रक्रिया ।			
३०.	षट्कर्म साधना
				४६१

शास्त्रार्थ श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, जयपुर

तंत्र की तथा कृष्णित पूर्णिमा साधनाएँ व उनकी वास्तविकता का स्पष्टीकरण॥

तन्त्र-शास्त्र भारत की एह प्राचीन और गूढ़ विद्या है। विद्वानों का मत है कि यह शारीर कर्तव्यों का पालन करते हुए आन्तरिक क्षेत्र में प्रगति कर सकने का एक उत्तम माध्यम माना गया था। परन्तु थोड़े ही समय पश्चात् लोग इस शक्ति का दुरुप्रयोग करने लग गये, जिसके परणाम स्वरूप यह विविव बदनाम हो गई। आजकल तान्त्रिक-योग के दो नाम 'कौल' तथा 'वाम-मार्ग' सुनने में आते हैं और सर्व साधारण में इनके मध्य-बमे यही विश्वाम फैला हुआ है कि इनका मन्तव्य मास मदिरा, मैथुन ग्रादि के उभयोग में लिङ् रहकर पतिन जीवन विताना है। इन लोगों की कामुकतापूर्ण क्रियाओं में किन्तु ही सचेत्कृदे किससे भी सुनने में आते हैं ।

भारतीय और विदेशी दोनों प्रकार के विद्वानों ने तन्त्र और विशेष प्रकार से शक्ति धर्म की आलोचना की है कि वह अनाचार और अभिचार के सम्बन्ध में गए हैं और काम-शास्त्र की शिक्षा के अतिरिक्त इनमें कुछ नहीं है। उन्होंने यह भी इच्छा व्यक्त की, कि जनमाधारण को कुमारं की ओर प्रवृत्त करने वाले इस साहित्य का लोप होना ही जनहित में है। विद्वान् इसके अध्ययन से दूर रहे, जनता का भी इवर ध्यान कम गया। परिणाम स्वरूप इनका धीरे-धीरे लोप होता गया ।

जनमाधारण में इसके व्यापक प्रचार के न होने का एक कारण यह भी था कि तन्त्रों के कुछ अश समझने में इतने कठिन और गहन थे कि योग्य गुरु के बिना समझे नहीं जा सकते थे। अत जनता का उनके प्रति अन्वकार में रहना स्वाभाविक ही था। तन्त्र-ज्ञान का अभाव ही भ्रम और शकाओं का कारण बना। यदि तन्त्रों का श्रद्धापूर्ण और सम्पूर्ण अध्ययन किया जाता तो ऐसी धारणाएँ शायद न बन पाती। इस प्रकार इस शास्त्र की कैसी दुगति हुई इस सम्बन्ध में एक अंगरेज विद्वान् हवट वी गैर्थर ने अपनी पुस्तक 'युग नाथा' में लिखा है—

"There is hardly any other kind of literature that has met with so much abuse, particularly by those who never read or seriously studied a single line of it, or that has so much fascinated those who on the testimony of misinformed and uninformed people thought the Tantras to be most powerful and hence strictly guarded means for the gratification of purely biological urges. Only very few people tried to form an opinion of the Tantras by their own."

"सार में शायद ही ऐसा कोई अन्य साहित्य होगा जिसकी इतनी अधिक निन्दा की गई हो, और वह भी ऐसे लोगों द्वारा जिन्होंने न तो उसकी एक भी पवित्र पढ़ी हो या उस पर गम्भीरतापूर्वक मनन किया हो। एक दूसरी श्रेणी उन लोगों की भी है, जो कुछ अनजान अथवा आमक ज्ञान के आधार पर बातें करने वाले लोगों की सम्मतियों पर विश्वास करके, तन्त्र-शास्त्र के अनुरागी बन जाते हैं और उसको काम-वासना की पूति का एक बड़ा शक्तिशाली उपाय भानने लगते हैं। वे समझते हैं कि इसी कारण इस शास्त्र की बातों को इतना अधिक

गोपनीय रखा जाता है । बहुत ही थोड़े लोग ऐसे हैं जिन्होंने तत्रो के सम्बन्ध में स्वयं विचार करके इस विप्र में निर्णय किया हो ।”

आगे चलकर लेखक ने कहा है कि “ तत्र उन निर्वल विचार के व्यक्तियों के लिये भी निरर्थक है जो अपनी ‘शुद्धा’ के लिये ही सदैव चिन्तित रहते हैं, परं जिनमें यह समझ नहीं होनी कि वास्तविक जीवन कुछ और चीज़ है और काल्पनिक तथा परस्पर विरोधी सिद्धान्तों से उसमें काम न की चन मरुता और न तत्र उन लागों के लिये किसी प्रकार उपयोगी हो सकता है जो जिन्दगी को एक लज्जा और कुत्सा का विषय मानते हैं वास्तव में तत्र का आशय समझने के लिये न तो उसे निन्दनीय मान लेना ठीक है और न उसकी प्रशंसा में श्रतिशयोक्ति पूर्ण और काल्पनिक बातें करना । इन्हीं के कारण सर्व साधारण में इस विषय में गलत फहमी और अश्रद्धा की भावना उत्पन्न होती है । ”

अत मे लेखक ने तत्र के सच्चे स्वरूप पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से लिखा है —

“The fact is that the Tantras contain a very sound and healthy view of life. But just as it is impossible to understand the function of the kidney, for instance, without regarding its place in the whole of the living organism, so also the Tantras can not be understood without taking into account the rich display of human life. Thus, the Tantras are not at all speculative, but pre-eminently practical and up to the actual problems of life.”

“ वास्तविक तथ्य यह है कि तत्रो में जीवन सम्बन्धी बड़े गम्भीर और स्वस्थ विचारों का समावेश है । परं जिस प्रकार हम अपने शरीर में स्थित गुरुदेव की उपयोगिता को तब तक नहीं समझ सकते जब

तक कि जीवित शरीर की सचालन क्रिया में अन्य भागों के साथ उसके मम्बन्ध को न जान लें, उसी प्रकार समस्त मानव-जीवन की महत्वपूर्ण क्रियाओं पर विचार किये विना हम तत्र की वास्तविकता को नहीं समझ सकते। इस प्रकार तत्र काल्पनिक बातें नहीं हैं वरन् पूर्ण व्यवहारिक और जीवन की समस्याओं पर यथाथता वा दिग्दर्शन कराने वाले हैं।”

स्वार्थपरता और मिलावट

तत्र साहित्य तो नि सन्देह रूप में उत्कृष्ट है ही परन्तु ऐसा लगता है कि कुछ स्वार्थी साधकों ने अपने स्वार्थ के लिए इसमें कुछ दीभास साधनाओं का समावेश विद्या जिससे जन साधारण में उनके प्रति घृणा के बीज अकुरित होने लगे। अपने विचारों के समर्थन में ऐसे साहित्य का भी विवास विद्या गया, प्राचीन साहित्य में मिलावट की गई है ऐसे दलोंके रच डाले गए जो उनकी अप्ट साधनाओं का समर्थन करते थे। ‘कुलार्णव तत्र’ में इन तथ्यों को स्वीकार किया गया है—

बहु बौलिक धम मिथ्याज्ञान विडम्बका ।

स्वबुद्ध्य कल्पयन्तीत्थ पारम्पर्यविवर्जिता ॥

“ पारम्परिक ज्ञान से शून्य और मिथ्या ज्ञान का ढोग रचने वालों ने कौल धर्म में अपनी बुद्धि की कल्पनाएँ भी प्रविष्ट कर दी हैं : ”

अद्यत्वेऽपि हि दृश्यन्ते के चिदागमिकच्छलात् ।

अनागमिकमेवार्थ व्याचक्षणा विचक्षणा ॥

‘यमुनाचार्य का आगम प्रमाणय काशी सस्करण’ (पृष्ठ-४)

“ आजकल भी कुछ लोग शास्त्रज्ञ होने का ढोग कर कुशलता पूर्वं क शारन्त्रदिपरीत श्रथ करते दिखाई देते हैं। ”

प० कहैयालाल मिश्र ने ‘योगिनी तत्र’ की भूमिका में लिखा है—

“बहुत से धूतों ने इधर उधर का कूडा कर्कट एकत्र करके जाली तत्र भी प्रकाशित किए। यही कारण है कि आज अनेक जाली तत्र प्रचलित दिखाई देते हैं। ”

ऐसे साहित्य के तत्र में प्रवेश होने पर कुछ ऐसे प्रयोग और विधि-विवान उपलब्ध होते हैं जो नैतिक दृष्टि से त्याज्य और निन्दनीय हैं। पच-मकारों से उनका सबंध तो है तो। इनमें भी अधिक निपिद्ध वस्तुओं का उनमें उल्लेख है। छ प्रकार के सबको हानिकारक और नृशस अभिचार प्रयोग का कौन ममधन कर सकता है? शब्द के प्रयोग को कौन उचित ठहरा सकता है? स्त्री-पुरुष के रज-बीर्य के प्रयोगों को कौन नैतिकता की सीमा में बाँध सकता है?

सौन्दर्यलहरी के प्रसिद्ध टीवाकार लक्ष्मीघरने श्लोक ४१ के 'तवा धारे मूले सत् सदायथा लास्यपरया' की टीका में लिखा है कि कौलों के दो मत होते हैं— पूर्व बौल और दक्ष बौल। पूर्व बौल में 'श्री चक्र' में स्थित योनि की पूजा का विधान है परन्तु दक्षर बौल सुन्दर युवती की प्रत्यक्ष योनि की पूजा करते हैं तथा पच मकारों का प्रतीक रूप में न करके प्रत्यक्ष रूप में उपयोग करते हैं। उवर कौलों के इसी वामाचार से जनता में तान्त्रिक विवानों के प्रति विक्षोभ की भावनाएँ उद्दीप्त हुईं। उच्चिष्ठ गणपति के उपासक वाममार्ग पर चलने वाले हैं। इनके आचार-विचार भी दक्षर बौलों की तरह में जन पढ़ते हैं। वे गणपति की अश्लील रूप से ही उपासना करते हैं। मंदिरा और मंदिराक्षी उनके पूजा विधान में दिशेप रूप से सम्मिलित हैं। बोद्ध धर्म की दक्षयान शाखा में भी ध्यभिचार ने प्रवेश किया। इस सम्प्रदाय में मन्दिर में होने वाली दीक्षा में अन्य वस्तुओं के साथ मंदिर की सुगन्ध का भी विधान था। तत्र की दीक्षा प्राप्त के बनने के लिए शिष्य को मुद्रा का प्रयोग करना पड़ता था।

यहाँ पर मुद्रा का अभिप्राय नवयुवती से लिया जाता था। इनके यहाँ तप की उपेक्षा है, विषय भोगों के प्रति रुचि रखने की ओर सकेत है।

तनुतरुचिताकुरको विषयरसेयर्दि न सिध्यते शुद्धे ।
गगनब्यापी फलद कल्पतरुत्व कथ लभते ॥

“ यदि शुद्ध विषय रसो स शरीर रूपो वृन्द चो न सीचा जाए तो आकाश मे विस्तीर्णा, फन देने वाले कल्पनह के गुण का कैम पाया जा सकता है । ”

इस सम्बन्ध मे श्री हनुमानप्रसाद रोद्धार, मध्यादक फल्याणु’ गोरखपुर ने लिखा है—

“यद्यपि तन्त्रशास्त्र समस्त श्रेष्ठ साधन-शास्त्रो म एक बहुन उत्तम शास्त्र है, उसमे अविकाश वाते सर्वथा अभिनन्दनीय और मात्रक को परमसिद्धि-मोक्ष प्रदान कराने वाली हैं, तथापि मुन्दर बगीचे मे भी जिस प्रकार असावधानी से कुछ जहरीले पौधे उत्पन्न हो जाया करते और फूलने-फलने भी लगते हैं, उसी प्रकार तन्त्र मे भी बहुतसी अवाछनीय गन्दगी आ गयी है । यह विषयी, कामान्व मनुष्यो और मासाहारी मद्यलोकुप अनाचारियो को ही काली करतून मालूम होती है, नहीं तो श्री शिव और ऋषि प्रणीउ मोक्ष प्रदायक पावन तन्त्रशास्त्र मे ऐसी वाते कहाँ से और क्यो आतीं ? जिस जास्त्र मे अमुक-अमुक जाति की स्त्रियो का नाम ले लेकर व्यभिचार की आज्ञा दी गयी हो और उसे धम तथा साधन बताया गया हो, जिस शास्त्र मे पूजा की पद्धति मे बहुत ही गन्दी वस्तुएँ पूजा सामिग्री के रूप मे आवश्यक बतायी गई हो, जिस शास्त्र के मानन वाले साधक, हजार स्त्रियो के साथ व्यभिचार को, अषूत्तरशत नर बालको की बलि को, अनुष्टान की सिद्धि मे कारण मानते हो, वह शास्त्र द्वो सर्वत्र अशास्त्र और शास्त्र के नाम को ऊलित करने वाला ही है । व्यभिचार की आज्ञा देने वाले त त्रो के श्रवत्सण ‘शिव’ ने पढे हैं और तन्त्र के नाम पर व्यभिचार और नरबलि करने वाले मनुष्यो की घृणित गाथाएँ विश्वस्त सूत्र से सुनी हैं । ऐसे महान तामसिक कार्यों को शास्त्र सम्मत मानकर भलाई की इच्छा से इन्हे करना सर्वथा भ्रम है, भारी भूल है और ऐसी भूल मे कोई पढे हुए हो तो उन्हें तुरन्त ही इससे निकल जाना चाहिये । ”

धर्म और अर्थ की आड मे कुछ भ्रष्ट तान्त्रिको ने मारण, मोहन

उच्चाटन, स्वस्य व्यक्ति को गेही बनाना, शत्रु पक्ष की खड़ी लहलहाती फसल को नष्ट कर देना ही वार्मिफ कृत्य, भौतिक उन्नति व साधन की सफलता मान रखा है। यह मध्या तान्त्रिक दर्शन और विचारधारा के विपरीत हैं। कुछ तत्रों में जादू के चमत्कारों का वरणन किया गया है। इन्हें ही वह तत्त्वों का प्रतिपाद्य विषय मानते हैं। यह तो तन्त्र विद्या का उपहास है। यदि यहाँ तत्र का मुख्य विषय होता तो प्राचीन ऋषि इस और कभी प्रवृत्त न होते और विद्वान् इतने विशाल साहित्य के निर्माण की ओर ध्यान न देते। तत्र का उद्देश्य जादू के चमत्कार दिखाकर जन माधारणा को आकर्षित करना ही नहीं है। एक विद्वान् के अनुभार तत्रों के दार्शनिक विचार उतने ही उद्दात्त तथा प्राठाजल हैं जितने पट्ट दशनों के। उनकी साधन पद्धति उतनी ही पवित्र तथा उपादेय है जितनी वेदों की।”

पशुबलि का कलक

अन्य दोषों के साथ हिंसा ने भी तान्त्रिक उपासना में प्रवेश किया। देवी के नाम पर हजारों पशुओं की हत्या की जाने लगी। मध्य युग में यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ी कि पशुओं के अतिरिक्त मनुष्यों तक की वलि दी जाने लगी। अब नरबलि की प्रथा तो नहीं है परन्तु पशुबलि अब भी वश-तत्र होती है। यह वैदिक योगिक और तान्त्रिक सभी शास्त्रों की नीति के विरुद्ध है। इस पर विस्तृत रूप से विचार करना होगा।

हिन्दू धर्म का मूलभूत तत्त्वज्ञान इतना महान है कि उसके प्रत्येक सिद्धान्त एवं विद्वान् में विश्व-कल्याण की, मानवता के चरम उत्थान की सभावनाएँ ही मन्त्रित हैं। देवताओं और ऋषियों ने इस महान धर्म का ढाँचा इतने उच्च कोटि के आदर्शों द्वारा विनिर्मित किया है कि उसके व्यवहार का परिणाम स्वर्गीय बातावरण का निर्माण ही हो सकता है। परन्तु दुख की बात है कि पिछले अज्ञानावधार युग से उसमें जहाँ तहाँ अनैतिक और भ्रहितकर मान्यताओं और रुद्धियों का भी समावेश होने लगा है और आज जो रूप हिन्दू धर्म का हमारे सामने

उसमे कई चीजे बहुत खटकने वाली ही नहीं, उन भावनाओं के सर्वथा प्रतिकूल भी हैं जिनको लेकर ऋषियोंने इस महान् प्रमक्षी रचना की थी।

ऐसी विकृतियों से पशुबलि को सर्वोरिकलना गया रहा जा सकता है। मूक पशु-पक्षियों का देवी-देवताओं के नाम पर बत्तल किया जाना उन देवताओं की महिमा को समाप्त करके मार सभ्य समाज के सामने उन्हें घृणित, निदित, नीच, क्रूर एवं हत्यारा मिछ रखता है। जिस देवता को प्रसन्न करने के लिए बनि चढाई जाती है, वस्तुतः उन्हें असीम कष्ट और लज्जा इस कुछृत्य से होती है क्योंकि देवता शब्द ही दिव्य तत्व, दया, करुणा, दान, उदारता, सेवा, सहायता आदि नत्यवृत्तियों का द्योतक है, जिसमे यह गुण न हो—उलटे उन्हें मुन्ने वेवम् और वेकसी प्राणियों का खून पीने की इच्छा हो, उन्हें दवता कौन कहेगा? वे तो असुर एवं पिशाच ही गिने जायेंगे। देवनाथों के महान् गोरव को नष्ट कर उन्हें दुनिया के सभ्य समाज के सभ्युव इन वुरे रूप में उपस्थित करना वस्तुतः उनके साथ दुश्मनी करना है। उन्हें कल्कित करने का प्रयत्न करने वाले के प्रति वे प्रमन होंगे, इस नी आशा कदापि नहीं की जा सकती। परिणाम स्वरूप जो लोग पशुबलि करने हैं, उनके उलटे रोग, शोक, अज्ञान आदि क्लेश, कलह, दुष्टता, दुबुद्धि आदि अनेक दुखों की ही वृद्धि होती है। पशुबलि करने वाले लोग म से फनते-फूनते कोई विरला ही देखा जाना है अन्यथा उ हे निर्दोष जीवों की हत्या तथा देवता को कल्कित करके उनके क्रोध एवं शाप के फलस्वरूप नाना प्रकार के कष्ट ही मिलते हैं।

पशुबलि प्रथा से देवताओं का भागी अपयश होता है, हत्या का नृशस पाप लगता है और बलि करने वालों को पाप का निश्चित परिणाम भुगतने के लिए इस लोक मे नाना प्रकार के दुखों एवं परलोक मे नारकीय यत्रणाओं का भागी बनना पड़ता है। यह कुप्रथा निश्चित रूप से

हा॒ उसमे॒ इम प्रकार के कुछ्यों को किमी भी प्रकार धर्मनुकूल नहीं कहा जा सकता ।

धर्म के नाम पर अधार्मिक छृत्यों का प्रचलन प्रत्येक धर्म प्रेमी को एक मार्मिक पीछा पहुँचाने वाली बात है । कोई खाने की वृष्टि से मास खावे तो उसकी व्यक्तिगत स्वाथपरता ही माना जायगा, इससे सारा समाज या सारा घर कलकित नहीं होना पर पशुबलि मरीखे छृत्यों से तो हमारे अर्हिसा, सत्य, प्रेम और दयामूलक धर्म की मूल मान्यताओं पर ही कुठाराधात होता है, इसे देखकर सच्चे धर्म प्रेमी यदि चिन्तित, खिन्न और विट्ठल हो तो यह सर्वथा उचित ही है ।

अनेक देव मदिरों मे॒ पशुबलि होते देखकर ऐसे किसी भी विचार-शील व्यक्ति के मन पर भारी आघात लगता है, जिसने हिन्दू धर्म के महान् स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया हो । हिन्दू धर्म दया, प्रेम, आत्मत्व, मानवता और प्राणिमात्र के प्रति स्नेह सदृश्यवहार सिखाने वाला धर्म है । इसके सभी देवता दयातु सहृदय, उदार, करुणा और सहायता करने वाले हैं । फिर वे पशु-पक्षियों का खून पीकर प्रसन्न हो, यह कैसे समझ है? धर्म शास्त्रों को जितना ही गम्भीर वृष्टि से देखा जाय, उतना ही यह निश्चय होता जाता है कि हमारा धार्मिक तत्व ज्ञान और आदर्श कभी भी इस बात से सहमत नहीं हो सकता है कि कोई देवता पशु-पक्षियों का मांस खाने या खून, पीने की आकांक्षा करता हो या इस कार्य मे॒ उसे कुछ्य प्रसन्नता हो सकती है ।

बहुधा देवी काली के मदिरों मे॒ भैरव आदि के मठों मे॒ एवम् ग्राम देवता के चबूतरो पर बकरे भेसों की, मुर्गे कबूतरों की बलि चढाई जाती है । काली के तो अनेक मदिर अभी भा॒ एसे हैं जहाँ हर साल महस्तो पशु-पक्षियों का गला काट डाला जाता है । बगाल, राजस्थान और हिमालय की पहाड़ी प्रदेश इस कार्य में अग्रणी हैं । यो तो आये दिन यह हत्या-कर्म होते ही रहते हैं पर नव रात्रि के दिनों मे॒ तो नृशसता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है । कई बडे-बडे मन्दिरों मे॒ उन-

दिनों जो वूचड़ खाने जैसा घृणित दृश्य उपर्युक्त होता है, उसे देखकर किसी भी सहृदय और धार्मिक मानवा वाले व्यक्ति की अन्तरात्मा काँप उठनी है। उस दृश्य को देखकर कोई विचारवान् व्यक्ति यह स्वीकार नहीं कर सकता है कि यहाँ कोई देव मन्दिर है अथवा यहाँ कोई धर्म कार्य किया जा रहा है।

हमारे धर्म ग्रन्थों में इस कुकर्म का कही समर्थन नहीं है, कही-कही अलकानिक रूप में ऐसा वर्णन अवश्य मिलता है कि अपने आंतरिक दोष दुर्गणों को पशु मानकर उनका परियाग, बलिदान देव-सान्निध्य में किया जाय। लगता है कि स्वार्थी लोगों ने उस साहित्यिक पहेली की अलझ्वारिक भाषा को तोड़ मरोड़ कर अपनी जिह्वा-लोलुपता की पूर्ति का साधन बनाया है। मांसाहार मद्यपान और व्यभिचार यह तीन पाप हमारे यहाँ बहुत बड़े माने गये हैं। लोग अपनी आसुरी वृत्तियों से प्रेरित होकर इन्हें करते हैं और अन्तरात्मा भी घिक्कारती है। इन दोनों ही विरोधों से बचने के लिए मांसाहार को पशुबलि के बहाने उचित ठहराने का किन्हीं ने निन्दनीय प्रयास किया होगा। खेद है कि उन्हे सफलता भी मिली और पिछले दिनों वह पाप प्रचड़ रूप से पल्लवित हुआ। इस विचारशीलता के युग में वह घटाया तो जो रहा है पर मिट्टा भव भी नहीं है।

साधारणत भोले-भाले अज्ञानग्रस्त लोग ऐसा सोचते हैं कि कानी माई हमारे द्वारा पशु-पक्षियों का माँस खिलावे से प्रसन्न होगी और हमारी मनोकामनाएँ पूरी करेंगी। बाल बच्चे-पैदा नहीं होते होगे तो बच्चे पैदा कर देगी, मुकदमा जिता देगी धन देगी, शश्रुमो पर विजय प्राप्त करावेगी, हमारे हर कायों में सफलता देगी। वे एक रिश्वत के रूप में देवी को मद्य, माँस खिला-पिला कर प्रसन्न करना चाहते हैं, उससे मनमाने वरदान प्राप्त करना चाहते हैं, प्रह मान्यता सर्वथा असम्भव एवं अमर्पूर्ण है। वास्तव में बात बिलकुल उल्टी है। जो कुकर्म से हत्या जैसे महान् पाप से प्रसन्न हो वह देवता ही नहीं माने जा सकते देवता

लोग कुकर्म करने वाले से रुष्ट रहते हैं और उसे कोई वरदान देना, लाभ पहुँचाना तो दूर उलटे हानि एवं दड की व्यवस्था करते हैं।

देवी भगवान की दिव्य शक्ति का नाम है। यो दीनद्यालु, दयानिधान, करणार्मिव भगवान अपने पुत्रों को, मपार के भभी प्राणियों को अपार प्रेम करते हैं पर माता भगवती की करणा एवं वात्सल्यता का तो कहना ही क्या है? माता का हृदय पिता की अरेषा अनेक गुना अधिक करणापूर्ण होता है। जब मनुष्य योनि की साधारण स्त्रियां अपने बच्चों को प्राण के समान प्यार करती हैं, उन्हें तनिक-मा कष्ट होने पर व्याकुन हो जाती हैं, तो फिर उम दिव्य माता का तो ठिकाना ही, क्या है जिसके अत करण में निरतर स्नेह और वात्सल्य की धारा बहती रहती है। वे मनुष्यों की ही नहीं पशु पक्षियों की भी माता हैं।

उसी जगदम्बा माता भवानी के पवित्र नाम पर जब पशुबलि होती है तो देवत्व की आत्मा काँपने लगती है। वेचारे निरीह वकरे भैमे माता के आगे निदयनारूर्वक रूत्न किये जाते हैं और उनका रक्त-मांस माता को खाने के लिये उगमित रिया जाता है, यह कितना नृशस-कार्य है। इससे स्वर्ग लोकनिवासनी की तो क्या इस लोक मृत्युलोक की साधारण नारी की भी अतरात्मा चीत्कार करने लगेगी। यदि कोई दुष्ट मनुष्व किसी माता की गोदी से उसका बच्चा छीन कर उसकी आँखों के ही सामने कल्प करे और फिर उमके कनेजे के टुकडे खून माम उस माता के मुँह में ढूँके तो उसे कितनी मार्मिक व्यथा होगी इसकी कल्पना कोई बाल बच्चेदार सहदय व्यक्ति ही कर सकते हैं। जिस दुष्ट व्यक्ति ने नृशस काय किया है, क्या उसमें वह माता कभी प्रमन्त होगी? क्या उसे कोई उपहार का वरदान देगी? निश्चय ही ऐसा नहीं हो सकता। वह कुकर्मी को शाप और दड देने की बात ही सोच सकती है।

तंत्र के भेद

तत्रों के दो भेद माने जाते हैं—वैदिक और अवैदिक, वेदानु-कूल और वेद आहृष्य, प्रमाणिक अथवा अप्रमाणिक। कुल्लक भट्ट ने कहा है—
Hinduism Discord Server <https://dsc.gg/dharma> | MADE

“ श्रुतिश्च द्विविधा -वैदिवो तात्त्विकी च ”

अर्थात् श्रुति के भी दो भेद होते हैं— एक वैदिकी श्रुति है दूसरी तात्त्विकी श्रुति होती है।

इसमें उन्होंने वेदों के अनुकूल सिद्धातों का प्रतिपादन करने वाले तत्त्वों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है और उन्हे वेद के अनुकूल स्वीकार किया है। पञ्चवर्गत्र और वैखानस जैसे तत्र और पशुपति, शैव सिद्धात आदि जैसे शौक्वतत्र वेद के अनुकूल माने जाते हैं, फिर भी इनमें कुछ अवैदिक विचार होने के कारण अवैदिक कहा जाता है। शावत तत्त्वों पर तो विशेष प्रकार से अवैदिक होने के आक्षेप लगाए जाते हैं। क्योंकि सात प्रकार के आचारों में से एक वामाचार ही ऐपा है जो उन्हे अवैदिक ठहराता है। वैसे शाक्त तत्त्वों के गम्भीर अध्ययन के पश्चात प्रतीत होता है कि उसमें बहुत से वेदानुकूल तत्र उपलब्ध हैं, परन्तु भ्रष्ट-आचार का निर्देशन करने वाले तत्त्वों की भी कमी नहीं है।

शाक्त मत में दो प्रकार के आचार होते हैं—

१-कौलिक और सामयी। कौलिक पञ्च-मकारों का प्रत्यक्ष प्रयोग करते हैं, परन्तु समयी उनके प्रतीकों की उपासना करते हैं और प्रत्यक्ष आराधना को शास्त्र विशद्ध मानते हैं।

बाहरी प्रभाव

जब वेदानुकूल तत्त्वों का बाहुल्य है तो इस अवैदिक और घृणित उपासना पद्धति का प्रचलन कैसे हो गया, इसके कारणों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि तत्र शास्त्र पर विदेशी अनार्य साहित्य का कुप्रभाव ही पड़ा है। कौल सम्प्रदायिक प्रतिष्ठित शक्ति पीठ कामाख्या(आसाम) में स्थित है और वही से इसका प्रचार प्रसार हुआ है। भारत का यह पूर्वी प्रात तिव्वत की सीमाओं से लगा हुआ है। इतिहास से इसकी पुष्टि होती है कि तिव्वत में ‘बोने’ नाम का एक सम्प्रदाय था जो कोलों की तरह पञ्चमकारों के प्रत्यक्ष प्रयोग में विश्वास करता था। दशम शताब्दी के लगभग उनकी इस उपासना पद्धति का प्रचार बगाज और

आमाम के भीमात प्रानों मे हुआ । रुद्रयामल तत्र मे यहाँ तक लिखा हुआ मिलता है कि यश्चपि वर्णिष्ठ महाचीन (भोट देश-तिव्वत) गये थे और वहाँ से इस उपासना पद्धनि की शिक्षा प्राप्त करके उन्होंने भारत मे इसका प्रचार किया । विष्णुयामल (१-२ पटल) गान्धर्व तत्र, रुद्रयामल (१७ पटल) तारा तत्र (१-२), से इस तथ्य की पुष्टि होती है परन्तु ऐसा लगता है कि एक उच्चकोटि के प्रसिद्ध ऋषि का सहारा लेकर अपने मत का समर्थन करने का दृष्टिगत्तन किया गया है ।

सभी दोषी नहीं

कौल सम्प्रदाय के वामाचार के द्वारा सारे तत्रों और व अन्य तात्रिक सम्प्रदायों को दोषी नहीं ठहराया जा सकता । दोष हर जाति और सम्प्रदाय मे पनप नहीं हैं और पनपे हैं । किन्हीं गिने-चुने व्यक्तियों के दोषी होने के कारण सारे सम्प्रदायों और विशेषकर के उनके साहित्य पर आधेप करना उचित नहीं है । दोषी व्यक्तियों का सुधार किया जा सकता है । यदि किसी कारण इन सिद्धातों मे स्वार्थी व्यक्तियों ने मिलावट कर दी है, तो उनका परिष्कार भी किया जा सकता है ।

शाकत-मत मे ही कीलों की इस पचमकारों की प्रत्यक्ष प्रयोग विधि मे दूर रहने के कडे श्राद्धेश दिए गए हैं । अनेकों तत्रों मे कौल उपासना और कौल सिद्धातों की आलोचना की गई है । उन तत्रों मे जीवन निर्माण के उत्तम सिद्धातों का प्रतिपादन किया गया है जो समार्ग की ओर अग्रसर करते हैं । परानन्द सम्प्रदाय मे पशुवलि को त्याज्य माना गया है—

परानन्दस्याष्ट विधिर्हिस नाभावान्मध्यम पारानन्दो वर्जयेत ।

—परानन्द सूत्र (गायकवाड ओरियटल सिरीज) पृष्ठ १३

अर्थात् “परानन्द का अष्ट विधि हिसनाभावानपरानन्द मध्यम को वर्जित कर देता है ।”

इसके अतिरिक्त समय सप्रदाय के सिद्धान्त भी आदर्शवादिता की ओर बें जाते हैं । उनके साहिस्य में मानवता का प्रतिपादन किया गया है ।

अधिकार

अधिकार भी सात्त्विक, राजनीतिक और तामसिक तीन प्रकार के होते हैं। तामसिक साधक ही वामाचार का अधिकारी है। कतिपय विद्वानों ने इसे तत्र की विशेषता ही बताया है। श्री स्वामी दयानन्द ने अपनी पुस्तक 'सत्याधप्रकाश' में लिखा है "कलिगन के प्रभाव से जिन साधकों की वासना निम्न श्रेणी की ओर मद है व जो मात्र योगलोलुप्त हैं, उनके ग्रथ उच्च प्रकार का आचार और उच्च प्रकार का लुद्र सिद्धिर्याँ उनको लोभ दिखाकर उपासना योग में अग्रसर करने के लिए सवदा हितकारी हैं, फलत निरपेक्ष विचारधारा द्वारा यह निरण्य हुआ कि तत्र-शास्त्र में सर्वलोक हितकर अनेक उपयोगी और आध्यात्मिक उन्नतिकारी विषयों के साथ यदि ऐसे निम्न कोटि के विषय भी हैं तो उससे कुछ दूषण नहीं है, प्रत्युत उनके द्वारा तत्र शास्त्रों की सर्वजीव हितकारिता और पूरणत सिद्ध होती है।"

फिर भी इसके अधिकार को सीमित रखा गया है। कौन सम्प्रदाय में भी हर किसी को इसकी आज्ञा नहीं दी गई है। पूर्वकौल भी प्रत्यक्ष उपासना न करके प्रतीक उपासना ही करते हैं।

श्री चक्रस्थितनवयोनिमध्यगता योनि भूजंहेम वस्त्रपीठादो लिखता पूर्वकौला पूजयन्ति। तस्या प्रत्यक्षयोनिमुत्तरकौला पूजयन्ति।

(आनन्द लहरी की लक्ष्मीघर टीका पृष्ठ १३)

ग्रथति "श्री चक्र मे स्थित नवीन योनि के मध्य मे रहने वाली योनि को भूजं-हेम-वस्त्र और पीठ आदि मे लिखित को पूर्व कौल पूजते हैं। तस्या स्त्री की प्रत्यक्ष योनि की उत्तर कौल पूजा करते हैं।

उच्चकोटि के साधकों और कौलों के प्रनिरक्त अन्य उपासकों के लिए तो प्रनीक पूजा के स्पष्ट सकेत हैं।

क्षत्रियों के मद पान के अधिकार को सीमित रखा गया है। वह Hinduism Discord Server <https://dsc.gg/dharma> | MADE

इसका स्वयं प्रयोग नहीं कर सकते। देवता को समर्पित करने का उन्हें अधिकार है।

तने धर्मियदीना मुख्यस्य दानेऽधिकार , नपाने ।

अर्थात्—इससे धर्मिय आदि को मुख्य के दान करने का अधिकार है, पान में नहीं है।

किंतु विद्वानों का यह मत है कि पत्र-मकारों की प्रत्यक्ष प्रयोग विधि उन्हीं साधकों के लिये विदित है जो आत्म-विकास की उच्च स्थिति तक पहुँच चुके हैं जिनका सयम कड़ी परीक्षा में भी असर्यत नहीं हो सकता, जिनका मन इतना पवित्र और सुदृढ़ हो गया हो कि छुद्र प्रवृत्तियों का उन पर कुछ भी प्रभाव न पड़ता हो। कौल-शास्त्रों में भी ऐसे अधिकारी का वर्णन है। एक हास्टि से साधकों की यह परीक्षा होती है। जो सावक पथ की उच्च सीढियों को पार करते हुए आगे बढ़ रहे हैं, उनकी व्यावहारिक परीक्षा भी आवश्यक होती है। कौलों के अनुसार जब वह इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते हैं तो उन्हे बीर की पदवी दी जाती है। सच्चे कौल के लक्षणों में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है कि इन घृणित वस्तुओं के प्रयोग करने पर भी विकार रहित रहे।

अहो पीत महदद्रव्यं मोहयेन्त्रिदशानपि ।

तन्मद्य कौलिकं पीत्वा विकार नारनुयात्तु य ।

मद्ध्यान्तकपरो भूयात् स भक्तं स च कौलिकं ॥

—परानन्दमत (गायकवाड श्रीरियन्टल सिर्जन, पृष्ठ १६)

अर्थात् इसीलिये पीया हुआ महान् द्रव्य देवों को भी मोहित कर देता है अर्थात् उन्हे भी मोह पैदा हो जाता है। उस मद्य को कौलिक पीकर जो विकारों को प्राप्त नहीं होता है और मेरे ज्यान में ही वरम परायण रहता है, वही भक्त है और कौलिक है।

प्रतीक

तन्त्रों में प्रतीक रूप में भी त्याज्य वस्तुओं के प्रयोग का आदेश है। यौगिक क्रियाओं के रूप में उनका स्पष्टीकरण किया गया है।

कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

गगायमुनयोमध्ये मत्स्यौ द्वी चरत मदा ।
हौ मत्स्यौ भक्षयेद्द्यस्तु स भवेन्मत्स्यसाधक ॥

(आगम सार)

‘गगा और यमुना के मध्य मे दो मत्स्य सदा विचरण करते हैं । जो उन दोनो मत्स्यों को भक्षण कर जाता है वही मत्स्य भावक होता है ।

माराब्दाद् रसना तेथा तदशान् रसना प्रियान् ।
सदा यो भक्षयेदेवि स एव मास साधक ॥

(आगम सार)

“माराब्द से रसना को जानना चाहिए उसके अशों को जो रसना के प्रिय होते हैं जो, सदा भक्षण किया करता है, हे देवि वह ही मांस साधक होता है ।”

कुलकुण्डलिनीशक्तिर्देहिता देह धारिणो ।
तया शिवस्य सयोगा मैथुन परिकार्तितम् ॥

अर्थात् “कुल कुण्डलिनी शक्ति जो देहधारियो के देह का धारणा करने वाली है उसके साथ शिव का सयोग मैथुन म बतलाया गया है ।”

यदुत्क परम ब्रह्म निर्विकार निरञ्जनम् ।
तस्मिन प्रमदन ज्ञान तन्मद्य परिकीर्तिनम् ॥

(विजयतन्त्र)

अर्थात् “जो परम ब्रह्म निर्विकार और निरञ्जन बनाया गया है, उसमे प्रकृष्ट रूप से मदन स्वरूप ज्ञान ही मद्य कहा गया है ।”

निन्दा—

कौलो मे मांस, मद आदि के प्रयोग का विवात है परन्तु नियत्रित रूप मे । कुलार्णव तन्त्र कौलो का प्रमुख तन्त्र है । उसी मे ऐसे साधक की निन्दा की गई है कि यदि ऐसा ऋष्ट आहार व्यवहार ही धर्म का अग माना जाता हो तो इन त्याज्य वस्तुओ को ग्रहण करने वाले ही मवमे बड़े धार्मिक कहलाएंगे ।

मद्यपानेन मनुजो यदि सिद्धि लभेत् वै ।
 मद्यपानरता सर्वे सिद्धि गच्छन्तु पामरा ॥
 मास भक्षण मात्रेण यदि पुण्या गतिर्भवेत् ।
 लोके मासाग्निं सर्वे पुण्यभाजो भवन्ति हि ॥

(कुलार्णव २/ १७-८)

अर्थात् “मद्य के पान से ही यदि मनुष्य मिद्धि की प्राप्ति कर लेवे तो सभी पामर मद्य के पान में ननि रखन वाने मिद्धि को प्राप्त हो जावें । मास के भक्षण मात्र से ही यदि पुण्य-गनि हो जाया करे तो लोक में सभी लोग मास खाने वाले पुण्य-मागी हों जावें ।”

भय प्रदर्शन—

कौल पचमकारों को आवश्यक समझते हैं, परन्तु वह इसे गिनेचुने व्यक्तियों के लिये ग्राह्य समझते हैं । जन मागारण को अत्यन्त भय दिखाया गया है कि यह मार्ग अत्यन्त कठिन है, इस पर चलने में पहले गम्भीरतापूर्वक विचार कर लेना चाहिए । कुलार्णव तत्त्व २ । १२२ में कहा है—

कृपाणेवागगमनाद् व्याघ्ररुण्ठावलम्बनात् ।
 भुजङ्गवारणान्तूनमग्रक्य कुलवतनस् ॥

‘कृपाण की धार के ऊपर गमन करने में तथा व्याघ्र के कण्ठ के आलम्बन करने में एव भुजङ्गों के वारण करने में भी निश्चय ही कुल वर्तन अग्रक्य है ।’

नरक में जाने का भय भी दिखाया गया है—

अर्थाद् वा कामते वापि सौख्यादपि च यो नर ।

लिङ्गयोनिरतो मन्त्री रौरवे नरक ब्रजेत् ॥

अर्थात् ‘अर्य में, काम में, अयत्रा सौख्य में भी जो मनुष्य निङ्गयोनि में रत रहता है यह मन्त्री रौरव नरक में जाता है ।’

दण्ड विधान—

जो व्यक्ति सामना के लिए नहीं बरत् इन्द्रिय-तृष्णि के लिए ही

इन वस्तुओं का प्रयोग करते हैं, तत्रों में इनके लिए दराड़ का भी विधान है—

सुरापाने कामकृते ज्वलन्ती ता विनिक्षिपेत् ।
मुखे तया विनिर्दग्धे तत शुद्धिमवाप्नुयात् ॥
(कुलार्णव २११२)

अर्थात् “इच्छापूर्वक सुरा के पान करने पर जलती हुई अर्थात् अत्यन्त गर्म उस सुराको मुख में ढाल देवे । उससे वह विशेष रूपसे निर्दग्ध हो जावे तो फिर ऐसा होने पर सुरापान करने वाला शुद्धि को प्राप्त होता है ।”

उच्च उद्देश्य—

तत्र-शास्त्रों के अवलोकन से पतीत होता है कि उनके उद्देश्य विकृत नहीं हैं । कालक्रम से जिस तरह अन्य शास्त्रों और जाति सम्प्रदायों में दोष उत्पन्न हो गए थे उसी तरह तत्रों में स्वार्थी व्यक्तियों ने मिलावट करके अपने मतों का समर्थन करने के लिए ऐसे सिद्धान्तों का प्रचलन किया, जिन्हें घृणित समझा जाता है । तत्र का उद्देश्य साधक को निम्नगामी प्रवृत्तियों में उलझाना नहीं है बरन् उसे एसा सुव्यवस्थित मार्ग सुझाना है जिससे वह जीवन में कुछ आदर्श कार्य कर सके ।

उदाहरणार्थ ‘मेरु तत्र’ में वाम-मार्ग का परिचय देते हुये कहा है—

पर द्रव्येषु योऽन्धश्च परस्त्रीपु नपु सक ।

परापवादे यो मूक सर्वदा विजितेन्द्रिय ॥

तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र वामे स्यादधिकारिता ।

अर्थात्—जो पर द्रव्य के लिये अन्धा है, पर-स्त्री के लिये नपु सक है जो पराई निन्दा के लिये गूँगा है और जो इन्द्रियों को सदा वश में रखता है ऐसा ब्राह्मण वाम-मार्ग का अधिकारी होता है ।”

इसी प्रकार “कौल” शब्द की व्याख्या करते हुये तत्र-शास्त्र में बताया है—

कुल शक्तिरिति प्रोक्तमकुल शिव उच्यते ।

कुलकुलस्य सम्बन्ध कौलमित्यभिधीयते ॥

अर्थात्—“कुल शब्द शक्ति का वाचक है और ‘अकुल’ शब्द शिव का वोधक है । कुल और अकुल के सम्बन्ध को कौल कहते हैं ।”

कौन शब्द का अर्थ व्याप देने योग्य है । कौन उस कहते हैं जो शक्ति को शिव के साथ मिलाने की योग्यता रखता है । ‘कुल’ का अर्थ शक्ति अथवा कुण्डलिनी है और ‘अकुल’ का अभिप्राय शिव मे है । जो मावक यौगिक मावनाम्रो मे महस्तार मे निवास करने वाले जिव के साथ कुण्डलिनी शक्ति को भिन्नाने की सामर्थ रखता है, उसी को कौल कहते हैं । इसमे कौल उच्चरोटि के योग सावक मिद्द होते हैं । इनके सम्बन्ध मे जो भ्रात धारणा ए लोक मे व्याप्त है, उसका कारण कौलचरण के सम्बन्ध मे पूरी जानकारी का अभाव ही है ।

शैववैष्णवदौर्मर्किगारणपत्यादिके क्रमात्
मन्त्रविशुद्धाचित्तस्य कौलज्ञान प्रकाशते ॥

अर्थात्—शैव, वैष्णव, शाकत सौर, गारणपत्य आदि सिद्धान्तो के मन्त्रो द्वारा वित्त की शुद्धि हो लेने के पश्चात् कौन ज्ञान (वृद्धि ज्ञान) की प्राप्ति होती है ।”

यह मत्य है कि जिम प्रकार प्रत्येक उच्च और उपयोगी मिद्दान्त और सप्रदाय मे कालान्तर मे अनक विकार और दोष उत्पन्न हो जाते हैं उसी प्रकार तन्त्र-मार्ग का भी अविज्ञाश मे रूपान्तर हो गया है और मावारण लोगो ने उसे मारण-मोहन-वशीकरण जैसे निकृष्ट, दूषित कार्यों का ही सावन समझ लिया है । पर अपने मूल रूपमे यही उसका उद्देश्य जान पड़ता है कि जो लोग घर गृहस्थी को त्याग करक तप और वैराग्य द्वारा अत्म माल्कात्मकार करने मे अमर्मर्थ हैं, वे अपने सासारिक जीवन का निर्वाह करते हुए भी आव्यातिमक दृष्टि मे उन्नति कर सकें ।

इस वात को तन्त्र ग्रन्थो मे स्पष्ट रूप से कहा भी गया है—

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो
यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोग ।

श्रीसुन्दरी मेवन तत्परराणा ।
भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥

अथात् — “जहाँ भोग है वहाँ मोक्ष नहीं है और जहाँ मोक्ष है वहाँ भोग नहीं है । किन्तु जो मनुष्य भगवती श्रिपुरसुन्दरी की सेवा में सलग्न है, उनको भोग और मोक्ष दोनों ही महज साध्य हैं ।”

तत्त्व-योग में भी यद्यपि अन्य योग-मार्गों की तरह आठों अङ्गों का समावेश पाया जाता है, पर उसका मूल उद्देश्य कुरुडलिनी शक्ति को जागृत और क्लियाशील करके आत्मशक्ति को प्राप्त करना है । इसका अस्यास करने में आसन और प्राणायाम की आवश्यकता पड़ती है और और और ध्यान की शक्ति का भी प्रयोग आवश्यक होता है । फिर बाह्य और आन्तर शुद्धि, इन्द्रिय स्थिरम, प्राणिधान, न्रह्याचर्य, ईश्वर आदि धर्मनियम के साधन तो प्रत्येक आत्म विकास के मार्ग में करने ही पड़ते हैं ।

‘सम्यक्त’ वाले बाह्य उपासना की उपेक्षा ही करते हैं और ध्यान व आत्मसाक्षात्कार पर ही विशेष बल देते हैं—

समियना भन्त्रस्य पुरश्चरण नास्ति । जपो नास्ति । बाह्य-
होमोऽपि नास्ति । बाह्य पूजाविधयो न सन्त्येव । हृत्कमलमेव
सर्वयावदनुष्टेयम् ।

(आनन्द लहरी पर लक्ष्मीघर टीका मैसूर सस्करण पृष्ठ ११)

“मन्त्र युक्त धर्म वालों का पुरश्चरण नहीं है । जप नहीं होता है बाह्य होम भी नहीं है । बाह्य पूजा की विधिया नहीं हैं हृत्कमल ही सबका अनुष्ठान करे । अर्थात् हृदय में ही सब करना चाहिए ।”

एक तथ लेखक का भी यही कहना है कि “शद्वा और विवेक के साथ तत्त्व शास्त्र का अध्ययन किया जाए तो यह पता चलेगा कि तत्त्व और शाक्त धर्म का ध्येय जीवात्मा की परमात्मा के साथ—व्याप्ति को समस्ति के साथ भ्रमेद सिद्ध ही है और तान्त्रिक उपासना का भी यदि आलोचनात्मक अध्ययन किया जाय तो यह भ्रवगत होगा कि इसके भिन्न-

भिन्न विद्वानों की मुर्छिट भी इसी उद्देश्य को क्रमशः मिलकरने के लिए हुई है।”

अत कुछ विद्वानों की यह धारणा कि तत्त्वों ने व्यभिचार को बढ़ावा दिया है, पूरण सत्य नहीं है। इनके उद्देश्य उच्च है, जो गन्दगी इसमें आ गई है, यदि उसे दूर कर दिया जाय तो वह उच्चकोटि के सावनात्मक शास्त्र के रूप में प्रतीत होगे, इसमें क्चित् सात्र भी सदैह नहीं है।

• • •

तंत्र की असाधारणा महत्ता और उद्देश्य

शास्त्रो मे तत्र की महत्ता पर प्रकाश ढालते हुए कहा गया है—
कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेताया स्मृतमस्मिव ।
द्वापरे तु पुराणोक्त कलावागमसम्मत ॥

(कुलार्णव तत्र)

अर्थात् “सत्युग मे श्रुति मे कथित आचार था, त्रेता युग मे स्मृति प्रतिपादित आचार माना तथा किया जाता था, द्वापर युग मे पुराणो मे वर्णित आचार की ही मान्यता थी और कनियुग मे आगम सम्मत तत्त्वो का आचार प्रबान है ।”

महा निर्वाण तत्र मे शिव कहते है —

कलिकल्मषदीनाना द्विजातीना सुरेश्वरि ।
मेघ्यामेघ्यविचाराणा न शुद्धि श्रौतकर्मणा ॥
न सहितादये स्मृतिभिरभिष्टसिद्धिनृणा भवेत् ।
सत्य सत्य पुन सत्य सत्य सत्य मयोच्यते ॥
विना ह्यागममार्गेण कलौ नाम्नि गति पिये ।
श्रुति स्मृतिपुराणादौ मयैवोक्तं पुरा शिवे ।
आगमोक्तविधानेन कलौ देवान्यजेत्सुधो ॥

अर्थात् ‘हे सुरेश्वरि ! कलि के दोप मे दीन हुए द्विजो को पन्नित्र अपवित्रता का विचार नही रहेगा फिर श्रौत कार्यों का सम्पादन से वह कैस सफलता प्राप्त कर सकेंगे ? तब सहिताश्रो श्रौत स्मृतियो का सयोग से भी अभीष्ट सिद्धि न हो सकेगी । हे शिव ! मैं सत्य और पुन पुन सत्य कहता हूँ कि कलिकाल मे तत्त्व-मार्ग को छोडकर दूसरी गति नही है । हे शिवे ।

श्रुति स्मृति और पुराणों के द्वारा मैंने घोषणा की है कि कलियुग में दपासक आगम विधान द्वारा निर्देशित देव-पूजन करेगे ।”

‘योगि तन्त्र’ के अनुसार—

निर्विया श्रीतजातीया विपयहीनोरगा इव ।

सत्यादौ सफला आसन्कलौ ते मृतका इव ॥

पाचालिका यथा भित्तौ सर्वेन्द्रियसमन्विता ।

अमूरशक्ता कार्येषु तथान्ये मन्त्रराशय ॥

अन्यमन्त्रै क्रुत कर्म वन्ध्यास्त्रीसगमो यथा ।

न तत्र फलमिद्धि स्याच्छ्रम एव हि केवलम् ॥

कलावन्योदिनैर्मर्गि सिद्धिमिच्छति यो नर ।

तृषितो जाहनवीतीरे कूप खनति दुर्मति ॥

कन्तौ तन्त्रोदिता मत्रा सिद्धास्तूर्णं फलप्रदा ।

शस्ता कर्मम् सर्वेषु जपयज्ञक्रियादिषु ॥

अर्थात् “विष रक्षित साप की तरह अब वेद-मन्त्र निर्वीय हो गए

है । सत्यादि यूगों में यही मत्र सफलीभूत होते थे । अब वह मृतप्राय हो गए हैं । कलियुग में अन्य मत्रों की वैसी ही स्थिति है जैसे कि भीत पर निखी हुई पुतलिया इन्द्रियों से सयुक्त होने पर भी अपने कार्य में अयोग्य रहती हैं । जैसे वन्ध्या स्त्री के सहयोग से कोई सतान नहीं होसी वैसे ही अन्य मत्रों पर केवल श्रम ही होता है, उनसे कोई फल सिद्धि नहीं होती । अन्य जास्त्रों के विधान अनुसार जो साधक मिद्धि प्राप्त करना चाहता है । वह ऐमा ही है जैसे प्यासा व्यक्ति गगा तट पर कुआ खोदे । कलियुग में तो तत्रोक्त मत्र ही शीघ्र फलदाता है । जप इत्यादि कर्मों में यही मत्र उत्तम माने गए हैं ।”

कलावागममुल्लङ्घ्य योऽन्यमार्गे प्रवत्तते ।

न तस्य गतिरस्तीति सत्य सत्य न सशय ॥

अर्थात् “मैं सत्य-सत्य निमन्देह रूप से घोषित करता हूँ कि कलियुग में तत्रों का उल्लङ्घन करके जो अन्य मार्गों को अपनाता है, उसकी सद्गति सम्भव नहीं ।”

मत्स्य सूक्त मे तत्र-महिमा का इस प्रकार वर्णन है—
 विष्णुवरिष्ठो देवाना हरदानामुदधिस्तथा ।
 नदीनाच यथा गङ्गा पर्वताना हिमालय ॥
 तथा समस्तशास्त्राणा तन्त्रशस्त्रमनुत्तमम् ।
 सर्वकामप्रद पुण्य तन्त्र वै वेदसम्मतम् ॥

अर्थात् “जिस तरह देवताओं मे विष्णु, हरद-मूह म समुद्र नदियों मे गङ्गा, पर्वतों मे हिमालय को श्रेष्ठ माना गया है, उसी तरह समस्त शास्त्रों मे तन्त्र सर्वोत्तम माना गया है।”

महानिवांण तन्त्र मे एक और स्थान पर कहा है—
 तप स्वाध्यायहीनाना नृणामल्पायुषामपि ।
 क्लेशप्रयासाशक्ताना कुता देहपारश्रम ॥
 गृहस्थस्य क्रिया सर्वा आगमोक्ता कलौ शिवे ।
 नान्यमार्गे क्रियासिद्धि कदापिगृहमेविनाम् ॥

अर्थात् “कलियुग मे लोग तप, स्वाध्याय से हीन और अल्पायु के होंगे। अत अशक्तता के कारण वे क्लेशदायक और परिश्रम वाले कार्यों के सम्पादन मे अयोग्य रहे। हे शिवे। कलि मे गृहस्थ केवल आगम योग का ही प्रनुसरण करेंगे। अन्य मार्गों का सहारा लेने पर क्रियानुष्ठान करने से वह कभी भी सिद्धि लाभ न कर सकेंगे।”

भारतीय स्त्रृकृति के गौरवशाली साहित्य को दो शाखाओं मे विभक्त किया गया— आगम और निगम। साधारणत आगम तन्त्र के लिये और निगम वेदों के लिये प्रयुक्त होता है। वेदों की महत्ता तो सर्व विदित है ही, तन्त्र भी अत्यन्त महत्वपूर्ण उच्चकोटि के साहित्य मे गिने जाते हैं। इसका प्रमाण इसी तथ्य से मिनता है कि आगम शब्द पहिले वेदों के लिये प्रयुक्त किया जाता था, परन्तु जब तन्त्रों का आविर्भाव हुआ तो वेद निगम और तन्त्र आगम के अन्तर्गत आ गए। पतञ्जलि के योग सूत्रों से वह शब्द वैदिक ज्ञान के शर्य मे आया है। उन्होंने ज्ञान के तीन प्रमाणो—(प्रत्यक्ष, प्रनुमान और आगम) मे भी इसे सम्मिलित किया है।

तन्त्रों के आविर्गति के कारणों का सर्वटीकरण करते हुये श्री माधव पुण्डरीका ने लिखा है — ‘धर्म-ग्रन्थों के सूक्ष्म अव्ययन में यह सत्य निर्भान्त रूप से सामन प्राप्ता है कि जिस तरह म उपतिष्ठ वेदों के ज्ञान-काण्ड के पुनरुज्जीवन और अभिन्न परायण के प्रतीक हैं, और ब्राह्मणों न वैदिक धर्म की फर्म-काण्डीय पद्धति की सुरक्षा तथा उसे आगे बढ़ाने की इच्छा की थी, उसी तरह ये आगमों न वैदिकवादियों की गूढ़ शिक्षाओं तथा माधवना को अपने हाथ म लिया और वे परबर्ती युग की बदलनी हुई अवस्थाओं और आवश्यकताओं के अनुरूप रूपों और साधनाओं के द्वारा उसका विकास तथा उसी के आधार पर नवीन निर्माण करते गय ।’

कुल्लूक भट्ट के मनुसार आगम भी ईश्वर-प्रसूत शब्द स्वीकार किये जाते हैं । जिस तरह वेद ईश्वर की वाणी मान जाते हैं, उसी तरह तत्र भी भगवान शिव विष्णु, हरि, देवी भी वाणी हैं । उन्हीं देवताओं के नाम से वे जाने भी जाते हैं, जैसे वैष्णवागम, शाकतागम, शौकागम ।

वेदों के नर्म, उपासना और ज्ञान के तीन विषय प्रमिद्ध हैं, वेद में यह विषय सन्निध्य प्रौढ़ गुणे हुए रूप में वर्णित हैं । इनका मरल रूप में युगानुमार विष्टार तन्त्रों में किया गया है ताकि यह सर्व माधारण की समझ में आएं । यहीं कारण है कि वेदों की अपेक्षा तन्त्रों का प्रचलन अविक हो गया । तन्त्रों ने वेशों के रहस्य को खोलने का ती कार्य किया है । वेदों के समस्त विषय तन्त्रों में पाए जाते हैं । तन्त्रों की महत्ता प्रकट करते हुये मत्त्य-सूक्त में लिखा है कि जिस तरह वर्णों में ब्राह्मण, देवियों में दुर्गा, देवताओं में इन्द्र, वृक्षों में पीपल, पर्वतों में हिमालय, नदियों में गगा, और अवतारों में विष्णु हैं, उसी नरह शास्त्रों में तन्त्र श्रेष्ठ हैं ।’

जब तन्त्र-माधवना का प्रचार उच्च शिखर पर था, माधव इसमें अनेकों प्रकार की घमाधारणा सिद्धियाँ प्राप्त करते थे, जो आज सर्वथा अमम्भव दृष्टिगोचर होनी हैं । प्राचीनकाल के साधक इससे बड़े-बड़े लाभ उठाते थे । रावण और अहिरावण हजारों मील की दूरी से विना वैज्ञानिक यन्त्रों के आपस में वार्तालाप करते थे । नलनील ने पानी पर तैरने वाले

पत्थरों से पुल बनाया था । हनुमान मच्छर की तरह अपने शरीर को छोटा बना सकते थे और वृहदाकार पर्वत खण्डों को उठाने की सामर्थ्य भी रखते थे । सुरसा अपने शरीर को विशालतम् बना सकती थी । मारीच मनुष्य शरीर को पशु शरीर में परिवर्तित कर लेता था । बिना पेट्रोल के आकाश में उड़ने वाले चायुयान उपलब्ध थे । वरुण अस्त्र से जल की वर्षा कराई जाती थी, आगनेयास्त्र से चारों ओर अग्नि की लपटे उठने लगती थी नागपाश की जड़ लोहे की मोटी रस्सियों में भी अधिक सुहृद थी, सम्मोहनास्त्र से व्यक्ति को मूर्च्छित कर दिया जा सकता था । परन्तु खेद है कि आज यह विद्या लुप्त हो गई और हम केवल इनका विवरण पढ़-मुनकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं ।

तन्त्र साधना द्वारा दूसरों के मन को प्रभावित किया जा सकता है और उसकी गतिविधियों को अपनी इच्छानुसार मोड़ा जा सकता है । निर्बंल मन व शरीर वाले व्यक्तियों को स्वस्थ बनाया जा सकता है । विन्दू संपर्क के काटे व विषेले फोड़ों का समाधान भी तन्त्र द्वारा मिलता है । अनिष्ट ग्रह, भूतोन्माद, नजर लगने आदि के उपचार तन्त्र द्वारा होने हैं । मानसिक उद्देश, असहनीय वैदना व भ्रत्य शारीरिक अव्यवस्थाओं में तन्त्र सहायक मिल होता है । मैस्परेजम और हिप्पोटिज्म द्वारा भी कुछ ऐसे ही कार्य कर लिये जाते हैं । इन पद्धतियों में दूसरे व्यक्तियों के मन को सम्मोहित करके उन्हें अपनी इच्छानुसार आदेश दिये जाते हैं और वह वैसा ही करते हैं । तन्त्रों द्वारा इनकी अपेक्षा कहीं अधिक शक्ति उपायित की जा सकती है ।

तन्त्र साधनाओं का लक्ष्य बड़ा विस्तृत है । वशीकरण, मारण, उच्चाटन, यम्मोहन इष्टवत्त्व, परकाया प्रवेश, सर्व विद्या, प्रेतविद्या, शृदश्य वस्तुओं को देखना, भविष्य ज्ञान, सन्तान सुयोग, आकर्षण, मोहन मन्त्र घात-प्रतिघात आदि की क्रियाएँ इससे सचालित की जा सकती हैं ।

किसी समय तन्त्रों के इतने विशाल साहित्य का निर्माण किया गया था, जिसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती । तन्त्रों में ही वरण्णन है कि

प्राचीनकाल में चौदह हजार तन्त्र ग्रन्थ प्रवलित थे । इनमें सभी विद्याओं का समावेश था । आत्म-कल्याण के सिद्धान्त, मानव शास्त्र, व्यावहारिक ज्ञान, जप, तप, उपासना ध्यान, मन्त्र योग, राज योग, हठ योग, लय योग, दर्शन रहस्य अध्यात्म का स्पष्टीकरण, सृष्टि रचना, प्रलय, ग्रह नक्षत्र, प्रेन विद्या, पितृ तत्त्व, आयुर्देव, रमायन शास्त्र, परलोक विद्या, नरक, स्वर्ग, १४ लोक, राज धर्म, दान धर्म, युग धर्म, शल्य चिकित्सा, भैषज्य चिकित्सा, रम चिकित्सा, वनीषभि चिकित्सा, वातु और उपचार में श्रोपवि निर्माण, गणित ज्योतिष, मणीन विद्या आदि विषय तत्त्वों के थेत्र के ग्रन्तर्गत आते हैं । इन विषयों का विस्तार से विवेचन भिलता है । यह गुण और किसी शास्त्र में नहीं हैं ।

तत्त्वों के लक्ष्य की ओर मकेन करते हुये एक विद्वान् ने लिखा है “ईश्वर की मर्जन द्वन्द्व शक्ति का जागरण, इन शक्तियों को खोजकर कार्य को करना, अपने देवन्द्व को पढ़चानना और अपने चारों ओर की सृष्टि में विशालतर देवन्द्व का आलिंगन करना वह ग्रान्त है जिसे समस्त आगम उद्घोषित करते हैं । यही एक लक्ष्य है जिसकी ओर उनके आत्म-निर्माण और अनुशासन अर्थात् उपासना के समस्त मार्ग खुल जाते हैं । इनके बताए मार्ग कर्म से भागने के नहीं, कर्म के मार्ग हैं । भगवान् के द्वारा नियोजित नियमों और ढग में भगवान् की महिमा और अभिव्यक्ति के लिये चेष्टा करना यही उनकी माध्यन का प्रवान मत्य है ।”

तन्त्र अभ्यास और व्यवहारिक ज्ञान के शास्त्र हैं । यह जीव की परतन्त्रता को समाप्त करके स्वतन्त्रता का द्वार खोलते हैं, वहजिन सुहृद बन्धनों में जकड़ा हुआ है, उनको ढीला करते हैं और ईश्वरीय सत्ता के मर्वोंच म्यान पर लाकर खड़ा कर देते हैं । वह साधक को आत्मसाक्षात्कार को भूमिका में अवस्थित करते हैं । वह इम शरीर के रहते हुये भी अपने को जीवनमुक्त समझने लगता है । सब और अपनेपन के विस्तार का अनुभव करता है । आत्मिक विज्ञान के विद्वानों को क्रिया रूप देना ही तन्त्र शास्त्र का कार्य है । विभिन्न प्रकार की साधनाओं के विविध-विधान

का मार्गदर्शन ही इनका प्रमुख कार्य है ।

तत्त्व-साधना पचकोपों को पार करने की उच्चतम प्रक्रिया का माग प्रशस्त करती है । अन्नमय कोष से आनन्दमय कोष की ओर बढ़ाते चलना इनका उद्देश्य है । तत्त्व साधनाएँ शक्ति के स्रोत हैं । हमारे सूक्ष्म शरीर में स्थित चक्रों और योगिक ग्रन्थियों को जगा कर साधक को एक शक्तिशाली चुम्बक बना देती हैं । साधक के अग-अग से शक्ति का प्रादुर्भाव होता है और वह हर क्षेत्र में सफलता के पर बढ़ाता चलता है, क्योंकि सफलता की मूल शक्ति के रहस्य को वह पहिचान गया है ।

तत्त्व शार्ण त्रयों ने खोजकर पता लगाया है कि ईश्वर की विभिन्न शक्तियों को, जिन्हे देवता कहते हैं, अपने अनुकूल बनाकर उनकी शक्तियों को आवश्यित किया जा सकता है और मनोवाचित सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं । सूक्ष्म देवताओं के लिए सूक्ष्म साधन स्वीकार किए गए हैं । तत्त्वों ने मन्त्रों के साथ ब्रीजाक्षरों का प्रयोग भी बताया है । इन मन्त्रों की सूक्ष्म तरणों सूक्ष्म प्रकृति में हलचल उत्पन्न करती हैं और ईश्वर तत्त्व में व्याप्त अपने अनुकूल तरणों के साथ मिलकर एक शक्ति-पुद्ज के रूप में परिणित हो जाती हैं । साधक एक चुम्बक की तरह इन शक्तियों को आकर्षित करता रहता है और इपने में शक्ति वे भड़ार को भरता रहता है । इस तरह से मन्त्र उसका दिव्य शक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करते हैं ।

तत्त्वों में पचमकार की साधना को देखने वृछ लोग इन्हे व्येक्षा की दृष्टि से देखने लगे हैं । तत्त्व साधनाओं में मद्य, मांस मत्स्य, मुट्ठा और मैथुन के प्रयोग का निर्देश किया गया है । ग्रन्थारिक भाषा में प्रयुक्त इन शब्दों को साधारण बोटि के साधक न ममभ सके और इनका प्रत्यक्ष प्रयोग करके इस क्षेत्र को ऋषि कर दिया, जिससे वौद्धिक क्षेत्र में इनके प्रति धूरणा के बीज उत्पन्न हो गये । परन्तु वास्तविकता कुछ और ही है । जहाँ मद्य के प्रयोग का आदेश है वहाँ नशा उत्पन्न करने वाले पेय से अभिप्राय नहीं है वरन् वह दिव्य ज्ञान है जिससे साधक वाहरी जगत से

नाता तोड़कर शान्ति-क्षेत्र में प्रवेश करता है। परमात्मा को सर्वस्व समर्पित करना जी तो मर्मग का सेवन कहलाता है। मत्स्य का अभिप्राय उस ग्रिथति से है जब सभी तरह के सुख-दुख एक समान हो जाते हैं। दुर्गुणों के त्याग को मुद्रा कहते हैं। सहस्रार में शिव शक्ति का कुरुड़-लिनी के साथ मिलन मैथुन कहलाता है। उच्चकोटि के साधक इन्हीं भावनाश्रों से श्रोत-प्रोत होकर साधना करते हैं। विषयी प्रकृति के व्यक्ति अपनी वासनाश्रों को तृप्त करने के लिये एक प्रकार का घट्यन्त्र करते हैं और तत्र-शास्त्र को बढ़नाम करते हैं जिससे यह व्यवहारिक रूप में जन-साधारण से दूर चला गया है। इसकी वास्तविकता को समझना और तदनुसार आचरण करना ही अभीष्ट है, जिससे जीवन के विकाश में इस प्राचीन भारतीय विज्ञान का लाभ उठाया जा सके।

वेदों में प्राणी मात्र को समान हृषि से देखने और व्यवहार करने के आदेश तो दिए गए हैं परन्तु कर्मकाण्ड, साधना और शिक्षा से समानाविकार प्रदान किए गए हैं। तत्त्व-शास्त्रियों की प्रजासा ही करनी चाहिए कि सिद्धान्त की समानता को उन्होंने व्यवहार में भी ला दिया और मनुष्य मात्र के लिये तत्र-साधना के द्वारा खोल दिए। स्त्री और पुरुष, किसी भी हीन वर्ण का व्यक्ति हसे अपना सकता है। तत्र में किसी तरह के प्रतिवन्ध नहीं लगाए गए हैं। तत्र सभी वर्गों के विकास का आकाशी है और सभी को समान अधिकार प्रदान करता है। इस नीति ने ही इनके प्रचार और प्रसार को व्यापक बनाने में सहायता दी।

तत्र एक स्वतत्र विज्ञान है। परमाणुमयी प्रकृति के आकर्षण-विकर्षण से जगत के पदार्थों में परिवर्तन होना रहता है, उत्पत्ति, स्थिति और लय के परिणाम उपन्थित होते हैं। विज्ञान द्वारा परमाणुओं की इस स्वाभाविक प्रक्रियाश्रों को दबलकर ग्रपने अनुकूल बना लिया जाता है। विज्ञली, रेफियो, तार रेल आदि इसके उदाहरण हैं। यह विज्ञान की यन्त्रीय शाखा है। दूसरी तत्रीय शाखा है, जिससे अपने अतर की विद्युत शक्ति को इरना विकसित कर दिया जाता है कि प्रकृति के सूक्ष्म

परमाणुओं को अपनी इच्छानुसार ढाल सकते हैं। इसी को सिद्धि कहते हैं। तत्त्व-विज्ञान के अनुसार सूक्ष्म जगत में चेतना ग्रन्थियाँ विचरण करती रहती हैं। जिस उद्देश्य से साधना की जा रही है, उसके अनुसार उन्हीं प्रकार की चेतना ग्रन्थियों को जाग्रत निया जाता है ताकि वृह क्रियाशील होकर अनुकूल परिणाम प्रस्तुत करने में सम्पद हो। जैसे कोई नौकर प्रत्यक्ष शरीर में स्वामी की सभी आज्ञाओं का पालन करता है वैसे ही अप्रत्यक्ष शरीर से वह चेतना ग्रन्थियाँ सर्दूर उसक साथ रहती हैं और अपनी शक्ति के अनुसार साधक की आज्ञाओं का पूरण भरती है। जैसे कहा जाता है कि उस तात्त्विक को भैरव, छाया-पुरुष, अह्म-राक्षस, मसान पिशाच आदि सिद्ध हैं।

अदृश्य लोक की चेतना ग्रन्थियों की प्रक्रिया इस प्रकार से होती है कि तत्त्व साधनाओं द्वारा उन्ह परक्षा जाता है, उनको प्राणवान बनाया जाता है, जाग्रत, क्रियाशील और चैतन्य बनाया जाता है। चैतन्य हाने पर वह साधक पर आक्रमण करती है। यदि साधक इस आक्रमण से भयभीत न हुआ तो वह ग्रन्थियाँ उस साधक क बश में हो जाती हैं और अप्रत्यक्ष शरीर से उसके सभी काय सिद्ध करती हैं। यदि वह भयभीत हो जाय तो उसे हानि की भी सम्भावना होती है।

प्राचीन काल में अदृश्य लोक की चेतना ग्रन्थियों को जाग्रत करके वह सभी कायं कर लिये जाते थे जो आजकल भौतिक विज्ञान की शोधों से यन्त्रों द्वारा किये जा रहे हैं। आज उस विज्ञान का नोप हो गया है फिर भी कही-कही ऐसे तात्त्विक मिल जाते हैं जो प्रत्यक्ष रूप से इसकी मिद्दियों का प्रदर्शन करते हैं। यदि भारत के इस प्राचीन विज्ञान पर शोध की जाए तो अनेकों अद्भुत रहस्य प्रकट हो सकते हैं और इस विद्या का उत्थान हो सकता है।

एक विद्वान ने संशक्त शब्दों में घोषणा की है—

“अधिकाश में प्रागमो का ही यह योगदान है कि जिमने देश की भाष्यात्मिक वृत्ति को मायावाद के मरुस्थल में जाने में रोका और सतुलन

वनाये रखन मे वान्तविरु भाग लिया था । तान्त्रिक विचारों और उपासना के मुस्य सत्यों मे हो आज के हिन्दू धर्म का मेरुदण्ड बना है ।

हिन्दू त्रिभव देवतागण तत्र से ही ग्रहीत हैं और अभी तक अपने मूल स्वरूप को मुरक्षित रखे हुए हैं । उपासनायें, विशेषरूप मे सामूहिक पढ़नि की उपायन। ए खुले रूप मे अपनी प्रकृति मे तान्त्रिक है । व्यक्तिगत साधना मार्ग मे भी तान्त्रिक रहस्यवादियों के ज्ञान का एक बड़ा भाग आ गया है । चेतन शक्ति का मिद्दान्त छुट्ट-मानव प्रयत्न को साक्षात्कार के स्तर मे उठाती हुई परमशक्ति के रूप मे सर्वसिद्धिप्रद शक्ति का एक प्रब्रान सिद्धान्त है जिसके चारों ओर वर्तमान युग की साधना किसी न किसी रूप मे केन्द्रित है ।

तन्त्र पट्टनि मे छिपे हुए अर्थों को बताते हुए श्री अरविन्द सकेत करते हैं कि “भाग्य भूमि की आत्मा के क्रमश विस्तारशील राज्य मे यह एक महत्वपूर्ण विकाश-शिखर था । वैदिक ऋषियों ने एक आन्तरिक अनु-शामन और धर्म विकसित किया और इसे पूर्ण बनाया, जो मूलगत रूप मे सहज बोध पर आश्रित और प्रतीकात्मक था और उस युग की अकृ-त्रिम विशुद्ध मानवता के अनुरूप था । उपनिषद् मे इस प्रारम्भ के प्रयास का उल्लेख है, जिसमे मानव अपने विभिन्न स्तरों को—आलोकित बुद्धि के उच्च स्तर मे लेकर नीचे तक के स्तरों को—ऊँचा उठा ले जाता है, उन पर आत्मा की ज्योति का प्रकाश ढालता है । यह एक प्रणाली है जो कि स्मृतियों के युग से होते हुए आगे बढ़ी और दर्शन मे अपनी पूर्णता को पहुंची । तान्त्रिक साधना भगवान के विषय मे और भी गम्भीर दावा करती है । यह मानव के सवेदनशील और सक्रिय भागो, हृदय, सकल्प और जीवन सत्ता को भी लेती है और उन्हे आत्मा के ढाँचे के अनुरूप विकसित करने यत्न का करती है । इसलिए तन्त्र देश के प्रगतिशील तथा आत्म विस्तारशील आध्यात्मिक आनंदोलन मे एक महत्वपूर्ण और यहाँ तक कि अनिवार्य सोपान रहा है ।”

प्रकृति की शक्तियों पर कावृ पाकर उन्हे अपनी इच्छानुकूल

वशवर्तीं वनाना तन्त्र विद्या का प्रधान कार्य है। इस विद्या द्वारा आनन्द-दायक स्थितियाँ उत्पन्न और उपलब्ध की जा सकती हैं और उनका उपभोग किया जा सकता है। माथ ही अपने नथा अन्यों के ऊपर शाई हई आपत्ति का निवारण किया जा सकता है। इनना हां नी दुष्ट और दुराचारियों के ऊपर आपत्ति का प्रहार भी किया जा सकता है। तत्र तुरन्त फलदाता हैं और वह फल आश्चर्यजनक होते हैं।

एक तान्त्रिक ध्याण्याता के शब्दों में विशेष रूप में गुह्य-ज्ञान के सधारों का दुरुपयोग, भृतिभीतिक स्तरों की अक्षरों स्थोत्रों स्थोत्रों की लिए उन्हें प्रेरित करना, रहस्य पूजा के अनिगम्भीर तात्त्विक आत्मार का अश्लीलीकरण, आवेगमयी प्रकृति की चूड़ा पर स्थित रहते हुए आत्मा के शिखरों पर आरोहण करने के हेतु मानव द्वारा किया गया एक अत्यन्त निर्भय प्रयोग—ये शोचनीय पतन हैं। पर किसी प्रकार में भी ये इसकी विशालता इसकी सहजबुद्धि, ध्यावहारिकना, और इस पद्धति की महजात प्रमाणिकता को कम नहीं कर सकते हैं।

तत्र एक महान् और शक्तिशाली प्रणाली थी। यह कुछ ऐसे विचारों पर आधारित थी जिसमें कम में कम मत्य का कुछ अश अवश्य वर्तमान था। दक्षिण और वाम-माग में इसका दुहरा विभाजन भी एक गहन अनुभव से ही शुरू हुआ था। दक्षिण और वाम शब्दों के प्राचीन प्रतीकात्मक अर्थ के अनुसार यह विभाजन 'ज्ञान' और 'आनन्द' के मार्गों में था। एक में प्रकृति मनुष्य के अन्दर अन्ती जक्ति ने तत्त्वों शक्यताओं के यथार्थ मैदानिक और ध्यावहारिक विवेर द्वारा आने आपको मुक्त करती है, जब कि दूसरे में वह यह काय उपके अन्दर अपनी जक्तियों, तत्त्वों और शक्यताओं की हर्षपूर्ण मैदानिक और ध्यावहारिक स्त्रीकृति के द्वारा करती है। किन्तु अन्त में इन दोनों मार्गों में मिद्धान-मस्त्रन्धी एक अस्पष्टता, प्रतीकों की विकृति तथा हगम की अवस्था पैदा हो गयी थी।"

म० म० प० गोपीनाथ कविराज ने कहा है—

वेद का भाँति तन्त्र-क्रम भी बोधात्मक और वागात्मक है। शिव में समवेत शक्ति के दो रूप हैं—ज्ञान एव क्रिया। ज्ञानरूपिणी शक्ति, पर और अपर भेद से द्विविध है। पर-ज्ञान वाधात्मक और अपर ज्ञान वागात्मक है। वागात्मक ज्ञान शास्त्र-रूप में प्रतिष्ठित है, बोधात्मक पर-ज्ञान, वागात्मक अपर-ज्ञान किंवा शब्द पर आच्छ होकर अर्थ प्रकाशन में प्रवृत्त होता है। सात्वत सहित से परज्ञान का शिव की साक्षात् शक्ति और अपर ज्ञान को तन्त्र कहा है। विश्वस्टष्टि के उन्मेषकाल में भगवान परापर मुक्ति और मुक्ति-सम्पादन के लिए ज्ञान का प्रकाशित करते हैं। सबसे पहले परम-कारण निष्कल शिव में अवबोध रूप ज्ञान का नादात्मक प्रमार होता है। तत नादात्मक ज्ञान मदाशिव रूप से तन्त्र किंवा शास्त्र का रूप ग्रहण करता है। इसीलिये पौष्टकर आगम ने शास्त्र को नादरूप कहा है। नादरूप प्रसृत इम अवबोधात्मक विमल ज्ञान की पाँच धाराएँ हैं, मर्धनि पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर एव ऊर्ध्व। निष्कल परमशिव में वागादि इन्द्रियों की सम्भावना न होने पर भी नाद सम्भूत होता है। अयस्कात के लोहाकर्षण-मामर्थ्य सहश इसे समझना चाहिये। शास्त्र शुद्ध आत्मवय का भव मुद्र से उद्धार करता है।

तन्त्र के एक प्रसिद्ध व्याख्याता विमलानन्द स्वामी ने अपनी एक पुस्तक की भूमिका में वेदो और तत्रों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए अतिशयोक्ति शैली से लिया है कि “वेद अज्ञान के क्षेत्र में ही चक्र लगाते रहते हैं परन्तु तन्त्र कहीं आगे निष्कल जाता है। तन्त्रही मोक्ष तक पहुँचने के लिए एक ध्यावहारिक आचार-पद्धित प्रदान करता है परन्तु प्राचीन परम्परा में ऐसा नहीं है।”

तन्त्र के बारे में लेखक की घारणा सत्य है, परन्तु वेदों की निन्दा करके तन्त्र को श्रेष्ठ मिद्ध बरने की पद्धति विद्वानों के अनुकूल नहीं है। तन्त्रों में जो ज्ञान और योग का वर्णन है, वह वैदिक सिद्धान्तों से भिन्न नहीं है, उनका विकास मात्र है। वेदों को अज्ञान मूलक बता कर तन्त्रों को श्रेष्ठ मिद्ध करने का नक्क तो स्वीकार नहीं किया जा सकता परन्तु

ଯହ ବିଶ୍ୱାସ କରନ୍ତି ଏହା ହେଉଥିଲା ପାଞ୍ଚମିତିମୁଦ୍ରା କେବଳ ମେ
ଆତିଥି । କରିଥାଏଇ କେବଳ ଏହି କାହାର କାହାର ଅଧିକ ଧାରା
ବନ୍ଦାରସ୍ୟ ପରିବର୍ତ୍ତନ ହିଁ ।

भारतगणना का विद्युत विकास है। इस विकासी का जल में
दर्श भागों में बहा झुम्हा है। सीढ़िकालारूपम् भे विद्युत पुराने तर्फ़न है।
(१) लघुवीण विद्या (२) चारण्डि विद्या (३) गढ़ विद्या (४) प्रथामिन-
दिया (५) उपर्युक्त विद्या (६) प्राकृतिक विद्या (७) वहर विद्या
(८) खुम्हा विद्या (९) अंत विद्या (१०) विद्युतिकृष्ण विद्या यह एक विद्युतिकृष्ण
मूर्खियों की सामाजिकी है। इस गण्यविद्या के द्वारा जीवे से आपराजयी एवं
विद्युत रूपों द्वारा इस भूमिका में जब्ते, भागने आये हुए हैं। ऐसे जटिल
विवरणों के पात्र होने वे इसी गान। शारीर में हस्ती घोक में करवादा-
गत घुर घेते हैं।

ਤੁਹ ਮਾਰ੍ਗ ਦੇ ਜੀ ਪਹੀ ਦੱਸ ਕਿਵਾਂਦੇ ਥਾਂ ਨਾਮੀ ਦੇ ਚਪਾਲਾ ਹੈ ।
ਗਦਾਹਿ ਭਾਖੂਰੀ ਸਾਗ ਮਾਰ੍ਗ ਪਾਰੋਪ ਜਿਥਾਂ, ਪੇਂਡ ਸਾਗਦਾਗ ਕੇ ਵਾਹਿਆ ਮਾਰ੍ਗ
ਵੰਡਿਆ । ਇਹ ਕਿਵੇਂ ਹੈ ਕਿਉਂ ਜੀ ਜਾਂਕੇ ਪਾਰਾ ਜੀ ਜਾਂਕੇ ਸਿਫ਼ਾਰੋ ਕੇ
ਪਾਸ ਕਰਕੇ ਕਾ ਪਾਲ । ਆਜਾ ਆਜਾ ਹੈ । ਤੁਹ ਮਾਰ੍ਗ ਦੇ (੧) ਬਾਹਾਣੀ (੨)
ਜੰਣਾ (੩) ਭਾਖਾਣੀ (੪) ਕੀਮਾਨੀ (੫) ਗਾਰਥਿਲੀ (੬) ਗਾਰਥੀ (੭)
ਗਾਰੇਵਾਰੀ (੮) ਜੰਗੀ (੯) ਸਾਹੀ (੧੦) ਘਾਮੇਖੀ । ਇਹ ਦਸ ਨਾਮੀ ਦੇ
ਦਸ ਗਹਾ । ਇਥਾਂ ਦੀ ਸਾਗਦਾ ਕੋ ਆਪੀ ਹੈ ।

ਇਨ ਸਾਹਮਣਾ ਪਦਮ ਚਾਰਨ ਹੈ। ਪੇਰੀ ਮੇਂ ਜਿਸ ਤਾਜ਼ਾ ਲੋ ਗੁਰੂਪ੍ਰਕਾਵਾ ਪ੍ਰਤਿਧਾਤਵ ਨਿਆ ਗਿਆ ਹੈ, ਜੋ ਕਿਆ ਲੱਗ ਦੇਂਦੇ ਹੋ ਤਾਹਾਂ ਪਾਂ ਚਾਰਨ ਕਾ ਭਾਵਿਗੁਹਾ, ਆ ਥਾ। ਛੀਡੀ ਜਿਸ ਦਾਨੇ ਕੋ ਨਿਤ੍ਯ ਪਾਂ ਕੀ ਸਾਹਮਣਾ ਪਲਾਹੀ ਕਾ ਰਾਖਿਆਰ ਪੀਂਘਰ ਨਿਆ ਗਿਆ ਹੈ। ਸਾਹਮਣਾ ਕੁਮਾ ਕੇ ਪ੍ਰਦਾਨ ਦੁਰਲੋਚਨ ਅੰਦੀ ਹਾਂਡੇ ਹਾਂਡੇ ਹੁਏ ਹੈ ਪੀਂਘਰ ਸਾਹਮਣਾ ਨਿਹਾਂਗੇ ਅਤੇ ਬਹੁਵਾਹਿਤਾ ਦੀ ਪਾਂ ਕੀ ਵਿਦੇਹਗੁਹਾ ਹੈ।

ਪਾਤ ਕਾ ਹੁ ਹ ਪਲਿਆਰ ਨਿਧਾ ਪਾਂਤ ਅਧਾਸਨਾ ਰਾਮਗਾ ਆਵਾ ਹੈ
ਭੀਏ ਗਦ੍ਦ ਪਾਰਣਾ ਚਲ ਗਈ ਹੈ ਕਿ ਕੇਵਾਰ ਪਾਰ ਸਾਰਦਾਰ ਪਾਲੇ ਛੀ ਪਾਰ ਮਾਡੀ ਹੈ

वास्तविकता ऐसी नहीं है। तत्र में जानक के अनिरिक्त वैष्णव गानुगत्य, और शैव मम्प्रदाय भी है। उसकी उपासना का मूल भी गतिक है। अन मिथु हुआ कि सभी नम्प्रदाय वाले तत्र मावना करते हैं और सभी का मत श्रेष्ठ श्रान्मन माना जाता है।

तत्र-ज्ञान विज्ञान का भटार है। मत्रों का यह प्राकर ही सम-झना चाहिए। मन्त्र शास्त्र के विकास का बहुत श्रेय तत्रों को प्राप्त है। मन्त्र विज्ञान का जितना प्रचार प्रमाण तत्र न किया था, शायद ही किन्हीं शास्त्र न किया है। घर-पर क मत्र मावना को क्रिया रूप देन का क्रम भी तत्र के माध्यम से हुआ है। मत्रों के गुण रहन्यों को खालने का आर्य भ तत्रों ने ही किया है, उनके चमत्कारी लाभों और मिथियों का वर्णन भी उन्हीं म है। यदि यू कह दि मत्र विज्ञान का नियन्त्रियन रूप देन चाहे नहीं है तो इसप कुछ भी अतिरिक्त न होगा।

तत्र। मे दार्शनिक तत्र भी है पन्नु अन्य दशन शास्त्रों की नीति जटिल नहीं उन्हें मुक्तोद्ध और सरल गीता म व्यक्त किया गया है।

मग्न म बग्न और कठिन ने कठिन नाधन प्रणाली का विवान तत्र मे है। ह- मन्त्र के माध्यक क लिए तत्र उचित निर्देशन देता है। मावना का इच्छुक ५१२ भा व्यक्ति इसमें निर्गण नहीं हा सकता। यह दूर आयु के ह- प्रकार की मानसिक मिथिति वाले मावरु के लिए उप-युक्त है।

इनना होते हुए भी जनसाधारण मे अनेकों प्रकार के भ्रम फैले हुए हैं जिनक कारण म तत्र धृणा के पात्र हा गए हैं। कुछ ऐसी मावन प्रणालियों का वर्णन दत्ताया जाता है जो निन्दनीय है। इसका समाधान गह है कि तत्र मात्रिक भाषा मे लिखे गए हैं अन उनक वास्तविक शब्दों को समझना दोगा। इस ज्ञान के अभाव मे ही वह निम्न कोटि के ता नहन है। पन्नु तत्र तत्र ज्ञान का प्रशास दा ज्ञापना ता इन्हें मावन पर के सर्वोत्तम शास्त्र चीज़र करन मे मी मकोच न होगा। अन निरपेक्ष वृद्धि मे इनना अध्ययन और विज्ञेशन आवश्यक है तभी कुछ निहित भन मिथित किया जा सकता है। वास्तव मे तत्र का जितना भी अध्ययन करते हैं उनना ही यह लोक-मान के सूच वार मिथ द्वाने हैं।

तंत्र की प्रामाणिकता।

हिन्दुओं के शास्त्रों में तन्त्र का उच्च स्थान है। कुछ विद्वान् तो इसे वेग की तरह ही प्रागण्य कहते हैं। यदि वेद तन्त्रों के कुछ विरुद्ध भी होते हो, तो भी उन्हे अप्रमाण नहीं ममझा जा सकता। उभी तरह वैदिक सिद्धातों के कुछ विरुद्ध होने पर भी तीत्रों को अप्रमाण नहीं माना जाता। दोनों अपने-अपने स्थान पर प्रतिष्ठित माने जाते हैं। श्रीकण्ठ के शैव भाष्य में वेद और नग के प्रमाण में कोई अतर पाया गया। उन्होंने दोनों के निर्माणिकर्ता शिव को धोषित किया है और वेद को भी शिवागम कहा है। उन्होंने दोनों में केवल इतना भेद माना है कि वेद मार्ग केवल तीन वर्णों के लिए विहित है परतु तत्र में किसी के लिए कोई प्रतिबध नहीं है उनके अनुसार—

वय ते वेदशिवागमयोर्मद न पश्याम वेदोऽपि शिवागम
इति व्यवहारो युक्त तस्य तत्कर्त्त्वात्। अत शिवगामो
त्रैवर्णिकविषय सर्वविषयश्यचेति उभयोरेक एव शिव कर्ता।

... उभार्वाप प्रमाणं भूतो वेदागमो।

(श्रीकण्ठ भाष्य दा४।३८)

अर्थात्—हम वेद और शिवागम के भेद को नहीं देखते हैं। वेद भी शिवागम ही है। ऐसा ही व्यवहार उचित है क्योंकि वह उसी कर्ता का है। इसलिए शिवागम दो प्रकार का है—त्रैवर्णिक विषय वाला और सर्व विषय वाला। दोनों का एक ही शिव कर्ता है। दोनों ही प्रमाणभूत हैं—वेद और आगम।

कुल्लूकभट्ट-मनुमृति के एक प्रसिद्ध टीकाकार हुए हैं। उन्होंने अपनी टीका (३।१) में हरित ऋषि का एक वाक्य प्रस्तुत किया है जो

नवीन पुस्तकों में तो उपलब्ध नहीं होता, परंतु विद्वानों का मत है कि कुल्लूक भट्ट प्रमाणिक टीकाकार है। प्रचीन प्रतियों में यह अवश्य होगा। वाक्य यह नहीं—

श्रुतिश्च द्विविधा, वैदिकी तान्त्रिकी ।

इस वचन के अनुसार हरित मुनि ने श्रुति को दो प्रकार का माना है—वैदिक और तान्त्रिक। इन के अनुसार तथों को भी श्रुति ही मानना चाहिए। जिस तरह वेदों को अपौरवेय माना जाता है, उनके प्रमाण के लिए किसी महारे की अपेक्षा नहीं रहती, उसी तरह तत्र भी स्वयं में प्रमाण हैं। उनकी प्रमाणिकता सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि तत्र और वेद में कुछ मतभेद भी हैं तो वह अलग-अलग प्रमाण हैं। दोनों में कोई वडा-छोटा नहीं है।

कुछ प्राचीन आचार्य तत्रों को स्मृति शास्त्र के अन्तर्गत मानते हैं। शारदा तिलक तत्र के प्रस्त्यात टीकाकार राघव भट्ट की भी यही सम्मति है। वह तत्रों को वेद का उपासना-कारण मानते हैं। वह तत्त्व का प्रमाण स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि स्मृतियों का आधार वेद है। अतः तत्त्व का कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना जा सकता। प्रसिद्ध तत्र दार्शनिक भास्करराय का भी यही मत है। उन्होंने अपने मत का समर्थन करते हुए कहा है कि चूंकि ऋषि जैमिनी के 'पूर्व मीमांसा' (१।३।५) के सूत्राश पर कुमारिलभट्ट भी तत्र वार्तिक के अनुसार प्रेरणा, न्याय, मीमांसा, धर्म शास्त्र, वेद के छ अग्र और चारों वेद" ही धर्म के विषय में प्रमाण माने जाते हैं जिसमें तत्र को स्वतत्र रूप से शास्त्र की सज्जा नहीं दी गई है। इसीलिए इसे स्मृति शास्त्र मानना चाहिए। महर्षि याज्ञवल्क्य की भी यही सम्मति है—

पुराण न्याय मीमांसा धर्म शास्त्राङ्ग मिश्रित ।

वेदा स्थानानि विद्याना धर्मस्य च चतुर्दश ॥

(याज्ञवल्क्य स्मृति १।३)

अथत् प्रमाण—न्याय—मीमांसा—वर्मशास्त्र के अङ्ग मिश्रित-वेद में धर्म की चौदह विद्याओं के स्थान होते हैं।

धर्म-शास्त्र के साथ सम्बन्ध होने पर भी कुछ आचाय अन्य स्मृतियों की अपेक्षा तत्र को विशिष्ट बताते हैं। उनका यह कहना है कि मनु और याज्ञवल्क्य जैसी स्मृतियाँ वेद के कर्मकाण्ड की व्याख्या हैं तो तत्र वेद के ब्रह्म-काण्ड की व्याख्या हैं—

“तत्राणा धर्म शास्त्रेऽन्तर्भुवि”
(वरिवस्या रहस्य प्रकाश)

“तत्रो का धर्म-शासन में अन्तर्भाव है।”

“परमार्थ तस्तु तन्त्राणा स्मृतित्वादिग्नेषेऽपि मन्वदिस्मृतिनामा कर्मकाण्डशेषत्वं तन्त्राणा ब्रह्मकाण्ड शेषतामिति सिद्धान्तात्”

(भास्करराय प्रणीत सौभाग्यभास्कर)

“परमार्थ रूप से तन्त्रों का स्मृत क अविशेष होने पर भी मन्वादिस्मृतियों का कर्मकाण्ड शेषत्र और तन्त्रों का ब्रह्मकाण्ड शेषत्व होता है यही सिद्धात है।”

पश्चात्य विचारों से प्रभावित कुछ विद्वान् तन्त्रों को प्रमाण नहीं मानते। उनकी दलली यह है कि तन्त्रों की भाषा अपेक्षाकृत सरल है, अतः वह प्राचीन आर्यग्रन्थ नहीं है। वास्तव में यह कोई विशेष प्रमाण नहीं है। व्याम का ही उदाहरण ले ले। उन्होंने वेदों को चार भागों में विभक्त किया है। इससे उनकी उत्कल्पन विद्वान् प्रकट होती है। उन्होंने वेदान्त सूत्रों का निर्माण किया। महाभारत और मागवत भी उनकी ही रचनायें मानी जाती हैं। इनकी भाषा में अन्तर प्रतीत हाता है। इसी अन्तर से यह शका उभरने लगती है कि इन ग्रन्थों के प्रणेता अलग-अलग व्यास वृष्ट हैं। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। उद्देश्य के अनुकूल भाषा का परिवर्तन किया जा सकता है। विषयों के अनुसार भी अलग-भाषा सरल व गम्भीर हो सकती है। अतः भाषा रूप सराता जो दखन तत्रों को अप्रमाण कहना निराधार कल्पना है। यह तो तन्त्र म ही अनेकों स्थानों पर वहा गया है कि कलियुग में जब वेदा को समझना ठिक हो

गया है। तो के रहस्य समझाने के लिए ही तत्रों का अविर्भाव हुआ है।

तत्र माहित्य को आर्ष मानने में स्वामी दयानन्द का “सत्यार्थ-विवेक” में निखार है “जिस प्रकार परमात्मा द्वारा वेद कथन सम्भव हो सकता है, उसी प्रकार उनके अश रूप शिवभाव द्वारा तत्रों का होना भी सम्भव है। अपौरुषेय, अनादि अन्नान्त और ज्ञान ज्योति पूर्ण वेद समूह जिस प्रकार जगदीश्वर परमात्मा की इच्छा में ऋचाओं के रूप में ऋषिगण द्वारा प्रकाशित हुए थे, उसी प्रकार श्री शिव वी इच्छा से उनके भक्त सिद्ध मुनिगण द्वारा तत्र ग्रन्थों का भी प्रकाश होना पूरणरूपेण युक्ति युक्त है।

इस तरह में तत्र की प्रमाणिकता में कोई सदेह नहीं रह जाता।

• • •

तन्त्र की प्राचीनता

तन्त्र का आविभव और पचार प्राचीन काल से होता आया है। कई विद्वान् जो इन्हे वेदों जिनना प्राचीन स्वीकार करते हैं। जिस तरह वेदों को ईश्वर कृत माना जाता है। उसी तरह तन्त्रों को भगवान् शिव की रचना बताई जाती है। इससे इनकी प्राचीनता रवन मिछ हो जाती है।

डा० भुवनेश्वर नाथ मिश्र माधव के अनुसार "प्राचीनता और व्यापकता की इष्टि से वेदों के बाद तन्त्रों का ही स्थान है। यह कहना अनुचित अथवा अप्रासादिक नहीं होगा कि बोढ़ घम के बहुत पहले से इस देश में तन्त्रों का प्रभाव जम चुका था। भगवान् शङ्खराचार्य ने जहाँ-जहाँ मठ स्थापित किए, वहाँ-वहाँ साधना के मूलाधार के रूप में तन्त्रों की प्रमुखता अध्युरण है और कहना चाहे तो कह सकते हैं कि भारतीय सकृति की आध्यात्मिक साधनाओं के मूल प्राण-रूप में तन्त्र अनादि काल से किसी रूप में चले आ रहे हैं।"

तन्त्र के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के मम्बध में अलग अलग विचार करना हागा।

वैष्णव-सम्प्रदाय

वैष्णव तन्त्रों में पाठ्चरात्र प्रसिद्ध है। इसका दूसरा नाम 'भागवत धर्म' और 'सात्त्वत धर्म' भी है। महाभारत-मील पद में 'सात्त्वत' विधि का वर्णन आता है—

मात्त्वत विवि माम्थाय गीता मवर्षेण य ।

द्वापरस्य युगस्थान्ते आदी कनियुगम्य च ॥

अर्थात् "सात्त्वत विधि में समामिथि रोग जो गति सवपण में

होती है वह द्वापर युग के अन्त में और कलियुग के आदि में होती है।”

महाभारत के शान्ति पर्व अध्याय ३३५-३४६ में नारायणोपास्थान का उल्लेख आता है जिसमें पाञ्चरात्र सिद्धात का स्पष्टीकरण दिया गया है। इसके अनुमार नारद स्वेत द्वीप में जाकर नारायण ऋषि में इसकी शिक्षा प्राप्त करते हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण (दा३।१४) में ‘सात्त्वत’ शब्द आता है—

“एतस्या दक्षिणस्या दिशिये के च सत्त्वता राजा नो भोज्यायैव ते अभिषिच्यन्ते, भोजेति एनान् अभिषिच्यन्त आचक्षते।”

अर्थात् “इस दक्षिण दिशा में जो कोई सत्त्वत राजा ये त्रे केवल भोज्य के ही लिये अभिपिक्त किये जाते हैं। इन अभिपिक्तों को भोज हो ऐसा कहा जाता है।”

इस से स्पष्ट है कि पाञ्चरात्र महाभारत और ऐतरेय ब्राह्मण से पहले के ही हैं।

उत्पल ने अपनी पुस्तक ‘स्पन्दकारिका’ में ‘पाञ्चरात्र उपनिषद्’ और ‘पाञ्चरात्र श्रूति’ का उल्लेख किया है। वह दशम शताब्दी के हैं। अत यह उसमें पहले के तो हैं ही। यमुनाचार्य ने अपनी कृति ‘आगम-प्रमाण्य’ में पाञ्चरात्र सहिताश्रो के उदाहरण दिए हैं। वह ११ वी शताब्दी के हैं। अत इसमें पहले के होने में कोई सदेह ही नहीं है।

इरिडयन एन्टीक्वरी १६११ पृष्ठ १३ के अनुसार यूनानी ‘हेलि-ओडोर्स’ ने भागवत उपाधि ग्रहण की थी। इसका पता विक्रम पूर्व दूसरी शती में वेम नगर के शिलालेख ने चलता है।

विदेशों में भी प्राचीन काल से वैष्णव धर्म का प्रचार रहा है। कोई समय पा जब नारे दक्षिण पूर्व एशिया में यह धर्म छा गया था। वाली में इस धर्म का व्यापक प्रचार था। ‘विष्णु, पञ्चर’ और ‘विष्णु मृत्व’ नाम के म्नोध वहाँ के पड़िनों में काफी प्रसिद्ध थे। रामायण और महाभारत का वर घर में प्रचार है और तत्स्मवन्वी नाटकों का अभिनय होता है।

कम्बोदिया में वैष्णव धर्म व्यापक रूप से फैला हुआ था। इसका प्रमाण वहाँ के मन्दिरों में आज भी देखा जा सकता है। मन्दिरों में समुद्र-मथन का हश्य और विष्णु लोक की स्थापना वहाँ वैष्णव धर्म के प्रसार का प्रतीक है। हाची में विष्णु का मन्दिर था। पीकुक में विष्णु की मूर्तियाँ मिली हैं। वहाँ के राजा उदधादित्य द्वितीय ने विष्णु के मन्दिर बनवाए थे। एगकोरवार विश्व का सबसे बड़ा मन्दिर माना जाता है। वह विशुद्ध रूप से वैष्णव मन्दिर ही था। वैष्णव काव्यों की रचना से वहाँ वैष्णव धर्म का विशेष प्रचार हुआ।

थार्डलैंड में बौद्ध मत की स्थापना होने पर भी वैष्णव धर्म का प्रचार रहा है। चौथी शती के सस्कृत शिलालेख तथा विष्णु की मूर्तियाँ मिली हैं। लवपुरी के मन्दिर में विष्णु की मूर्तियाँ स्थापित हैं। श्याम

राजा 'राम' बौद्ध था परन्तु फिर भी उसने विष्णु की मूर्तियों की स्थापना कराई थी। वहाँ के राज सिहासन एर भगवान विष्णु की गरु-डारूढ़ मूर्ति है। बकाक के मन्दिर के बाहर विष्णु की मूर्तियाँ हैं।

जावा में विष्णु के अवतार 'राम' के प्रति इतनी श्रद्धा थी कि उन्हे वह विदेशी नहीं मानते थे, वरन् राम की जन्म भूमि जावा ही मानते थे। राम कथा का प्रचार वहाँ घर-घर में था। पाचवी शती के राजा 'पूर्ण वर्मन' के वैष्णव होने का पता चलता है। एक अन्य अभिलेख में विष्णु के चक्र, शख, गदा पद्म का वर्णन है। श्री विजय साम्राज्य के शीलेन्द्र राजाओं ने एक विशाल मन्दिर का निर्माण कराया था जिसमें विष्णु की मूर्ति स्थापित थी।

इण्डोशिया में रामायण और महाभारत का श्रच्छा प्रचार था। वहाँ की नृत्य नाटिकाओं में इनकी कथाओं को ही आधार बनाया जाता था।

चम्पा में भी वैष्णव धर्म का प्रचार था। विष्णु पत्नी लक्ष्मी वहाँ की मान्य देवी है। विष्णु वाहन गरुड़ की भी वहाँ श्रच्छी मान्यता है। विष्णु को वहाँ गोविन्द, नारायण, हरि और पुरुषोत्तम नामों से स्मरण किया जाता है।

मलाया में विष्णु मन्दिरों की स्थापना हुई थी। वहाँ के साहित्य में विष्णु कथाएँ प्रचुरता से उपलब्ध होती हैं। वहाँ विष्णु की मूर्तियों के चार हाथ पैरों में शश, चक्र, गदा, और पद्म हैं।

वर्षा में भी विष्णु की मूर्तियाँ उत्तरव्य हुई हैं। बैजाली के चन्द्र वश के राजा आनन्द चन्द्र की मुद्राश्रो पर भावान विष्णु के चित्र खड़े हुए हैं। पजाव में विष्णु की मूर्तियाँ उत्कीण हैं।

विष्णु ने कच्छप में अवतार घारण किया था। जापान में ब्रह्म का रूप, कच्छप जैसा माना जाता है। चीन में कच्छप को ईश्वर का चित्र माना जाता था। (Myths of China & Japan) के अनुसार वहाँ कच्छप-अस्थि राजकीय चिन्हों के प्रयोग में आती थी।

विष्णु का मत्स्य अवतार भी है। मिस्र में इसे पवित्रता व पुरुष की जननेन्द्रिय का प्रतीक माना जाता था। वहाँ की माता 'आइसिस' की मूर्तियों के मिर पर विश्व की जनन-शक्ति के प्रतीक में मत्स्य की स्थापना की जाती थी। सुमेर की यूफ्रट्स नदी के किनारे पर वसे 'ऐ रिद' नगर के 'या' द्वता की याकृति 'मत्स्य' जैसी थी।

विष्णु के वाहन गरुड हैं। सुमेर में गरुड की तरह ही 'जू' पक्षी की उपाधिना की जाती थी। भारतीय पुराणों में क्या आती है कि गरुड पेड़ों से लेकर उड़ जाता था वैसे ही 'जू' पक्षी भी सृष्टि के प्रभ्वर लेख (ट्रनलट् आफ क्रियन) लेकर उड़ गया था। महाभारत में इन्द्र और गरुड के युद्ध की कथा आती है। इन्द्र विद्युत के देवता माने जाते हैं। सुमेर में विद्युत के देवता 'रम्मन' और 'जू' पक्षी के युद्ध का वर्णन आता है।

उपरोक्त उदाहरणों से वैष्णव धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है।

शैव सम्प्रदाय

शिव या रुद्र की आराधना यहाँ वैदिक काल से ही चली आ रही है। वामन पुराण (६।८६।६१) में चार शैव सम्प्रदायो—शैव, पाशुपत काल दमन, तथा कापालिक का वर्णन है। पाशुपत के एतिहासिक सम्प्राप्तक

का नाम लकुलीश ब्रह्मवा लकुलीश बताया जाता है। एतिहासिकों ने लकुलीश का समय १०५ ई० के लगभग मिछ्च किया है। इसी समय कुपाण नरेश हुविष्क राज्य करते थे। उनके सिवाँ पर लकुटधारी शिव के चित्र उत्कीर्ण उपलब्ध होते हैं। शैव सिद्धात मत का दक्षिण में बहुत प्रचार है। इसके व्यापक प्रचार का श्रेय चार नन्तो—सन्त अप्पार, सत ज्ञान सम्बन्ध, सन्त सुन्दर मूर्ति और सन्त माणिक्क वाचक को है। प्रचारक सन्तों में ८४ का नाम आता है। इनमें से प्रथम सन्त नवकड़ पहली शती के, दूसरे सन्त करणप्प दूसरी शती के बतलाए जाते हैं। कश्मीर में प्रचलित शैव दर्शन की “प्रत्यभिज्ञातत्र” कहा जाता है। इसके मूल प्रवर्तक वसुगुप्त का समय ८०० ई० के लगभग बताया जाता है। वसुगुप्त के एक शिष्य कल्लट नवम शती के उत्तरार्द्ध के हैं। इस मत के प्रसिद्ध दार्शनिक अभिनवगुण ६५०—१००० ई० के बताए जाते हैं।

भारतीय सस्कृति के मूल ग्रन्थों—वेद, अरण्यक और उपनिषद् आदि में तो प्राचीन काल से ही शिव का वर्णन आता है। यजुर्वेद के १६ वें अध्याय के ६६ मन्त्रों में शिव के विभिन्न प्रचलित रूपों का विशद वर्णन मिलता है। तैत्तिरीय आरण्यक (१०।१६) में रुद्र दर्शन का स्पष्टीकरण है।

“सर्वो वै रुद्र तस्मै रुद्राय नमो अस्तु”

अर्थात् “सभी रुद्र हैं अतः उस रुद्र के लिये नमस्कार है।”

रुद्राक्षजावालोपनिषद् में रुद्र के प्रिय आभूषण रुद्राक्ष की उत्पत्ति आदि का वर्णन है। दक्षिणामूर्त्युपनिषद् में महर्षि मार्कण्डये ने शौनकादि ऋषियों को चिरन्जीवी होने के लिए शिव तत्व का उपदेश दिया है। शरयोपनिषद् में शिव को सब का प्रभु, श्रेष्ठ, पिता, परमेश्वर, ब्रह्मा का भी धारण कर्ता, वेदों का निरायिक, और देवताओं का पिता कहा है—

प्रभु वरेण्य पितर महेश यो ग्रह्याण विदधाति तस्मै। वेदाख्च सर्वन्प्रिहणोति चाण्य त वै प्रभु पितर देवतानाम् ॥ २ ॥

रुद्रोपनिषद् में ब्राह्मण की कसौटी यह बताई है कि जो शिव की

‘त्राह्यग शिव पूजरता’

कालाग्नि रुद्रोपनिषद् में त्रिपुरुण्डका विविविधान लिखा गया है। नील रुद्रोपनिषद् में नीलकठ भगवान का वर्णन है। रुद्र हृदयोपनिषद् में शुकदेव के पूत्रने पर व्यामङ्गी ने कहा कि भगवान रुद्र में भव-देवता निवास करते हैं—

सर्वदेवात्मको रुद्र सर्वे देवा शिवात्मका।

अथर्व उपनिषद् में शिव-दर्शन का उल्लेख करते हुए स्वयं शिव ने कहा कि ‘मैं एक हूँ। मैं भूत वर्तमान और भविष्य काल में हूँ। मेरे अतिरिक्त कही कुछ भी नहीं है’—

सोऽग्नवीदहमेकं प्रथम मास वर्तमिच भावज्यामि च
मात्य कश्चित्मत्तो व्यतिरिक्तं इति।

श्वेताश्वतरोपनिषद् (३।२) में कहा है कि जो अपनी शक्तियों से सब लोकों पर प्रभुत्व रखता है, वह रुद्र एक ही है—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्तु

ये इमाल्लोकानीशत ईशनोभि।

अथर्वा “रुद्र एक ही है उसका कोई दूसरा रूप नहीं है जो इन लोकों का ईश होता है और ईश जी शक्तियों से शाशन किया करता है।”

पांच मुख वाले मयोजान — शिव की भावना की जाती है। वौद्धों ने वज्र सत्त्व, रत्नमध्यव, आमिताभ, अमोघसिद्ध तथा वैरोचन पांच ध्यानी वृद्धों और मध्युश्चों, अवलोक्तेश्वर, वज्रपाणि आकाशगर्भ, क्षतिगर्भ, मैत्रेय, मामन्तभद्र आदि वौत्रि सत्त्वों की कल्पना की गई। देवताओं की कल्पना के साथ उनकी पूजा के विविविधान और यन्त्र भी बनाए। तत्त्व की तरह मत्र जप, मड्डल रचना, उपचार, अभिषेक, वीजभरस, मुद्रा प्रदर्शन, ध्यान आदि का विम्तृत विविविधान उपलब्ध होता है। वौद्धों के मत्र भी सस्कृत के होते हैं।

किदेशों में भी शिवोपासना प्राचीनकाल में फली हुई थी। रुद्र की यजुर्वेद ३५।८ में व्रथमव कहा गया है—

अब रुद्रमदीमह्यव देव ऋम्बकम् । यथा नो वस्यसस्कर-
द्यथा न श्रयसस्करद्यथा नोव्यवसाययत् ॥

पापियों को सत्स करने वाले, तीन नेत्र वाल अथवा जिनके नेत्र
से तीन लोक प्रकाशित होते हैं, शत्रु-जेता प्रणियों म आत्मा क रूप में
विद्यमान एव स्तुत रुद्र को ग्रन्थ देवता आ। स प्रयक अथवा उत्तम जान-
कर उन्हे यज्ञ भाग देते हैं। वे हमें श्रेष्ठ निवास से युक्त करें और हमें
समान मनुष्यों में अच्छे बनावें और हमें श्रेष्ठ कर्मों म लगावें। इसलिए
हम इनको जपते हैं ।”

मिथ्र के देवता ‘असरआ’ अथवा ‘आमाथरिम’ को भी ‘ऋम्बक’
की सज्जा दी गई थी ।

पुराणों में रुद्र की पहली पत्नी दक्ष युक्ती सती का नाम आता है।
मित्र के प्राचीन देवता ‘एनुमु’ की पत्नी का नाम भी ‘सनी था’ जो
आकाश देवी मानी जाती थी। सर्व शिव का प्रसिद्ध अभूपण हैं। अथव
वेद में पृथ्वी को दिव्य सर्पों से घिरा हुआ बताया गया है। चीनी धार्मिक
कथाओं में भी ऐसा ही वर्णन आता है ।

काठमाडू का पशुपतिनाथ का मन्दिर नेपालियों के लिये वाराणसी
है। यहाँ साढ़े तीन फीट ऊँचा शिवर्निग स्थापित है। इससे अनको
कथाएँ सम्बद्ध हैं। एक कथा के अनुसार कहा जाता है कि ब्रह्मा ने
महादेव को कैलाश पर काफी सख्या में गाये दी थी, तभी से उनका
नाम पशुपतिनाथ पड़ा। यहीं पर ही वागमती का प्रवाह दिखाई देता है
जो दो पहाड़ियों के बीच बहती है—एक का नाम मृगस्थली है और
दूसरी का कैलाश है। पशुपतिनाथ के प्रति नेपाल में अपार श्रद्धा है।
लाखों की सख्या में यात्री हर वर्ष उनके दर्शन के लिये आते हैं, जिनमें
भारत के यात्री भी सम्मिलित होते हैं। यहाँ जगह-जगह पर शिव-
मन्दिर हैं। पर्वतों का नामकरण भी शिव के आवार पर है जैसे कैलाश
पर्वत, शिवपुरी पर्वतमाला आदि। शिव की जटाओं से निकलने वाली
गगा के प्रति यहाँ गहरी आस्था है। यह भूमि मती पार्वती की ब्रीड़ा-

स्थली और शिव का तपोन्ध्यन रही है। इसलिए इसके बातावरण में शिव-ही-गिव गौंजत हैं।

प्राचीन काल में कम्बुज हिन्दू राष्ट्र था। भारतीयों ने वहाँ अपना उपनिवेश स्थापित किया था। वहाँ के आकाश में हिन्दुत्व की घनि गौंजती थी। वहाँ के शरीर तो हिन्दुत्व की सजीव मूर्ति थे ही, उनकी भावनाएँ मन व बुद्धि भी हिन्दुत्व के रंग में रंगे हुए थे। उनके रीति, रिवाज, विद्वास व परम्पराएँ भी हिन्दुत्व से ओत-प्रोत थी। वहाँ के प्राचीन इतिहास से हमारा सिर ऊँचा उठता है, एक अद्भुत गौरव की अनुभूति होती है।

कम्बुज की राजधानी श्रेष्ठपुर में श्रूत वर्मा ने भद्रेश्वर शिव का मन्दिर बनवाया था। श्याम की सीमा पर ऋष्वकेश्वर महादेव की स्थापना को श्रेय भववर्मा दे रखा है। यह नासिक के ऋष्वकेश्वर महादेव में मिलता है। हर्ष वर्मा द्वितीय ने मेवन में शकर और पार्वती के मन्दिर बनवाये थे। सूय वर्मा प्रथम ने शिवकपिलेश्वर का विशाल मन्दिर निर्मित कराया था उदयादित्य द्वितीय ने भी शिव मन्दिरों के निर्माण का कार्य कराया था। वेशोन में भगवान शिव के विषपानादि की मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। वहाँ के नगर भी गिव के नाम पर हैं—जैसे शम्भुपुरी। हरिहरालय तो वहाँ की राजधानियों में ही रही है।

कम्बुज की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में एक गाथा है कि प्राचीन काल में एक आर्य राजा कम्बु स्वमूर्य हर्ष आए। वह शिव का अनन्य उपासक था। गिव की कृपा से उसे मीरा नाम की स्त्री प्राप्त हुई। उसकी मृत्यु पर उसे बहुत दुख हुआ। एक भयकर स्थान में उसने चारों ओर नागों से घिरा हुआ देखा। उन्हें मारने के लिये उसने तलवार उठाई तो नागराज ने कहा कि हम और तुम तो एक देव के उपासक हैं। हम तुम्हें नहीं काट सकते। तुम प्रसन्नता पूर्वक यहाँ निवास करो। कम्बुज का विवाह नागराज की कन्या से हुआ था। उसने अनेकों शिव-मन्दिर बनवाये थे।

सोम शर्मा ने विधि-विधान सहित त्रिभुवनेश्वर की प्रतिष्ठापना कराई थी। राला महेन्द्र वर्मा शैव था। एक शिलानेम में शिव-पद के दान का वर्णन है।

बाली में शिव और बुद्ध दोनों की पूजा होती है। इसलिए वहाँ के ब्राह्मण-वर्ग दो भागों में विभक्त है। शिव पूजन कर पांच भागों में बैठे हुए हैं। शैव धर्म वहाँ व्यापक रूप में फैला हुआ है। वहाँ बुद्ध को शिव का छोटा भाई मानते हैं। जब कोई धार्मिक आयोजन होता है तो वहाँ ४ शैव पुरोहित और एक बुद्ध पुरोहित बुलाया जाता है। उमा की भी वहाँ अच्छी मान्यता है। सूर्य मेवन वहाँ की प्रवान पूजा मानी जाती है। वह शिव की ही पूजा है न कि सूर्य की। यहाँ शैव व तान्त्रिक क्रियाओं का प्रचलन है। उनका इष्ट मन्त्र है—“ॐ महादेवाय नम” तथा “ॐ शिवाय नम”। शरीर शुद्धि का मन्त्र है—“ॐ प्रसाद स्थित शरीर-शिव-शुचि-निमालय नम”। वह प्रत्येक अग पर भस्म घारण करते हैं। जिम प्रकार यहाँ पर गणेश आदि की मूर्तियाँ व चित्र द्वारों पर देखे जाते हैं, उसी प्रकार से यहाँ के द्वारों पर शिव आदि देवताओं के दर्शन होते हैं। वहाँ के माम ग्राम में ब्रह्मा और विष्णु के साथ शिव की मूर्तियों की प्रतिष्ठापना है। प्रत्येक घर में वह चित्र रूप में विद्यमान है। शिव की जटाओं से निकलने वाली पवित्रतम नदी गगा के प्रतीक रूप में वहाँ तीर्थ गगा नाम से एक तालाब है जिसके जल को वह पवित्र मानते हैं। गगा के प्रति गहरी आस्था का प्रतीक वहाँ का भूतपिशाच नृत्य है। इसमें दैवी नृत्य करने वाला अपन शरीर में भाला मार देता है जिसे शक्तिशाली व्यक्ति भी निकालने में असमर्थ रहता है। परन्तु मन्दिर का पुजारी ‘हे गगा-हे गगा’ कहता हृष्टा धाता है और कुछ मन्त्रों के उच्चारण से, गगा-जल से उसे छीटा देता है। भाला निकल जाता है और गगा-जल का ही लेप कर देने से वह धाव अच्छा हो जाता है। यह भावुकता नहीं है। एक भारतीय यात्री श्री के० के०

आनंदेन की आँखों देखी बठना है। इस सम्बन्ध में एक लेख 'धर्मयुग' में छपा था।

लाश्रोम की वन्य लातियाँ और आदिवासी शिव को अपना आचार्य देव मानते हैं। वहाँ के किसान भी उन्हें अपना इष्टदेव मानते हैं। हर वर्ष जब वर्षा का आरम्भ होना है और खेतों में हल चलाने की आवश्यकता अनुभव होनी है तो वह लोग लिंग-पूजा के व्रत में एक महावृ उत्सव मनाते हैं। जिस तरह से भारत में प्रत्येक धुम कार्य को ईश्वर की आराधना ने आरम्भ किया जाता है ताकि उसमें अफलता प्राप्त हो, लाश्रोम के किसान लिंग-पूजा करके अपन कार्य का धुमारम्भ करते हैं ताकि कल्याण के देवना शिव उनको अच्छी खेती करने में महायक सिद्ध हो। उनकी वार्गा धर्ति फल नानी है तभी हजारों वर्षों से वह इस प्रथा का चलाने आ हे है। आज भी यह प्रथा वहाँ जीवित-जाग्रत है। वह लोग इस अपनां जीवन साथी बनाए हुए हैं।

यार्डीनेरेट और भारत में प्राचीन नाम्नुक्ति सम्बन्ध हैं। शिवोपासना का वर्त्ती व्यापक प्रचार था। चौथी शताब्दी के एक सम्भूत शिलालेख से शिव की मूर्ति उपलब्ध हुई है। लवपुर्णि के मन्दिर में शिव की मूर्ति म्यापिन है। यार्ड का राजा राम बीद्र वर्माविलम्बी या परन्तु फिर भी उसने शिव की मूर्तियों की म्यापना कराई थी। वकाक के बाट (मन्दिर) के बाहर शिव लिंग और नन्दी की मूर्तियाँ हैं। आज भी भगवान शिव की मूर्ति उच्च म्यायामय के सामने म्यापिन है जिनकी जटाओं में गगा की विमल धारा प्रवाहित हो रही है। श्याम की नीमा पर एक शिव लिंग मिला है जिसकी पीठिका पर लेख के देवने से पता लगता है कि भव वर्मा ने व्रम्बकेश्वर शिवलिंग को प्रतिष्ठापित किया था। 'अयुच्या' में खड़ी एक शिव की मूर्ति मिली है।

नज़र वर्ग का भी राज्य रहा है, जो जैव मतावलम्बी थे। वहाँ के मन्दिरों में विष्णु और ब्रह्मा की मूर्तियों के नाम शिव की मूर्तियाँ

भी उपलब्ध होती हैं। वहाँ के साहित्य में अन्य देवताओं के साथ शिव व नन्दी की कथाएँ प्रचुरता से मिलती हैं। गगा पर वहाँ के निवासियों की अपार श्रद्धा है। वहाँ के शिव त्रिशूलधारी हैं। गणेश हाथी की सूँड से सुसज्जित हैं। ७३२ ई० के एक सस्कृत के शिलालेख से स्पष्ट है कि मतरम के राजा सजय ने कुंजर कुञ्ज में एक शिवलिंग की स्थापना की थी।

शिव की उपासना का अन्त मलाया में कैसे हुआ, इसका उल्लेख करते हुए श्री रघुनाथसिंह ने लिखा है कि “शिव को कुरान वर्णित हजरत सुलेमान के समकक्ष लाया गया। अल्लाह और कुरान का अस्तित्व पृथ्वी की रचना के पहले माना गया। कालान्तर में शिव को एक मूर्ति-पूजक जिन का रूप दिया गया, अर्थात् शिव से अल्लाह नाराज हैं क्योंकि वह प्रतिमा-पूजक हैं। मूर्ड जनता ने इसे ही सत्य समझा। सुलेमान तथा शिव दोनों को समकक्ष समझने के स्थान पर सुलेमान को अल्लाहका प्रेमी और शिव को द्वोही बना दिया। द्वोही की कौन पूजा करेगा? शिव को जनता भूल गई।”

बर्मा में शिव के कैलाश को भी प्रहण किया गया है। वैशाली के चन्द्र वश के राजा आनन्दचन्द्र की मुद्राओं पर शिव की प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। बर्मा निवासी बौद्ध और हिन्दू मत दोनों को मानते थे, शैव मत भी वहाँ प्रचलित था।

हिन्द चीन पर १५०० वर्ष तक हिन्दुओं का राज्य रहा है। यहाँ के कुछ उपलब्ध शिलालेखों से पता चलता है कि उपनिषद् की हेमवती उमा और महेश्वर की पूजा का प्रचार यहाँ काफी था। शिव यहाँ महादेव, शिव, देव लिंगेश्वर, धर्म लिंगेश्वर, पशुपति श्रादि नामों से पूजे जाते थे। इन दिनों भी वहाँ के साहित्य में शिव-पुराण और लिंग-पुराण की कथाएँ पाई जाती हैं।

जापानी विद्वान् 'तकाकसु' ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है, कि जापान के आईस नगर में लिंग-पूजन होता है।

प्राचीन काल में लका भारत का एक श्रग रहा है। वहाँ भी शिव-लिंग की उपासना प्रचलित है।

जावा के कुञ्जर कुञ्ज माग में शैव-मन्दिर स्थापित है। एक अभिलेख में त्रिनेत्रधारी शिव के समान देवता खड़े प्रार्थना कर रहे हैं, जिनके मस्तक पर चन्द्रमा शोभायमान है। उन्हें चमत्कारों के केन्द्र, श्रेष्ठता के प्रनीत, सृष्टि के रचयिता, स्वर्ण शरीर वाले, पापों के नाश करने वाले, ससार के नियम बनाने वाले, धर्म के उद्गम केन्द्र, भौतिक मुख, शान्ति व इच्छाओं की पूर्ति करने वाले बताया गया है। इससे स्पष्ट है कि जावा में शैव मत का प्रचार था और भगवान् शिव के प्रति उनकी दृढ़ आस्था थी।

मगोलिया के मन्दिरों की छतों पर नामों के चित्र अकित हैं। मन्दिरों पर भारतीयता की स्पष्ट छाप है। शिव की जटाओं से निकलने वाली गगा के प्रति वह लोग अदृष्ट आप्या रखते हैं। इसे दिव्य नदी मानते हैं और उसके जल को साक्षात् अमृत। उनके कोई पूर्वज भारत आकर गगा-जल ले गए थे और उसकी एक-एक वूँद को उन्होंने अपनी चाय में मिला लिया। उस गगा-जल मिश्रित चाय का कुछ अश वह नित्य बचाकर रख देते हैं और चाय बनाकर उसमें मिनाकर पीते हैं। इस तरह मेरे सैकड़ों वर्षों से वह गगा-जल मिश्रित चाय पीते हैं। डा० रघुवीर जब मगोलिया गए तो वह जानने पर कि वह भारत से आए हैं, लोग झुककर उनके चरण कूरा थं और कहते थे “आप गगा के देश के पूज्य व्रात्युण हैं। हमारे बड़े भाग्य हैं जो हमारी भूमि में आपके चरण पड़े हैं।”

तिब्बत भारत का पड़ोसी देश है। इसकी भाषा, सस्कृति भारत से प्रभावित थी। जब बौद्ध धर्म भारत में तीव्र गति से फैला और बौद्ध प्रचारक एशिया के अन्य देशों में भी प्रचारार्थ गये तो सारे

देश ने इनका स्वागत किया। इससे पहले 'वोन' धर्म था जो वैदिक-शैव सम्प्रदाय का विंगड़ा हुआ रूप था, जिसमें जादू-टोने आदिका वाहूल्य था। तिब्बत-सम्राट ने नालन्दा विश्व-विद्यालय के धार्चार्य शातरक्षित को बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए बुलवाया, परन्तु प्रकृति ने उनका साथ न दिया। प्राकृतिक उपद्रवों के कारण उनका आगमन मदेहास्पद प्रनीत होने लगा। अत आचार्य पद्ममध्यव ने निमन्त्रित किया गया, जो एक योग्य भारतीय तान्त्रिक थे। तिब्बत में इनका इतना कौचा स्थान है कि वहाँ के लोग उन्हे सदेह अमर मानते हैं। लामा धर्म के चलाने वाले यही थे।

ऐसा भी कहा जाता है कि विक्रम विश्व-विद्यालय में अवलोकितेश्वर का मन्दिर था जहाँ और तात्रिक देवी-देवताओं के भी मन्दिर थे, जिनकी संख्या ५३ बताई जाती है। तिब्बत में वज्रयान का प्रवेश यही से हुआ।

तन्त्र का प्रवेश तिब्बत में कब हुआ? इसके बारे में अनेको मत है। ऐतिहासिकों का कहना है कि श्री चक्रसम्भार नाम गुरुओं की परम्परा का अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि अनुमानत ६० ६६३ के समय वहाँ शाक्य सम्प्रदाय की स्थापना हुई होगी।

विक्रम शिला के तान्त्रिक आचार्य दीपकर श्रीज्ञान ने तिब्बत में आकर अनेको भारतीय पुस्तकों का तिब्बत की भाषा में अनुवाद किया था। तिब्बत में तन्त्र को शूण् युद् कहा जाता है। इसके द७ भाग बताए जाते हैं, जिनमें उपासना, पद्धति, मन्त्र, कवच, स्तोत्र आदि का विस्तृत विवेचन है।

यहाँ शिव-जक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाली अर्धनारीश्वर जैसी मूर्तियाँ तिब्बत में उपलब्ध होती हैं, जिन्हे मव्-युम् कहते हैं।

तात्रिक बौद्धों के प्रमुख यन्त्र "३० मणि पद्मे हुम्" की वहाँ विशेष प्रकारसे उपासना होती है। मन्त्र-जपका माध्यम वहाँ एक चरखी होती है जिस पर हजारों की सख्ती में मन्त्र लिखे रहते हैं। उसको लामा धुमाते

रहते हैं। नामांग्रो द्वारा चर्ची के इस प्रकार पु मने को श्री मन्त्र-जप माना जाना है।

अब तिव्वन में भी योग्य तात्रिक भिन्न हो गए हैं। वे प्रकाशीन गुफाओं में एकान्तवास चर्क घोन नपञ्चयों करते थे। इनके एकान्तवास की अवधि २०-४० वर्ष की होती थी। तिव्वन के एक भिन्न तात्रिक जे-कुन्-रे-पा के एकान्तवास का वर्णन डा० मेन हेडिन ने अपनी पुस्तक 'द्वारा लिमालप' में किया है। उन्होंने यह भी लिखा था कि १८०६-७ ई० में वहाँ नीन-चार सौ एकान्तवासी रहम्यी थे, जिनके गुफाओं में प्रविष्ट होने पर मदीव के लिए द्वार बन्द कर दियं गये। केवल एक छिद्र य उन्हें भोजन दिया जाना था।

जब से चीन का नाम्राज्य तिव्वत में हूँगा, ऐसे केन्द्रों का विवर होना स्वाभाविक भी है।

कानुन के तीर्यों के नाम में ही पता चलता है कि वहाँ कभी शिव के उपासक काफी संख्या में अवश्य रहते होंगे। दर्गा यक्कर या शक्कर में स्थित मानसगोवर है। लोगान के पास वाण्णनगा है। तायकुर्गन और एवक के बीच 'चक्र आव' नाम से शिवजी का चशमा है। सुराय खाजा के पास कलाम नगर में जटायक्कर है।

अरब में काफी बच्चा ये शिवलिंग मिलते हैं। यह शिवलिंग उन्हें बृहन्काय होने थे कि उन्हें एक स्थान में दूसरे स्थान पर ले जाना भी एक नमस्या होता था। यही काला है कि शिवोपासना के प्रति आन्ध्यान - हने पर भी वे शिवलिंग आज भी उपस्थित हैं और उन्हें दूसरे नाम से पूजा जाता है और ऐसा कहा जाता है कि मनका शरीर में "भग-ए-अनश्वद" नामक शिवलिंग को हज पर जाने वाले यात्री बड़ी अद्वा से चूमते हैं।

दक्षिण अमेरिका के पेस्ट राज्य में शिवलिंग मिले हैं। ब्राजील में न्यर्नहों के शिव की प्रतिमाएं मिली हैं। प्रेस्त्रू को नगर से गोल, दो मुखे शिवलिंग लेकर है।

देश ने इतका स्वागत किया। इससे पहले 'वोन' धर्म था जो वैदिक-शौव सम्प्रदाय का बिंगड़ा हुआ रूप था, जिसमें जादू-टोने आदिका बाहुल्य था। तिब्बत-सभ्बाट ने नालन्दा विश्व-विद्यालय के आचार्य शातरक्षित को बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए बुलवाया, परन्तु प्रकृति ने उनका साथ न दिया। प्राकृतिक उपदेशों के कारण उनका आगमन सदेहास्पद प्रतीत होने लगा। अत आचार्य पद्मपम्भव को निमन्त्रित किया गया, जो एक योग्य भारतीय तानिक थे। तिब्बत में इनका इतना ऊँचा स्थान है कि वहाँ के लोग उन्हे सदेह अमर मानते हैं। लामा धर्म के चलाने वाले यही थे।

ऐसा भी कहा जाता है कि विक्रम विश्व-विद्यालय में अबलोकितेश्वर का मन्दिर था जहाँ और तानिक देवी-देवताओं के भी मन्दिर थे, जिनकी संख्या ५३ बताई जाती है। तिब्बत में वज्रयान का प्रवेश यही से हुआ।

तन्त्र का प्रवेश तिब्बत में कब हुआ? इसके बारे में अनेको मत हैं। ऐतिहासिकों का कहना है कि श्री चक्रसम्भार नाम गुरुओं की परम्परा का अबलोकन करने से प्रतीत होता है कि अनुमानत ८० ६६३ के समय वहाँ शाव्य सम्प्रदाय की स्थापना हुई होगी।

विक्रम शिला के लान्त्रिक आचार्य दीपकर श्रीज्ञान ने तिब्बत में आकर अनेको भारतीय पुस्तकों का तिब्बत की भाषा में अनुवाद किया था। तिब्बत में तन्त्र को शृंग् युद कहा जाता है। इसके द७ भाग बताए जाते हैं, जिनमें उपासना, पद्धति, मन्त्र, कवच, स्तोत्र आदि का विस्तृत विवेचन है।

यहाँ शिव-शक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाली अधनारीश्वर जैसी मूर्तियाँ तिब्बत में उपलब्ध होती हैं, जिन्हे यव्-युम् कहते हैं।

तानिक बौद्धों के प्रमुख यन्त्र "८५ मणि पञ्चे हुम्" की वहाँ विशेष प्रकारसे उपासना होती है। मत्र-जपका माध्यम वहाँ एक चरखी होती है जिस पर हजारों की सख्ता में मन्त्र लिखे रहते हैं। उसको लामा घुमाते

रहते हैं। लामाओं द्वारा चरकी के इस प्रकार घु माने को ही मन्त्र-जप माना जाता है।

स्वयं तिथ्वत में भी योग्य तात्रिक सिद्ध हो गए हैं। वे प्रकाशहीन गुफाओं में एकान्तवास करके घोर तपश्चर्योंयें करते थे। इनके एकान्तवास की अवधि २०-४० वर्ष की होती थी। तिथ्वत के एक सिद्ध तात्रिक जे-चुन्-रे-पा के एकान्तवास का वर्णन ढा० स्वेन हेडिन ने अपनी पुस्तक 'ट्रास हिमालय' में किया है। उन्होंने यह भी लिखा था कि १७०६-७ ई० में वहाँ तीन-चार सौ एकान्तवासी तपस्वी थे, जिनके गुफाओं में प्रविष्ट होने पर मदेव के लिए द्वार बन्द कर दिये गये। केवल एक छिद्र से उहे भोजन दिया जाता था।

जब से चीन का साम्राज्य तिथ्वत में हुआ, ऐसे केन्द्रों का विध्वस होना स्वाभाविक ही है।

कावुल के तीर्थों के नाम से ही पता चलता है कि वहाँ कभी शिव के उपासक काफी सख्या में अवश्य रहते होते। दर्रा शक्कर या शक्कर में स्थित मानसरोवर है। लोगार के पास वाणी-गगा है। ताशकुरगनि और एवक के बीच 'चक्र आव' नाम से शिवजी का चश्मा है। सराय खाजा के पास कलाम नगर में जटाशक्कर है।

अरब में काफी सख्या में शिवलिंग मिले हैं। यह शिवलिंग इतने वृहत्काय होते थे कि उन्हे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना भी एक समस्या होती थी। यही कारण है कि शिवोपासना के प्रति आस्था न रहने पर भी वे शिवलिंग आज भी उपस्थित हैं और उन्हे दूसरे नाम से पूजा जाता है और ऐसा कहा जाता है कि मक्का शरीफ में "सग-ए-असबद" नामक शिवलिंग को हज पर जाने वाले यात्री बड़ी श्रद्धा से चूमते हैं।

दक्षिण अमेरिका के पेरू राज्य में शिवलिंग मिले हैं। ब्राजील में खण्डहरो से शिव की प्रतिमाएँ मिली हैं। प्रेम्बू को नगर में गोल, दो मुखे शिवलिंग उपलब्ध हुए हैं।

मिश्र मे 'असिरिस' और 'आईसिस' नामक शिवलिंग की पूजा की प्रया है। शिव की तरह 'असिरिस' व्याघ्र-चर्म ओढ़े हुए हैं, गले व मस्तक पर सर्प लिपटे हुए हैं। उनका वाहन एपिस नाम का वैल है। उसके पूजन मे विल्व पत्र को तरह के ही एक पेड़ के पत्ते काम मे आते हैं।

यूनान मे 'वेसक' और 'प्रियेसस' नामक लिंग की उपासना होती है।

प० माधवाचार्य शास्त्री के अनुसार उत्तरी अफ्रीका की अरब जातियो मे, इटली की राजधानी रोम, स्काटलैंड के ग्लासगो नगर मे, नार्वे, स्वीडन, आस्ट्रिया, हगरी, रूम, असिरिया के विलन मे भी शिवलिंग की पूजा होती है।

इस तरह से कल्याण के प्रतीक शिव की सारे विश्व मे व्यापक रूप से उपासना होती है, जो उनकी प्राचीनता का प्रतीक है।

शावत सम्प्रदाय—

शावत तन्त्रो का विशाल साहित्य है। इनकी सख्ता हजार से ऊपर बताई जाती है, परन्तु बहुत कम ही अभी प्रकाश मे आ पाए हैं। शक्ति-उपासना वैदिक काल से ही चली आ रही है। वेद मे शक्ति-उपासना का निर्देश है। 'प्रदिति' को मातृभाव का प्रतीक माना गया है (ऋग्वेद १।१२।१२३)। उसे गन्धर्व, मनुष्य, पितर, असुर और सम्पूर्ण भूतो की माता घोषित किया गया है। ब्राह्मण और आरण्यक काल मे भी यह विद्यमान थी। उपनिषद्-काल मे इसकी उपासना स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। काली, तारा, सविता, देवी, त्रिपुरा, त्रिपुरा-तापिनी, बहवृच, सोभाग्यलक्ष्मी, कौल, श्रुणा, अद्वैतभाव, सरस्वती हृदय, भावना आदि उपनिषदो मे शक्ति-उपासना का उद्घोष मिलता है। पौराणिक साहित्य मे तो प्रखर रूप मे इसका प्रदर्शन किया गया है। देवी-भागवत, मार्कण्डेय पुराण, कालिका पुराण व कूर्म पुराण

तत्सम्बन्धी विपुल समग्री उपलब्ध होती है। देवी पुराण नामक उप-पुराण में शक्ति तत्व का स्वतन्त्र निरूपण किया गया है। महाभागत में भी अनेकों ऐसे प्रसग आते हैं।

शक्ति-उपासना का प्रभाव प्राचीन काल से ही हमें विदेशों में भी दिखाई देता है। Myths of China and Japan में लिखा है कि चीन में देवताओं की माता 'नुची' थी, जो आदिम जल-राशि 'अपम' की देवी मानी जाती है। इस 'अपम' से सृष्टि की रचना व्रताई जाती है। Egyption Myth and Legend में लिखा है कि मिश्र में आकाश देवी का नाम 'नुट' था, जो अपने शरीर से ही समस्त प्राणियों की उत्पत्ति करती थी। यह देवताओं की माता थी। योरोप की आदिम जातियों में 'दानु' को दानवों की माता कहा गया है। 'Island of Bali' नामक पुस्तक के अनुसार वाली में देवी दानु देवी गगा, गिरि पुत्री, दुर्गा और उमा को शिव की पत्नियाँ बताया गया है जिनकी वहाँ उपासना होती थी। Myths of Babylonia के अनुमार मिस्र की तारारूपिणी देवी का नाम 'सोरिवन' था, जिसने सूर्यदेवता 'रा' के विरोधियों का वध किया था। दुर्गा ने भी देव-विरोधी तत्वों का नाश किया था। दुर्गा का वाहन मिह का था परन्तु मिस्र की 'सोरिवत' देवी का सिर सिंह का-सा था और उनके हाथ में खग का आयुध था। मिस्र की ही एक और मातृदेवी—'तेफनुतने' का पूरा रूप ही मिहनी जैसा था।

चीनी 'कन्फ्यूसिअस' धर्म में शिव शक्ति का प्रतिपादन इन शब्दों में किया गया है—“खिप्रत आकाश है, पिता है, शीत, हिम, मणि, मार्ग वृत्ताकार है और 'स्वान' पृथ्वी है, माता है, घन, जो, वस्त्र, तड़िका, कृष्ण वर्ण और घरती की काली उपजाऊ मिट्टी है। इसमें खग्नन' का अभिप्राय आकाश और 'स्वान' को पृथ्वी कहा गया है। यह विवरण 'Myths of China and Japan' नामक पुस्तक में दिया गया है।

तिव्वत में तन्त्र-साधना का पहला दीक्षा ग्रन्थ 'वदोयसुगल' है, जिसके निर्देशन में साधना और दीक्षा आदि कियाये होती है। इसमें ध्यानी बुद्धों की साधना, उनकी मूर्तियों, रूपों और ध्यानों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इन ध्यानी बुद्धों का सम्बन्ध भगवती जननी के साथ है। केन्द्रीय बुद्ध वैरोचन का भगवती जननी से सम्बन्ध है। पूर्व की ओर स्थित 'वज्जसत्व अक्षोभ्य' भगवती जननी लोचना से आबद्ध हैं, जिनका तिव्वती नाम है—'ससगियासस्पियनमा' अर्थात् बुद्धलोचन मम्पन्ना। दक्षिण की ओर अवस्थित रत्नमम्बव बुद्ध भगवती जननी माषकि के साथ एकात्म है। पश्चिम की ओर स्थित अनन्त आलोक के ध्यानी बुद्ध अमिताभ (तिव्वती भाषा में—रशन-बामथा-ईयास) भगवती जननी श्वेताम्बरा पारहुरवासिनी के आश्लेष में आबद्ध हैं। अन्तिम बुद्ध अमोघ मिद्धि का सम्बन्ध भगवती जननी तारा से है, जिन्हे तिव्वती भाषा में 'डलमा' कहते हैं। वे वहाँ प्रेम, श्रद्धा और भक्ति की प्रतीक हैं और तिव्वती भाषा में उनकी उपासना 'दामतिशग-डलमा' के नाम से होती है। उनके प्रति जनता में इतनी अगाव श्रद्धा है कि ऐमा लगता है जैसे वह वहाँ के धर्म-जीवन पर व्यापक रूप से छाई हुई है और भक्तों ने उन्हे अपने हूदय के सबसे ऊँचे आसन पर बैठा रखा है।

इस तरह से शक्ति-उपासना विभिन्न ध्यानी बुद्धों की शक्ति के रूप में बोद्ध तन्त्रों में प्रचलित है।

बौद्धों के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सेक्कोद्देशटीका' में वाराही, परमेश्वरी, लक्ष्मी, नारायणी, ब्रह्मी, रीढ़ी, ईश्वरी का वर्णन आता है। वज्जलक्ष्मी का भी प्रयोग उपलब्ध होता है। 'साधन-माला' में चतुर्भुजी, कृष्ण, शूकरमुखी आदि देवियों की उपासना का विधि-विधान मिलता है। महायान की 'तारादेवी' और हीनयान की 'मणिमेखला' देवी प्रसिद्ध हैं। बौद्धों में 'वज्जवाराही' देवी की उपासना भी होती है, जो नार्यणों की 'दणिडनी' और 'वाराही' की तरह ही हैं। इन सबमें 'तारा' का विशेष महत्व है। तन्त्रों के शिव-शक्ति की तरह बौद्धों में तार-तारा की जोड़ी

प्रसिद्ध है। प्रणव को ब्राह्मण और वौद्ध दोनों 'तार' कहते हैं। 'तार' देवता की पत्नी का नाम 'तारा' रखा गया।

हिन्दू धर्म तथा वौद्ध धर्म में शक्ति-उपासना का जैसा विशाल साहित्य भराडार उपलब्ध होता है, वैसा निर्माण जैन धर्म में तो नहीं हो पाया परन्तु उपासना-पद्धति में अवश्य अनुकरण किया गया है। देवी-उपासना, मूर्तियों की उपासना और तदनुमार मन्दिरों की प्रतिष्ठा प्रचलित है। जैन शास्त्रों का ऐसा विश्वास है कि पृथ्वी के नीचे और ऊपर देवी-देवताओं का निवास है और उनकी उपासना करने से हर प्रकार की भौतिक इच्छाओं की पूर्ति होना सम्भव है। श्वेताम्बर और दिग्म्बर—दोनों सम्प्रदायों में इस उपासना को मान्यता है।

श्वेताम्बर मत से २४ देवता निम्न प्रकार हैं, हर तीर्थकर के अलग शासन देवता हैं—

१—चक्रेश्वरी २—अजितवला ३—दुरितारी ४—कालिका
 ५—महाकाली ६—श्यामा ७—शान्ता ८—ज्वाला ९—सुताखा
 १०—अशोका ११—श्रीवत्सा १२—चण्डा १३—विजया १४—अकुशा
 १५—पत्रगा १६—निवर्णी १७—बला १८—घारिणी १९—घरणा
 प्रिया २०—नरदत्ता २१—गान्धारी २२—अम्बिका २३—पद्मावती
 २४—सिद्धायका।

जैनों में शाक्त सम्प्रदाय के सरस्वती कल्प की मान्यता है। सरस्वती में १६ विद्याव्यूह का वर्णन ग्राता है—

१—रौहिणी २—प्रज्ञसि ३—वज्रशृङ्खला ४—कुलिशाकुशा
 ५—चक्रेश्वरी ६—नरदत्ता ७—काली ८—महाकाली ९—गौरी
 १०—गान्धारी ११—सवास्त्रमहाज्वाला १२—मानवी १३—वर्दीप्या
 १४—अद्भुता (अन्युना) १५—मानसी और १६—महायानमिका।

मिथु सारस्वताचार्य श्री वानचन्द्र सूरि का प्रसिद्ध 'वसन्त-विलाम' महाकाष्ठ्य है। इसके प्रारम्भ में कवि ने तन्त्र पद्धति का

अनुकरण किया है पौर सरस्वती-उपासना से कवित्र के विकास को माना है।

जैन धर्म में भी शाक्तों की तरड़ यन्त्रों का बाहुल्य है। हेमचन्द्र सूरि के योगशास्त्र से यह मत स्पष्ट प्रतीत होता है। मन्त्रों में ३०, ही शादि बीजाक्षरों को ज्यो-का-त्यो लिया गया है। जैन-शास्त्रों ने स्वयं माना है कि उनके यह मन्त्र पाचीन परम्परा से अपनाए हुए हैं, अपने नहीं हैं। तोक्त मन्त्र शास्त्र की सम्पूर्ण पद्धति को मान्यता दी गई है।

जैन धर्म में दो प्रकार के ध्यान है—धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान। धर्मध्यानके चार भाग है—१ पिङ्गल्य, २ पदस्थ, ३ रूपस्थ, ४ रूप वर्जित। पहले दो ध्यान में तन्त्र-पद्धति को अपनाया गया है। ध्यान का नेत्र, जहाँ केवल पिङ्गल हो, उसे पिङ्गल्य ध्यान कहते हैं। पदस्थ ध्यान में शब्द शक्तिके खण्ड, पद, वाक्य पर भावना को प्रविष्ट करना होता है। तन्त्रों ने देवी-देवताओं के प्राकार और बाह्य लक्षणों पर विशेष बल दिया है। शब्द ब्रह्म के वर्ण, पद, वाक्य पर तो तन्त्र का अधिकार है। जैन धर्म में मातृका-ध्यान प्रसिद्ध है, जिसके मूल पद्धति में 'अ क च ट त प य ण' वर्णालिक लगाना पड़ता है। हृदय-स्थान में चौबीस दल में, मध्य शिरिका के साथ में २५ अष्टर और नाभि-स्थान में षोडश दल में सोलह स्वर-भाषायों का ध्यान करना होता है। इस ध्यान की सफलता से अनेकों प्रकार की सिद्धियों का वर्णन किया गया है।

जैन धर्म ईश्वरवादी न होने पर भी शक्ति उपासना को मान्यता देता है, इसमें तन्त्र का ही औरव निहित है।

जैसे काली माँ की उपासना भारत में होती है, वैसे ही कुमारी मैरी की ईमाई धर्म में, मिथ में माँ आइसिस (ISIS) की और यीक धर्म में पैल्लस शधीनी की पूजा की जाती है।

इतिहासकारों और पुरातत्ववेत्ताओं ने तन्त्र और शक्ति-उपासना की प्राचीनता पर खोजे की है। कुछ ने शक्ति-उपासना को काव्यों के

आधार पर, ईमा से ३०० वर्ष पूर्व माना है। उस समय के सिक्को पर दुर्गा के चित्र उपलब्ध होते हैं। ईमा पूर्व पहली शती में विदेशी शक शासक 'अग्रस' के सिक्को पर 'गजलदमी' का चित्र अद्वित है। छठी शती की लिपि में वज्ञान्तप की एक मुहर पर भी यही मूर्ति देखी गई है।

गुप्तकाल में भी गवित-साधना के चित्र मिलते हैं। चन्द्रगुप्त प्रथम का काल ३०५ से ३२५ ई० स्वीकार किया जाता है। उनके सिक्को पर मिहवाहिनी दुर्गा के चित्र हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) की उदयगिरि-गुफाओं में महिपासुर मर्दिनी की प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। कुशान राजाओं का काल १०० में २०० ई० के लगभग है। उनकी मुद्राओं पर भी मिह के माथ देवी का चित्र मिला है। दक्षिण में चोल राजाओं के समय की प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं। एलोग की गुफाओं में सप्तमातृका, पार्वती और महिपमुर मर्दिनी की प्रतिमाएँ देखी जा सकती हैं। उदयगिरि की गुफा में भी सप्तमातृका की प्रतिमा उपलब्ध हुई है।

यह खोजे यही तक सीमित नहीं हैं, पुरातत्त्ववेत्ताओं ने मोहन-जो-दडो और हडप्पा की खुदाई का भी अध्ययन किया है। वहाँ सिन्ध के निकटवर्ती क्षेत्र में योनि के आकार की मूर्तियाँ मिली हैं, जिससे यह महज परिणाम निकनना है कि ताम्र-युग में वहाँ शक्ति उपायना के प्रति आम्घा थी। मर जान मार्याल ने भारत में शक्ति-उपायना को प्राचीन काल में चली आती हुई माना है। श्री वी० सी० मजूमदार ने यह मिद्ध किया है कि दुर्गा-पूजन ईमा के पूर्व व्राह्मण-ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है।

वास्तविकता यह है कि शक्ति-उपायना का प्रारम्भ ऋग्वेद-काल से ही होता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल का १२५ वाँ सूक्त, जिसका नाम देव-देवी मूक्त है, इसकी मात्री है—जिसके अध्ययन से स्पष्ट प्रतीन होता है कि ऋग्वेद-काल में मातृ-उपायना प्रचलित थी। अत मातृ-उपायना वैदिक काल से चली आ रही है, यह निश्चित है।

सौर सम्प्रदाय—

तन्त्र के सौर सम्प्रदाय में सूर्य की उपासना का विधान है। इसकी प्राचीनता भी वेद से सम्बद्ध है। वेद में स्पष्ट रूप से सूर्य को चराचर विश्व का स्त्री कहा गया है—

“नून जना सूर्येण प्रसूत”

इसको ‘प्राण प्रजानाम्’ भी कहा गया है। ऋग्वेद (२।३।३।१) में प्रार्थना की गई है कि सूर्य के प्रकाश से हम कभी न विछुड़े—

“न सूर्यस्य सद्यशे मा युयोथा”

अथर्ववेद में भी सूर्य की महिमा का वर्णन है—

अन्तकाय मृत्येव नम प्राणा अपाना इह ते रमन्ताय।

इहायमस्तु पुरुष सहासुन सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके ॥

(क।१।१)

“मृत्युरूप देवता (परमात्मा) को नमस्कार है। तेरे प्राण और अपान इनकी कृपा से शरीर में विस्तार करें (अर्थात् वह सुख से जीवित रहे)। यह मनुष्य, प्राण और प्रजा अन्य लोगों सहित सूर्य के प्रकाश-युक्त पृथ्वी पर निवास करता रहे।”

सूर्य को इन्द्र नाम से भी विहित किया गया है। इस नाम से इस प्रकार स्तुति की गई है—

इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गा अप प्रेरणा सगरस्य बुध्नात्।

“इन्द्र के लिये वाणियाँ अनिशित सर्ग वाली होती हैं और सगर बुधन से अप (जल) का प्ररण होता है।”

सूर्य सम्बन्धी अन्य अनेको मन्त्र उपलब्ध होते हैं, जिनमें विभिन्न विषयों का प्रतिपादन किया है।

सूर्योपनिषद् में अथर्ववेदादि मन्त्रों की व्याख्या की गई है।

कहा है—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुपञ्च । सूर्यादि खलिवमानि भृतावि
जायन्ते । सूर्याद्यत पर्जन्योऽन्नमात्मा ॥(३)

“सूर्य सम्पूर्णं म्यावर जङ्गम के आत्मा है । इन्ही से इन भूतों
की दत्पत्ति होती है । इन्ही से यज्ञ, भेव और आत्मा आविभूत
होत हैं । और भी कड़ा है—

नमन आदित्य । त्वमेव प्रायक्ष कर्मकर्त्ताऽमि । त्वमेव
प्रत्यक्ष ब्रह्माऽसि । त्वमेव प्रत्यक्ष विष्णुऽग्मि । त्वमेव प्रत्यक्ष
रुद्रोऽमि । त्वमेव प्रत्यक्षमृगसि । त्वमेव प्रत्यक्ष यजुरसि
यजुरसि । त्वमेव प्रत्यक्ष सामासि । त्वमेव प्रत्यक्षमथर्वाऽसि ।
त्वमेव सर्वं छन्दोऽमि । (४)

“हे आदित्य । हम तुम्हें नमस्कार करते हैं । तुम्ही कर्म और
कर्त्ता हो, तुम्ही ब्रह्मा और विष्णु हो । तुम्ही रुद्र एव ऋक्, यजु, साम
और अथर्व हो । तुम सम्पूर्णं छन्दरूप हो ।

इससे निढ़ होता है कि उपनिषद् काल मे भी यह उपासना
विद्यमान थी । अब भी हिन्दू धर्म की प्रत्येक उपासना-विधि मे सूर्य को
प्रध्य देना सम्मिलित है । द्विज सन्ध्या करके सूर्य-दर्शन करना नहीं
भूलता ।

ऐमा लगता है कि विदेशो मे भी प्राचीन काल मे सूर्योपासना
विद्यमान थी । रोम, यूनान, मिश्र, जर्मनी आदि देशो के प्राचीन ग्रन्थो
मे भी सूर्यदेव की स्तुति पाई जाती है । विदेशो मे अभी तक विद्यमान
कुछ सूर्य-मन्दिर प्राचीन काल से सूर्य भगवान की महिमा को गा रहे हैं ।
श्री मैथिलीगरण गुप्त ने ‘भारत भारती’ मे लिखा है कि दक्षिण
अमेरिका के पुरु नामक राज्य मे एक सूर्य मन्दिर है । इसकी मूर्ति का
आकार उन्नाव के मूर्य-मन्दिर मे मिलता है । काश्मीर मे ललितादित्य
द्वारा निर्मित ‘मात्तौर्एड’ मन्दिर और वालवक (मसोपोटामिया) का मूर्य-
मन्दिर मूर्योपासना की प्राचीनता को सिद्ध कर रहे हैं ।

कर्नाटा मे १६५४ के मई मास मे टोरन्टो विश्वविद्यालय के

हुई थी, उसमे से गणेश की मूर्ति निकली थी। विशेषज्ञों का कहना है कि यह मूर्ति चार-पाँच हजार-वर्ष पुरानी ही प्रतीत होती है। अमेरिका में गणेश की प्रतिमा, उपलब्ध होने की पुष्टि 'हिन्दू अमेरिका' के लेखक ने भी की है। इसका यह अर्थ स्पष्ट होता है कि इसा से पूर्व ही अमेरिका में गणेश-पूजा का प्रचार था और वहाँ आयों ने अपने उपनिवेश बनाये थे। पाठ्यात्मक इतिहासज्ञ रौतम्बर को अमेरिका का पता लगाने वाला, अविष्कारक मानते हैं। इस तरह से उनकी धारणा निराधार प्रतीत होती है।

जर्मनी में तो गणेश का सम्मान असामान्य रूप से है। उन्होंने तो इसे अपना राष्ट्रीय चिन्ह ही बना डाला। उनके राष्ट्रीय छवज पर इस चिन्ह को देखा जा सकता है। अन्वेषकों का कहना है कि इसाइयों का पवित्र चिन्ह गणेश के चिन्ह का अपभ्रंश है। मुमलमान लोग माथे पर चाँद-तारे के चिन्ह भिन्न-भिन्न रूपों में ग्रहण करते हैं। यह उनकी स्त्रियों का मुख्य चिन्ह माना जाता है। गणेश के अनेक नामों में एक भालचन्द्र भी है, जिसका अभिप्राय है—मस्तक पर चन्द्रमा धारण करने वाला। अनुमान लगाया जाता है कि हजरत मुहम्मद के पठले मुमलमान लोग वहाँ के गाणपत्य सम्प्रदाय के मानते वाले होंगे, तभी भालचन्द्र का उन्होंने अनुकरण किया।

चीन और जापान में गणेश की त्रिमूर्ति को 'फो' नाम से सम्बोधित करते हैं। इतिहास साक्षी है कि 'कोवो दाइशी' नाम के विद्वान ने "विनायक-पूजन" आरम्भ करवाया था, क्योंकि चीन में 'विनायक' और 'काङ्गीनेन' नामों से गणेश की उपासना होती है। यूनान में 'ओरेनस' नाम से गणेश-पूजन किया जाता है। उनके घम-गन्थों में इसका काफी महत्व बताया गया है। जावा में शिव के मन्दिरों में ही गणेश की प्रतिमायें स्थापित हैं। तिब्बत में प्रत्यक्ष मठ में गणेश-पूजा की प्रथा है। बोनियों और बाली द्वीप में भी गणेश-पूजन प्रचलित है। नेपाल में 'विनायक' और 'हेरम्ब' नाम से गणेश-पूजन होता है। बोद्ध सम्प्रदाय

मेरे महायानों मेरे मूर्ति-पूजा प्रचलित होने पर 'विनायक' के रूप मेरे गणेश-पूजन होता है। वर्मी और स्थाम मेरे कास्य-वातु की गणेश-मूर्तियों से पूजन व्रेष्ट माना जाता है। मिथ्र मेरे 'एकटोन' नाम से गणेश-पूजन होता है, जो गणेश के एक नाम 'एकदन्त' का अपभ्रंश दिखाई देता है।

उपलब्ध ज्ञानकारी से विदित है कि तन्त्र के पाँचों सम्प्रदायों पर प्राचीनता की छाप दृष्टिगोचर होती है।

• • •

एक वैज्ञानिक को श्वेत पहाड़ी पर घूमते हुए एक चित्र मिला । यह मूर्ति श्वेत पत्थर से बनी हुई थी और उस 'चार्लीफिस' नाम के वनस्पति वैज्ञानिक के शरीर के बराबर थी । वह सूर्यदेव की मूर्ति थी । इसके सम्बन्ध में अनुमान लगाया गया था कि इसका निर्माण मिश्री पिरामिडों, ग्रीक मम्यता, जूलियस सीजर और ईसा के जन्म से पहले हुआ था । इससे स्पष्ट है कि वहाँ सूर्य-मन्दिर होगा और अवश्य सूर्योपासना होती होगी । निश्चय ही सारे विश्व में सूर्योपासना किसी-न-किसी रूप में प्राचीनकाल में प्रचलित थी ।

गणपत्य सम्प्रदाय—

गणपति उपासना भारत में प्राचीन काल से चली आ रही है । ऋग्वेद (१०।१२।६) में कहा है—

निषुसोद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतम् कवीनाम् ।
न ऋते त्वत्क्रियते किञ्जनारे महामक मघवञ्चत्रमर्च ॥

अर्थात् हे गणपते ! तुम सब प्राणियों के स्वामी हो । तुम स्तोताओं के मध्य सुशोभित होओ । कार्यकुशल व्यक्तियों में तुम सबसे अधिक बुद्धिमान हो । पास या दूर कही भी कोई तुमसे अधिक अनुष्ठित नहीं होता । हमारी ऋचाओं को बढ़ाकर विभिन्न फल वाली करो ।

उपनिषद् काल में भी गणपति-पूजा विद्यमान थी । गणपत्युपनिषद् इसका प्रमाण है । वहाँ कहा है—

८० ल नमस्ते गणपतये ॥१॥

त्वमेव प्रत्यक्ष तत्त्वममि । त्वमेव केवल कर्ताःसि । त्वमेव धर्ताःसि । त्वमेव केवल हर्ताःसि । त्वामेव सर्वं खलिवद् ब्रह्मसि । त्व साक्षादत्याःसि ॥२॥

नित्यमृत वच्चिम । सत्य वच्चिम ॥३॥

अर्थात् "भगवान् गणपति को नमस्कार ॥१॥

तुम्हीं कर्ता-धर्ता हो एव प्रत्यक्ष तत्त्व हो । तुम्हीं इन रूपों में

विराजमान साक्षात् ब्रह्म हो । तुम ही नित्य एव आत्मरूप हो ॥२॥

मैं सत्यपूर्वक एव न्यायपूर्वक कहता हूँ ॥३॥

स्मृति युग भी गणपति-पूजा का उद्दोष करता है—

एव विनायक पूज्य ग्रहाश्चैव विधानत ।
कर्मणा फलमाप्नोति थिय चाप्नोत्यमाम् ॥

(याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय ७६२)

इसमें कहा गया है कि गणेशजी की पूजा करके नवग्रहों का पूजन करना चाहिए जिससे सब कामों के फल की प्राप्ति होती है और लक्ष्मी की उपलब्धि होती है ।

पुराण युग में तो इस पूजा का उज्ज्वल रूप में उदय हुआ । एक अलग गणेश पुराण की रचना की गई । यह तन्त्र के पांचों सम्प्रदायों—वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य और शौर के लौकिक श्रौर वैदिक, शुभ और अशुभ सभी तरह के कार्यों में प्रथम पूज्य हैं—

शैवेस्त्वदीयैरुत वैष्णवैश्च, शाक्तैश्च सौरैरपि सर्वकार्ये ।

शुभाशुभे लौकिक वैदिके च, त्वदमचनीय प्रथम प्रयत्नात् ॥

उपासना का यह क्रम आज तक चला आ रहा है । प्राचीन काल में विदेशों भी गणेश-पूजन होता था । इसके निम्न प्रमाण उपलब्ध होते हैं ।

आक्यफोर्ड यूनीवर्सिटी द्वारा प्रकाशित श्रीमती ए० गेट्री द्वारा लिखित पुस्तक में इस मम्बन्ध में यथार्थ सामग्री उपस्थित की गई है । विद्वान लेखिका अपनी पुस्तक में लिखती हैं कि जापानी में गणेश का नाम 'काङ्गनेन', चीनी में 'कुआन-शी-तियेन' भगोलियन भाषा में 'त्वोत रवारुन खागान', कम्बोडियन भाषा में 'प्राहकेनीज', वर्मी में 'महापियेन्ने', भोट भाषा में 'सोडसदाग' पाया जाता है और इसी नाम से उसकी वहाँ पूजा होती है ।

दक्षिण अमेरिका में ग्राजील में जो पुरातत्व विभाग द्वारा खुदाई

हुई थी, उसमे से गणेश की मूर्ति निकली थी। विशेषज्ञों का कहना है कि यह मूर्ति चार-पाँच हजार वर्ष पुरानी ही प्रतीत होती है। अमेरिका मे गणेश की प्रतिमा, उपलब्ध होने की पुष्टि 'हिन्दू अमेरिका' के लेखक ने भी की है। इसका यह अर्थ स्पष्ट होता है कि इसा से पूर्व ही अमेरिका मे गणेश-पूजा का प्रचार था और वहाँ आयों ने अपने उपनिवेश बनाये थे। पाठ्चात्य इनिहासन रोनम्बस को अमेरिका का पता लगाने वाला, अविष्कारक मानते हैं। इस तरह से उनकी धारणा निराधार प्रतीत होती है।

जर्मनी में तो गणेश का सम्मान असामान्य रूप से है। उन्होंने तो इसे अपना राष्ट्रीय चिन्ह ही बना डाला। उनके राष्ट्रीय छवि पर इस चिन्ह को देखा जा सकता है। अन्वेषकों का कहना है कि ईमाइयो का पवित्र चिन्ह गणेश के चिन्ह का अपभ्रंश है। मुसलमान लोग माथे पर चाँद-तारे के चिन्ह मिन्न-मिन्न रूपों मे ग्रहण करते हैं। यह उनकी स्त्रृति का मुख्य चिन्ह माना जाता है। गणेश के अनेक नामों मे एक भालचन्द्र भी है, जिसका अभिप्राय है—मस्तक पर चन्द्रमा धारण करने वाला। अनुमान लगाया जाता है कि हजरत मुहम्मद के पठले मुसलमान लोग वहाँ के गाणपत्य सम्प्रदाय के मानने वाले होंगे, तभी भालचन्द्र का उन्होंने अनुकरण किया।

चीन और जापान मे गणेश की त्रिमूर्ति को 'को' नाम से सम्बोधित करते हैं। इतिहास साक्षी है कि 'कोवो दाइशी' नाम के विद्वान ने "विनायक-पूजन" आरम्भ करवाया था, क्योंकि चीन मे 'विनायक' और 'काङ्गीनेन' नामो से गणेश की उपासना होती है। यूनान मे 'ओरेनस' नाम से गणेश-पूजन किया जाता है। उनके घम-गन्धों मे इसका काफी महत्व वताया गया है। जावा मे शिव के मन्दिरों मे ही गणेश की प्रतिमायें स्थापित हैं। तिब्बत मे प्रत्यक्ष मठ मे गणेश-पूजा की प्रथा है। बोर्नियो और बाली द्वीप मे भी गणेश-पूजन प्रचलित है। नेपाल मे 'विनायक' और 'हेरम्ब' नाम से गणेश-पूजन होता है। वीद्व सम्प्रदाय

मेरे महायानों मेरे मूर्ति-पूजा प्रचलित होने पर 'विनायक' के रूप मेरे गणेश-पूजन होता है। बर्मा और स्थान मेरे कास्य-धातु की गणेश-मूर्तियों से पूजन श्रेष्ठ माना जाता है। मिश्र मेरे 'एकटोन' नाम से गणेश-पूजन होता है, जो गणेश के एक नाम 'एकदन्त' का अपभ्रंश दिखाई देता है।

उपलब्ध जानकारी से विदित है कि तन्त्र के पाँचों सम्प्रदायों पर प्राचीनता की छाप हृषिगोचर होती है।

• • •

तन्त्र की गोपनीयता

तन्त्र ने जहाँ सभी वर्णों की साधना का अधिकार प्राप्त किया है तथा जाति-भेद और स्त्री पुरुष का कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया है, वहाँ साधन-विधियों को भी गुप्त रखने का भी आदेश दिया है, जो अधिकारी गुरु से ही प्राप्त की जा सकती हैं। गुरु भी अधिकारी की परीक्षा करके रहस्यमयी विद्या की दीक्षा देता है। गोपनीयता का कारण साधना-विधियों को उनके दुरुपयोग से बचाना है, क्योंकि तन्त्र, शक्ति-विकास का विज्ञान है। इससे अपना व समाज का हित भी किया जा सकता है और अहित भी। ऐसे भी विज्ञान हैं, जिनसे आतक और भय का वातावरण उत्पन्न किया जा सकता है। ऐसा स्थिति न आने पाए, इसलिए साधना-विधान हर किसी को नहीं बताया जाता, उसे गुत रखा जाता है।

उपनिषदों की पराविद्या को 'गुह्य' घोषित किया गया है और उस रहस्यमयी को दूसरों को न बताने का आदेश दिया गया है। गीताकार 'राजयोग' को भी 'गुह्य' की सज्जा देते हैं। तन्त्रों में अपनी साधना को 'योनि' की तरह गुप्त रखने की बात कही गई है। जिस तरह स्त्री अपने गुह्य अङ्गों को पति के अतिरिक्त सबसे छिपाती है, उसी तरह अपने पति—भगवान् के अतिरिक्त इसे सबसे छिपाना चाहिए। प्राचीन यूनान में दीक्षा-विधि का एक शब्द यह शपथ लेना भी था कि वह अपनी साधना के सम्बन्ध में किसी अनविकारी को नहीं बताएगा। इसाई धर्म के आरम्भ में नियम बहुत कडे थे—यदि कोई विशिष्ट प्रकार

की दीक्षा को जनमाधारण पर प्रकट कर देता था, तो उसे मृत्युदण्ड दिया जाता था ।

सर फासिस बर्नर्ड ने प्रेरणा दी है—

Hold fast in silence all that is your own,
lest icy fingers he laid upon your lips to seal
them for ever

“जो कुछ तुम्हे मिल चुका है, उसे अपने ही पास सुरक्षित रखो,
ऐसा न हो कि वर्फ की तरह ठड़ी रंगलियाँ तुम्हारे ओढ़ो को सदैव के
लिए बन्द कर दें ।”

ईसा ने कहा है—

“Let not thy left hand know what thy
right hand gives”

“अपने वाम हस्त को यह ज्ञान न होने दो कि तुम्हारा दक्षिण
हस्त क्या देता है ।”

“To you it is given to know the mysteries
of God, but to them it is not”

(सन्तपक्षी)

“तुम्हे भगवान के रहस्यों को जानने की श्राज्ञा दी जाती है, किन्तु
उनको नहीं जो इसके अविकारी नहीं हैं ।

‘ It is the fatal law of the arcane Sanctuaries that the revelation of their secrets entails death to those who are unable to preserve them ’

“ईसाई धर्म की कई आदिम स्त्रियों का एक घातक
निपम यह था कि जो उनके रहस्यों की रक्षा नहीं कर सकता या ऐस,
मदन्य को दे मृत्युदण्ड देते थे ।”

इससे स्पष्ट है कि रहस्यमयी विद्या की प्रथा केवल भारत में ही नहीं है, ईसाई धर्म और पाश्चात्य सङ्कृति में भी इसके अनुकूल मिलते हैं। वे भी अधिकारी व्यक्ति को ही ज्ञान देने के पक्ष में हैं।

गीता भी गोपनीयता की नीति का समर्थन करती है

इदं ते नातपस्काय नाभवताय कदाचन ।

न चाशुश्रूषवे वाच्य न भा योऽन्यसूयति ॥

---गीता

“तपस्या-विहीन, अभक्त या जिसको अभी तक इन बातों के सुनने की तीव्र इच्छा न हुई हो और जो गुरु-सेवा परायण न हो या जो मुझसे (ईश्वर) से असूया रखता हो, ऐसे व्यक्ति से ये बातें न कहनी चाहिए।”

तन्त्र-शास्त्रो मे तो इस आशय के स्पष्ट आदेश दिए गए हैं

स्वमन्त्रानोपदेष्टव्यो वक्तव्यश्च न ससदि ।

गोपनीय तथा शास्त्र रक्षणीय शरीरवत् ॥

(नारद पञ्चरात्र)

“अपने मन्त्र का किसी को उपदेश न दे, सभा मे उसे न कहे। पूजा-विधि को गृह्ण रखे और तदविपयक शास्त्र की शरीर की तरह रक्षा करे।”

इति मे सम्यगाख्याता शान्ति शुद्धादि कल्पना ।

रहस्याति रहस्याश्च गोपनीयास्त्वया सदा ॥

अर्थात् नारदजी। यह हमने आपसे शान्ति-शुद्धादि कल्पना रहस्य कहा है। यह रहस्य का भी रहस्य है। यह आपको सर्वदा गुण रखने योग्य है।

गोपनीय गोपनीय गोपनीय प्रयत्नत ।

त्वयाचि गोपितव्य हि न देय यस्य कस्यचित् ॥

“इन साधन-विधियों को यत्नपूर्वक गुह्य रखो---गुप्त रखो। इनको अपने तक ही सीमित रखो, किसी ऐसे-वैसे को मत बताओ।”

त देय पर गिर्व्येम्याह्यकेम्यो विशेषत ।
शिष्येम्यो भक्ति युक्तेम्याह्यन्यथामृत्युमाप्नुयात् ॥

दूसरे के शिष्य के लिये विशेषकर भक्तिनहित के लिए यह मन्त्र कभी न देना चाहिए । इसकी दीक्षा भक्तियुक्त शिष्य को ही इनी चाहिए अन्यथा मृत्यु की प्राप्ति होती है ।”

कथित सारभूत ते खेलत्खञ्जनलोचने ।
त्रह्यज्ञान मया देवि कि भूय श्रोतुमिच्छसि ॥
नात परतर किञ्चिचट्ठिद्यते मम मानसे ।
गोपनीय सदा भद्रे पवृत्तामर सन्तिवौ ॥

(योगिनी तन्त्र)

अर्थात् “हे देवदेवेशि । यह अत्यन्त मारभूत त्रह्यज्ञान मैंने तुम्हारे प्रति कहा है, अब अविक क्या सुनने की इच्छा रखती हो ? इससे बढ़कर अन्य कुछ मेरे अन्नर मे नहीं है । इस ज्ञान को पशु और पामर व्यक्ति से नदा गुप्त रखना चाहिए ।”

अति गुह्यमिद पृष्ठ त्वया त्रह्यतनूद्धव ।
न कस्यापि वक्तव्य दुष्टाय पिशुनाय च ॥

(गायत्री तन्त्र)

“यह मुनकर श्री नारायण ने कहा कि हे नारद ! आपने अत्यन्त गूण वाल पूछी है, परन्तु यह किसी दुष्ट या पिशुन (छलिया) मे नहीं कहनी चाहिए ।”

रहम्याति रहस्याना रहम्योऽय महेश्वरि ।
जघ्नाम्नाय समाध्यात समानेन न विस्तरात् ॥
कुलागणवमिद गास्त्र योगिनीना हृदि स्थितम् ।
प्रकाशित मया चाद्य गोपनीय प्रयत्नत ॥

(कुलार्णी तन्त्र)

अर्थात् “हे महेश्वरि । यह जो पन्म गृह एव अन्यन्त ही रहम्य है, उसका भी यह नवमे प्रवन्त ~हम्य है जो कि ऊर्ध्वाम्नाय मैंन तुम्हार-

सामने बतला दिया है। इमका विशेष विशद् वर्णन नहीं किया है, यह कुलार्णव शास्त्र है, जो योगनियो के हृदय में स्थित रहा करता है। यह कभी किसी के सामने प्रकाशित नहीं किया जाता है। तुम्हारे अत्यन्त प्रेमानुरोध होने के कारण मैंने आज प्रकाशित कर दिया है। किन्तु मेरा आदेश है कि इमको प्रयत्नपूर्वक अत्यन्त गुप्त रखना।”

कुलार्णव तत्त्व में ही एक और स्थान पर है कि अपना धन, लौ और प्राण तक अर्पण कर दे परन्तु गृह्य शास्त्र को अनधिकारी व्यक्ति का न बताए।

उपरोक्त प्रमाणों में यह बताया गया है कि तत्त्व एक गुप्त विज्ञान है। उसकी सब बातें सब लोगों के सामने प्रकट करने योग्य नहीं होती। कारण यह है कि तात्रिक साधनाएँ बड़ी किनष्ट होती हैं। वे उतनी ही कठिन हैं जितना कि समुद्र की तली में घुमकर मोती निकालना। गोताखोर लोग जान को जोखिम में ढालकर पानी में बड़ी गहराई तक नीचे उतरते हैं, तब बहुत प्रयत्न के बाद उन्हें कुछ मोती हाथ लगते हैं। परन्तु इस क्रिया में अनेक बार उन्हे जल-जन्तुओं का सामना करना पड़ता है। नट अपनी कला दिखाकर लोगों को मुरब्ब कर देता है और प्रशसा भी प्राप्त करता है, परन्तु यदि एक बार भी चूक जाए तो खैर नहीं।

तत्त्व प्रकृति से सप्राम करके उसकी रहस्यमयी शक्तियों का विजय लाभ करना है। इमके लिए असाधारण प्रयत्न करन पड़ने हैं और उनकी असाधारण प्रतिक्रिया होती है। पानी में जोर से ढेला फेकने पर वहाँ का पानी जोर से उद्धाल खाता है और एक छाटे विस्फोट जैसी स्थिति दृष्टिगोचर होती है। तात्रिक साधक भी एक रहस्यमयी साधना द्वारा प्रकृति के अन्तराल में छिपी हुई शक्ति को प्राप्त करने : लिए अपनी साधना का एक आक्रमण करता है, उसकी एक प्रतिक्रिया होती है। उस प्रतिक्रिया से कभी-कभी साधकके आहन हो जाने का भय रहता है।

जब बन्दूक चलाई जाती है तो जिस समय नली में से गोली बाहर निकलती है उस समय वह पीछे की ओर एक झटका मारती है और भयकर शब्द करती है। यदि बन्दूक चलाने वाला कमज़ोर प्रकृति का हो, तो उस झटके से पीछे की ओर गिर सकता है, घड़के की आवाज से डर या घबरा सकता है। चन्दन के वृक्षों के निकट सर्पों का निवास रहता है, गुलाब के फूलों में काँटे होते हैं, शहद प्राप्त करने के लिए मविखयों के डकों का सामना करना पड़ता है, सर्प-मणि पाने के लिए भयकर सर्प से और गजमुक्ता पाने के लिए मझेभूत हाथी से जूझना पड़ता है। तात्रिक पुरुषार्थ ऐसे ही विकट पुरुषार्थ हैं जिनके पीछे खतरों की शृङ्खला जुड़ी रहती है। यदि ऐसा न होता, तो उन लाभों को हर कोई आसानी में प्राप्त कर लिया करता।

तलवार की धार पर चलने के समान तत्त्व विद्या के कठिन साधन हैं। उसके लिये माधक में पुरुषार्थ, साहस, दृढ़ता, निर्भयता और धैर्य पर्याप्त होना चाहिए। ऐसे व्यक्ति सुयोग्य-ग्रन्थभवी गूरु की अच्छयता में यदि स्थिर चित्त से श्रद्धापूर्वक साधना करें तो वे अभीष्ट साधन में सिद्ध प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु यदि निर्बल मनोभूमि के—डरपोक, सन्देही स्वभाव वाले, अश्रद्धालु, अस्थिर मति किसी साधन को करे और थोड़ा-सा सकट उपस्थित होते ही उसे छोड़ भागें, तो वैसा ही परिणाम होता है जैसा किसी मिह या सर्प को पहले तो छेड़ा जाय पर जब वह क्रुद्ध होकर अपनी ओर लपके तो लाठी-दराड फेंककर बेतहाशा भागा जाय। इम प्रकार छेड़कर भागने वाले मनुष्य के पीछे वह सिंह या सर्प अधिक क्रोधपूर्वक, अधिक साहस के साथ दौड़ेगा और उसे पछाड़ देगा। देखा गया है कि कई मनुष्य किसी भूत-पिशाच को वश में करने के लिए तात्रिक साधना करते हैं, जब उनकी साधना आगे बढ़ चलती है तो ऐसे भय सामने आते हैं, जिनसे डरकर वह मनुष्य अपना साधन छोड़ वैठे। यदि उस साधक में साहस नहीं होता और किसी भपञ्चर दृश्य को देखकर डर जाता है, तो डराने वाली शक्तियाँ उस पर हमला बौल

देती है। फलस्वरूप उसको भयच्छ्वार क्षति का सामना करना पड़ता है। कई व्यक्ति भयच्छ्वार बीमार पड़ते हैं, कई पागल हो जाते हैं, अनेको ता श्राणो तक से हाथ धो बैठते हैं।

तत्र एक उत्तेजनात्मक उग्र प्रणाली है। इस प्रक्रिया के अनुमार जो साधना की जाती है, उससे प्रकृति के अन्तराल में बड़े प्रबल कम्पन उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण ताप और विक्षोभ की मात्रा बढ़ती है। गर्भी के दिनों से सूर्य की प्रचण्ड किरणों के कारण जब वायुमण्डल का तापमान बढ़ जाता है तो हवा बहुत तेज चलने लगती है। लू, आँधी और तूफान के दौर बढ़ते हैं। उस उग्र उत्तेजना में खतरे बढ़ जाते हैं, किसी को लू सता जाती है, किसी की आँखों में धूलि भर जाती है, अनेकों के शरीर फोड़े-फुनियों से भर जाते हैं। आँधी से छृप्पर उड़ जाते हैं, पेड़ उखड़ जाते हैं। कई बार हवा के भौंवर पड़ जाते हैं, जो एक छोटे दायरे में बड़ी तेजी से नाचते हुए डरावनी शक्ल में दिखाई पड़ते हैं। नन्द्र की साधनाओं से ग्रीष्मकाल का-सा उत्पात पैदा होता है और मनुष्य के बाह्य एवं आत्मिक वातावरण में एक प्रकार की सूक्ष्म लू एवं आँधी चलने लगती है, जिसकी प्रचडता के भयकर झकझोरे लगते हैं। यह झकझोरे मस्तिष्क के कल्पना-तन्तुओं से जब सर्प करते हैं, तो अनेकों प्रकार की भयच्छ्वार प्रतिमूर्तिया दृष्टिगोचर होने लगती हैं। ऐसे अवसर पर डरावने, भूत, प्रेत, पिशाच, देव, दानव जैसी आकृतियाँ दीख सकती हैं, दृष्टि-दोष उत्पन्न होने के कुछ-का-कुछ दिखाई दे सकता है। अनेकों प्रकार के शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शों का अनुभव हो सकता है। यदि माधक निर्भयतापूर्वक इन स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं को देखकर मुस्कुराता न रहे, तो उसका साहस नष्ट हो सकता है और उन भयच्छ्वरताओं से यदि वह भयभीत हो जाय तो वह भय उसके लिए सकट बन सकता है।

इस प्रकार की कठिनाई का हर कोई मुकाबिला नहीं कर सकता, इसके लिए एक विशेष प्रकार की साहसपूर्ण मनोभूमि होनी चाहिए।

मनुष्य दूसरों के विषय में तो परीक्षा-बुद्धि रखता है पर अपनी शिथिति का ठीक परीक्षण कोई विरन्ते ही कर सकते हैं। “मैं तत्त्व-साधनाये कर सकता हूँ या नहीं” इसका निराय अपने लिए कोई मनुष्य स्वयं नहीं कर सकता। इसके लिए उसे किसी दूसरे अनुभवी व्यक्ति की सहायता लेनी पड़ती है। जैसे रोगी अपनी चिकित्सा स्वयं नहीं कर सकता, विद्यार्थी अपने आप अपनी शिक्षा नहीं कर सकता, वैस ही तात्त्विक साधनाएँ भी अपने आप नहीं बीं जा सकती, इसके लिए किसी विज्ञ पुरुष का गुण नियुक्त करना होता है। वह गुण सबसे पहले अपने शिष्य की मनोभूमि का परीक्षण करता है और तब उस परीक्षण के आधार पर यह निश्चित करता है कि इस व्यक्ति के लिए कौन-सी साधना उपयोगी होगी और उसकी विविध में अन्यों की अपेक्षा क्या हेर-फेर करना ठीक होगा। साधना-काल में जो विक्षेप आते हैं, उनका तात्कालिक उपचार और भविष्य के लिए सुरक्षा-व्यवस्था बताना भी गुण के द्वारा ही सम्भव है। इसलिए तत्त्व की साधनाएँ गुण-परम्परा से चलती हैं। मिथि के लोभ से अनधिकारी साधक स्वयं, अपने आप, उन्हें ऊटपटांग ढग से न करने लग जाए, इसलिए उन्हें गुप्त रखा जाता है। रोगी के निकट मिठाइयाँ नहीं रखी जाती, क्योंकि पचाने की शक्ति न रखते हुए भी यदि लोभवश उसने उन्हें खाना शुरू कर दिया तो अन्ततः उसी का अहित होगा।

तत्त्व की साधनाएँ सिद्ध कर लेने के बाद जो शक्ति आती है, उसका यदि दृष्टप्रयोग होने लगे तो उसमें ससार में बड़ी अव्यवस्था फैल सकती है, दूसरों का अहित हो सकता है, अनधिकारी लोगों को अनावश्यक रीति से लाभ या हानि पहुँचाने से उनका अनिष्ट ही होता है। विना परिश्रम के जो लाभ प्राप्त होता है वह अनेक प्रकार के दुरुण पैदा करता है। जिसने जुआ खेलकर दस हजार रुपया कमाया है वह उन रुपयों का सदृष्टप्रयोग नहीं कर सकता और न उनके द्वारा वास्तविक सुख प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार ईश्वरीय या राजकीय विविध से

मिलने वाले स्वाभाविक दण्ड विधान को छोड़कर किसी को मन्त्र-बल से हानि पहुंचाई जाती है, वह गर्भपात के समान अहितकर ही होती है। तन्त्र में सफल हुआ व्यक्ति ऐसी गडवडी पैदा कर सकता है। इसलिए हर किसी को उसकी साधना करने का अधिकार नहीं दिया गया है। वह तो एक विशेष मनोभूमि के व्यक्तियों के लिए सीमित क्षेत्र में उपयोग होने वाली वस्तु है, इसलिए उसका सार्वजनिक प्रकाशन नहीं किया जाता। हमारे घर केवल उन्हीं व्यक्तियों के प्रयोग के लिए होते होते हैं, जो उसमें अधिकारपूर्वक रहते हैं। निजी घरों का उपयोग धर्मशाला की तरह नहीं हो सकता और न हर कोई मनुष्य किसी के घर में प्रवेश कर सकता है। तन्त्र भी अधिकार-सम्पन्न मनोभूमि वाले विशेष व्यक्तियों का घर है, उसमें हर व्यक्ति का प्रवेश नहीं है। इसलिए उसे नियत सीमा तक रखने के लिए गुप्त रखा है।

हम देखते हैं कि तन्त्र-ग्रन्थों में जो साधना-विधियाँ लिखी गई हैं वे बड़ी अधूरी हैं। उनमें दो ही बातें मिलती हैं—एक सावन का फल, दूसरे साधन-विधि का कोई छोटा-सा अङ्ग। जैसे एक स्थान पर आया है कि “छोकर की लकड़ी से हवन करने से पुत्र की उत्पत्ति होती है।” केवल इतने मात्र उल्लेख को पूर्ण समझकर जो छोकर की लकड़ियों के गढ़े भट्टी में झोंकेगा, उसकी मनोकामना पूर्ण नहीं होगी। मूर्ख लोग समझेंगे कि साधना-विधि भूंठी है। परन्तु इस शैली से वर्णन करने में तन्त्रकारों का मन्त्रध्य यह है कि साधना-विधि का सकैत कायम रहे, जिससे इस विद्या का लोप न हो, वह विस्मृत न हो जाय। यह सूत्र-प्रणाली है। व्याकरण आदि के सूत्र बहुत छोटे-छोटे होते हैं, उनमें अक्षर दम-दम या पाँच-पाँच ही होते हैं, पर अर्थ बहुत भागी छिपा होता है। यह सूत्र, उस विस्तृत अर्थ के एक लघु मकेनमात्र होते हैं, जिससे याद कम करना पड़े और समय पड़ने पर पूरी बात याद हो आवे। गुप्त करने वाले डाकू, पड़यन्त्रकारी या खुपिया पुनिम आदि के

व्यक्ति भी कुछ ऐसे ही मकेत बना लेने हैं, जिनके द्वाना दो चार ग्रन्थ कहु देन मात्र से एक बड़ा अर्थ ममक निया जाना है।

“छोकर के हवन ने पुत्र-प्राप्ति”—इस सकेन-मूल्र में एक मारी विवान द्विया हुया है। किस मनोभूमि का मनुष्य, किस ममय, किन उपकरणों के द्वारा, किन मन्त्रों से कितना हवन करे तब पुत्र-प्राप्ति हो—यह मव विवान उम मूल्र में द्वियाकर रखा गया है। छियाया इसलिए है कि अनधिकारी लोग उनका प्रयोग न कर सकें। मकेन-हृषि में कहा इसलिए गया है कि कालान्तर में उस तथ्य का विमरण न हो जाय, आवार मालूम रहने ने आगे की बात का मरण हो आना मुगम होता है। तत्त्व-ग्रन्थों में सावना-विधिया को गुप्त रखने पर बार बार जोर दिया गया है, साथ ही कही कही ऐसी विविधाँ भी ब्रह्माई गई हैं जो देखने में बड़ी मुगम मालूम पड़ती हैं, पर उनका फल बड़ा भारी कहा गया है। इस दिया के अनजान लोगों के लिए वह गोखववाद बड़ा उल्लंघन-भग है। वे कभी उम अत्यन्त सरल समझते हैं और कभी उसे असत्य मानते हैं। पर बन्नुम्यिति दूषी ही है। सकेन-मूल्रों की विवि में उन सावनाओं का योड़ा-मा वर्णन करके तत्त्वकारों ने अपनी रहस्यवादी मनोवृत्ति का परिचय दिया है।

तत्त्व का विषय गोपनीय है, इसलिए तत्त्व-ग्रन्थों में ऐसी अनेक सावनाएँ प्राप्त होती हैं, जिनमें बन, मन्तान, न्त्री, यज, आगोग्य, पद-प्राप्ति, गोग-निवारण, शत्रु-नाश, पाप-नाश, वशीकरण आदि नाभों का वर्णन है और सकेन-हृषि से उन सावनाओं का एक अश बनाया गया है। पान्नु यह भी प्रकार स्मरण रखना चाहिए कि इन नियित मकेनों के पीछे एक भागी मंकाएँ एवं विवि-विवान है। वह पुस्तकों में नहीं, वरन् अनुभवी, सावना-सम्पन्न व्यक्तियों से प्राप्त होता है।

अपनी सावना को गुप्त रखने का एक आव्यातिमक कारण भी है। सावना की प्रविदि जब दूसरों में फैलती है, तो सावक का यश

फैनना स्वामानिक है। इन मम्मान म साधक के मन क्षेत्र म अहङ्कार की प्रवृत्ति प्रविष्ट होती है, जो साधक के निए अत्यन्त घातक मिथ्या होती है। यदि साधक इस स्तर पर पहुँच चुका हो, कि वह अपने तप की पूँजी ने दूषणे को भी लाभान्वित कर मर, तब तो उसकी ग्रामिक गिरावट के सभी चिन्ह दृष्टिगत रूप से लगते हैं। कारण स्पष्ट है— उसकी प्रामेण्डि मुनकर जनसाधारण उसके पास ग्रपनी इच्छाओं और कामताओं का पूरा करने के लिये पहुँचने लगते हैं। यदि किसी का किसी प्रकार का लाभ हुआ, तब तो वह मिथ्या पुरुष धोयित कर दिए जाते हैं और जनता भेड़-चाल म उस धेर लेती है। साधक को भी अपनी मफनता पर प्रसन्नता होती है। ग्रव वे उनमें से फैन जाते हैं। याद किसी को निश्चय लौटना पड़ा, तो उनके मम्मान को वक्ता लगेगा। मवकी ग्रामिकों की मूलि करने लग तो ग्रपनी ग्रामिक मम्मति समाप्त हो जाएगी, जिसे पूरा करने के लिए काफी तपस्या करनी होगी। साधना-कान मे दूसरों के प्रन्त पर शरीर का पालन-पोषण होने लगा तो साधना भ्रष्ट होने की सम्भावना रहेगी, क्योंकि जो अन्न ग्रहण कर रहे हैं, न जाने वह कैसा है? मानसिक निमाण उस अन्न पर निर्भर करता है। इसीलिए कुलार्णव तन्त्र मे स्पष्ट लिखा है—

एस्यान्तन तु पुष्टागो जप होम समाचारेत् ।

अन्तदातु फनस्यार्धं चार्धं कनुर्तं सशय ॥

—कुलार्णव तन्त्र

“दूसरे व्यक्ति के अन्न मे अङ्ग पुष्ट करके जप, हवन करने वाले साधक को उसका आवा फन ही मिल पाता है, उसका आवा तो अन्न देने वाले को मिलता है।”

माधवा को प्रकट करने मे हानि-ही-हानि परिलक्षित होती है, क्योंकि उससे अहङ्कार का पोषण होता है। इसे ग्राम्यात्मिक मार्जन का महान् शत्रु माना जाता है। जब तक अहङ्कार मन मे निवास करता है, तब तक साधना मे प्रगति रुकी रहती है। निरहारी साधक ही

साधना में सफलता प्राप्त कर सकता है। अन् यह पुष्ट न होने पाए, इसके लिए तत्त्व-शास्त्रों में कड़े निष्पम निर्धारित किए गए हैं। उनमें प्रमुख है—अपनी भावना का किमी पर प्रकट न करना। तत्त्वों की आज्ञा है कि “जब जनसाधारण को यह पता चल जाता है कि यह व्यक्ति तात्रिक माध्यक है, तो उसी दिन उस साधक की मृत्यु मान लेनी चाहिए।” इसलिए साधक की भलाई इसी में है कि वह अपनी भावना का ढोल न पीटे, वरन् उसे छिपाकर रखे तभी वह अन्त तक उसके निविधि भचालन में सफल हो पाएगा। प्रसिद्धि का लाभ उसके लिए सदैव फिलने के अवसर उपस्थित करता रहेगा, यह निश्चित है।

• • •

तंत्र का अधिकार

तेपामेवंता ब्रह्मविद्या वदेत,
शिराव्रत विधि वदयेस्तु चीर्णम् ॥

(मुण्डक ३।२।१०)

“यह ब्रह्मविद्या उन्हीं से कहे, जिन्होंने विधिपूर्वक शिराव्रत यज्ञ सम्पन्न किया हो ।”

विद्याह वै ब्राह्मण माजगाम गोपाय मा शेवविष्टेऽहमस्मि ।
— वशिष्ठ स्मृति

“ब्रह्मविद्या ब्राह्मण के पास पहुँची और बोली कि मैं ही तेरा खजाना हूँ ।”

ब्राह्मण को भौतिक जीवन में भले ही निर्वन या अभावग्रस्त रहना पड़ता हो, पर उसके पास आत्मिक सम्पन्नता इन्हीं प्रचुर मात्रा में होती है कि वह अपना ही नहीं, दूसरे असल्यों का भी कल्याण कर सकता है । अपने ही नहीं, दूसरों के जीवनों को भी आनन्द एवं उल्लास से पूर्ण कर सकता है । स्वयं तो रोग-शोकरहिन होना ही है, दूसरों को भी निरामय, निशक, निर्भय एवं निर्मल बना सकता है । जिसक निज के पास विभूतियों का भागडागार भरा पड़ा हो, उसके लिए दूसरों की छुट पुट सहायता कर सकता कुछ विशेष कठिन नहीं होता ।

तपकल्प तत्त्वदर्शी ऋषियों के सम्पर्क एवं आशीर्वाद से श्रनेको का भला होते नित्य ही देखा जाता है । यह अजस्त्र अनुदान करने की क्षमता उस ब्राह्मण को कहाँ से आती है, उसका रहस्योदयाटन उपरोक्त कडिका

में किया गया है। ब्रह्मविद्या ब्राह्मण के पास पटुंची और उसे उद्वोघन करते हुए कहा—“मैं ही तेग खजाना हूँ।” ऐसा खजाना जिसमें प्रत्येक स्तर की श्री, समृद्धि श्रीग मफलता प्रचुर परिमाण में भरी पटी है। ऐसे खजाने का पता जिसे लग जाय अथवा जो उसके उपयोग का अधिकारी बन जाये उसे भना कभी रहेगी भी किम बात की। उसकी शक्ति एवं सामर्थ्य की सीमा भी क्या रहेगी? ब्राह्मण द्वारा अपना और दूसरों का असीम उपकार इसी आवार पर होता है। परा और अपरा महाशक्तियों का बीज-रहभ्य जिसके हाथ लग गया हो, उसे इस ममार की कौन-मी विभूति उपलब्ध होने वच सकती है।

महाशक्ति का यह महान् भारतीयार सबके लिए खुला नहीं है। खजाने की ताली विज्वस्न खजाङ्ची के हाथ में ही रहती है, हर कोई उसे अपने पास रखने का अधिकारी नहीं होता। उसी प्रकार शक्ति का वास्तविक एवं परिपूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिए मावक को अपना ब्राह्मणत्व परिष्कव एवं परिपूर्ण करना होता है। इस महती अनुकूल्या को करत्तनगत करने में पूर्व इस बात की परीक्षा देनी होती है कि वह ब्राह्मण है या नहीं? जो इस कमीटी पर खरा उत्तरता है उसे महाशक्ति का माध्यकार हाता है और वह मब कुछ मिल जाता है, जो भगवती के पास है।

शक्ति उपासना का छुट्ट-पुट लाभ कोई भी उठा सकता है। सक्षाम उपासनाएँ बीज-मन्त्रों का प्रभाव, अनुप्रान एवं पुरश्चरणों की शृङ्खला अपने ढङ्ग के लाभ प्रदान करती रहनी है। उनके द्वारा साधक के छुट्ट-पुट कष्ट दूर होने एवं अभीष्ट सफलतायें प्राप्त होने का क्रम चलता रहता है। ऐसे लाभ और चमत्कार आये दिन देखने को मिलते रहते हैं, पर यह सब हैं छोटे स्तर की वस्तुएँ। अमुक कष्ट को दूर कर लेना या अमुक सफलता को प्राप्त कर लेना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। ऐसा लाभ तो भौतिक प्रयत्नों से भी प्राप्त किया जा सकता है। उपासना का लाभ तो अन्तरात्मा को अनन्त सामर्थ्य से भर देना और चन्द्रन वृक्ष की

तरह स्वयं ही सुगन्धित होने के माथ-माय समीपवर्ती काढ़-झवाड़ो को को भी अपने ही समान सुरभित कर दना है। ऐसा उच्चवस्तरीय लाभ प्राप्त करने के लिए मनुष्य को ब्राह्मणत्व के ग्रनुरूप गुण-कर्म स्वभाव अपन में उत्पन्न करने पड़ते हैं। तभी वह सजाना मिलता है, जिसके लिए ब्रह्मविद्या ने ब्राह्मण का उद्दोघन करते हुए उसे उस महान् भाडागार को हस्तगत कर लेने की प्रेरणा की है।

भगवती की शक्तियाँ सत्पात्र पर ही अवतरित होती हैं। स्वर्ग से उतरकर गगा पृथ्वी पर आई, तो उनके धारण करने के लिए शिव जी को अपनी जटाये कैलाकर अवतरण की पृष्ठभूमि तंयार करनी पड़ी थी। भागीरथ के तप से प्रसन्न होकर गङ्गा ने पृथ्वी पर उत्तरने का वरदान तो दिया था, पर साथ ही यह भी कह दिया था कि मेरी धारा को सभालने वाली भूमिका न बनी तो धारा पृथ्वी मे छेद करती हुई पाताल को चली जायगी, उसका लाभ भूलोकवासियों को न मिल सकेगा। इस आवश्यकता की पूर्ति जब शङ्कर भगवान ने कर दी तब ही गङ्गावतरण सम्भव हो सका। महाशक्ति की भी ठीक यही स्थिति है, उसे धारण करने के लिए समर्थ पृष्ठभूमि की अनिवार्य रूपसे आवश्यकता है और इस आवश्यकता की पूर्ति ब्राह्मणत्व के गुण-कर्म-स्वभाव से सम्पन्न साधक ही कर सकता है। ऐसा ब्राह्मण मन्त्र की महाशक्ति को अपने में धारण कर सकता है और उससे व्यक्ति एव समाज का महान् उपकार साध सकता है। कहा भी है—

देवाधीनं जगत्सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवता ।
ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीनास्तत्स्याद् विप्रोह देवता ॥

—मत्स्य पुराण

“देवताओं के आधीन सब ससार है। वे देवता मन्त्रों के आधीन हैं। वे मन्त्र ब्राह्मण द्वारा प्रयुक्त होते हैं, इसलिए ब्राह्मण भी देवता हैं।”

महर्षि वशिष्ठ इसी प्रकार के सुर—पृथ्वी के देवता थे। उनके

पास नन्दिनी का मधेनु—अर्थात् भगवती वी महाशक्ति थी। राजा विश्वामित्र के साथ जब वशिष्ठ का युद्ध हुआ और राजा की विशाल सना परास्त हो गई तो विश्वामित्र के मुख से यही निकला—“विग्वल क्षत्रिय वल—ब्रह्म ते जो बलम्-बजम्” अर्थात् भाँतिक वल विकारने योग्य, तुच्छ एव नगण्य है। वास्तविक वल तो ब्रह्मवन ही है। वही मन्त्र-बल है, वही सच्चा वल है—यह कहते हुए विश्वावित्र ने राजपाट का परित्याग कर दिया और ब्रह्मबल प्राप्त करने के लिए तप करने लगे।

यहाँ किसी विरादरी की चर्चा नहीं की जा रही है। हर विरादरी में हर स्तर के लोग पाए जाते हैं। यहाँ गुण-कर्म स्वभाव से ब्राह्मणत्व अपने भीतर विकसित कर सकें, उन्हीं साधकों वी चर्चा की जा रही है और उन्हीं के लिए ब्राह्मण शब्द प्रयुक्त किया जा रहा है। वे ही मन्त्र-शक्ति के अधिकारी हो सकते हैं।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ब्राह्मण विरादरी के अतिरिक्त दूसरी विरादरी वाले उसकी पूजा नहीं कर सकते, वरन् यह है कि—जो इस महाशक्ति का पर्गपूर्ण लाभ उठाना चाहें, उसे जप-तप ही नहीं, ब्राह्मणत्व का अवतरण भी अपने व्यवहारिक जीवन में करना चाहिए। जितना शुद्ध चरित्र होगा, उन्नी ही साधना प्रखर होगी। सच्चरित्र की ओड़ी सी उपासना भी इतना अद्भुत लाभ दिखाती है, जितनी कि दुश्चरित्र एव अस्थिरमनि वृक्ति के आजीवन क्रिया-कृत्य भी नहीं कर सकते। ब्राह्मणत्व यदि अपने भीतर पैदा कर लिया जाय, तो शक्ति-उपासना के जो लाभ शास्त्रकारों ने बताये हैं, उसकी सत्यता अक्षरश प्रत्यक्ष की जा सकती है।

यह किसी जाति विशेष की महत्ता का प्रतिपादन नहीं है और न किसी जाति को उपासना के अधिकार से तच्छित करना है। इन शास्त्र-वचनों से इस तथ्य का प्रकटीकरण किया गया है, जो अपने मानसिक, वौद्धिक एव भावनात्मक स्तर को निर्मल बनाकर जितना

व्रह्मवर्चस प्राप्त कर लेगा, उननी ही अधिक—उतनी ही शीघ्र, उतनी ही उच्चस्तर की सिद्धि-सफलता मिलेगी। शक्ति-उपासना का आलम्बन ग्रहण करने वाले को जप-ग्रनुष्ठानों की भाँति ही अपनी मनोभूमि के परिष्कृत करने की साधना में सलग्न होना चाहिए।

ब्राह्मणेतर वर्ण भी शक्ति-उपासना का लाभ उठा सकते हैं, उसकी चर्चा शास्त्रों में जगह-जगह उपलब्ध होती है।

जातिगत बन्धन लगाने का शास्त्रों में कोई उल्लेख नहीं है। केवल इतना ही कहा गया है कि जो इम महाशक्ति का वास्तविक लाभ उठाना चाहे वे अपने आत्मिक एवं व्यवहारिक जीवन में ब्राह्मणत्व की विशेषताएँ उत्पन्न करें। जो इस दिशा में प्रयत्नशील रहे हैं, उन्होंने इतना कुछ पाया है कि स्वयं धन्य हुए हैं और दूसरों को धन्य बनाया है। जिन्होंने जप-व्यान तक ही अपने को सीमित रखा, वे लौकिक जीवन की छुटपुट समृद्धियाँ प्राप्त कर सकते के स्वल्प लाभों से आगे बढ़कर कोई अधिक महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त न कर सके। कारण स्पष्ट है—शारीरिक और मानसिक अनाचार बरतने से आत्मशक्ति का इतना क्षरण हो जाता है कि फिर साधक मटियाले सर्प की तरह निस्तेज हो रहता है। किसी मन्त्र-तन्त्र के सहारे भी अपना आत्मिक वर्चस्व बढ़ाने का ग्रवपर नहीं मिलता। आज के अगणित पूजा-भजन में सलग्न व्यक्ति इसी प्रकार तेजरहित जीवन बिता रहे हैं। उनने उपासना को सरल जानकर उसे तो अपनाया, पर जीवन-शोवन की कठिन प्रक्रिया से बचते-कृतराते रहे। ऐसे लोगों को आत्मवल और उसके मिलने वाली महान् उपलब्धियाँ भला मिलें भी तो कैसे अपने आशीर्वाद से किसी का भला कर सकेंगे तो कैसे?

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्

आलस्यात् अन्तं दोपाच्च मत्युविप्रान् जिघामति

वेदों का अस्थास न करने में, आचार छोड़ देने से, आलस्य से, कुधान्य खाने में ब्राह्मण की मृत्यु हो जाती है ।

जिह्वा दग्धा परान्तेन करौ दग्धौ प्रतिग्रहात् ।
मनादग्ध परस्त्रीभि कथ सिद्धिर्वरानने ॥

पराया अन्त खाने में जिह्वा की शक्ति नष्ट हो गई, दान-दक्षिणा लेते रहते से हाथों की शक्ति चली गई, पर नारी की ओर मन डुलाने से मन नष्ट हो गया । हे पार्वती ! इन ब्राह्मणों को सिद्धि कैसे मिले ?

वादार्थं पठ्यते विद्या परार्थं क्रियते जप ।
स्थात्यर्थं दीयते दान कथ सिद्धिर्वरानने ॥

वाद-विवाद के लिये विद्या पढ़ी, दूसरों से दक्षिणा लेकर जप किया, कीर्ति के लिए दान किया । ऐसे लोगों को हे पार्वती, सिद्धि कैसे मिले ?

अनध्यापन जील च सदाचार विलघ्नम् ।

सालस च दुर्घ्नाद ब्राह्मण वाधते यम ॥

स्वाव्याय न करने से, आलस्य से और कुधान्य खाने से ब्राह्मण का पतन हो जाता है ।

देखा जाता है कि श्रभी भी किन्तेक व्यक्ति शक्ति-उपासना करते हैं और उसके फलस्वरूप ज्ञान एवं विज्ञान की उपलब्धि चाहते हैं किन्तु कुछ कहने लायक सफलता नहीं मिलती । इमका कारण उनके उपासना-क्रम का अधूरगपन ही है । सावारण माधना का विवि-विवान शास्त्रों में सार-रूप में लिखा हुआ है, उसमें कोई वही पेचीदगी नहीं है । विवि - विवानों की मामूली जानकारी प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर की जा सकती है । उन्हे कर मकना भी कुछ विशेष कठिन नहीं है । लोग करते भी हैं, वर भी रहे हैं पर सावारण कठिनाइयों या मामूली-भी कामनाओं की पूर्ति के अतिरिक्त 'वस्तुन' कोई इनना बड़ा प्रभाव उन्हे नहीं दीवना, जिससे यह अनुमान लगाया जा सके नि तन्त्रों

मेर्यादित आत्म-विद्या के असर्व चमत्कारी लाभों मे से—ऋद्धि-मिद्धियों मे से—कुछ की उपनिषिद्धि वे ऊर सकेंगे ।

इस असफलता से निराश होन की आवश्यकता नहीं, वरन् यह देखना है कि यह अवरोध उत्पन्न क्यों होता है । इमका एकमात्र कारण साधक का शरीर और मन उस उच्च स्तर का न होना ही है, जिसमे कि आध्यात्मिक साधनायें फलित होती हैं । गन्ते की, गुलाब की या दूसरी कीमती फसलें पैदा करने के लिए वाटिका को जमीन की आवश्यकता पड़ती है । उसमे खाद पानी का समुचित प्रबन्ध करना होता है । यदि ऐसा न हो सके, ऊमर, वज्र मे विना जोने-बोए बीज बो दिया जाए, वहाँ खाद-पानी तथा सुरक्षा का प्रबन्ध न हो, तो अच्छी फसल की आज्ञा किस प्रकार से की जा सकेगी ? आध्यात्मिक साधनाएँ—जिनमे शक्ति-उपासना प्रमुख है, एक प्रकार की वैज्ञानिक कृपि है । उसके लिए उपयुक्त साधन आवश्यक हैं । इस सदर्भ मे सबसे अधिक आवश्यकना साधक के उत्कृष्ट व्यक्तित्व की है । उसकी मनोभूमि उत्कृष्ट कोटि की होनी चाहिए । यह बढ़ियापन जितना बढ़ा-बढ़ा होगा, उतनी ही साधना की सफलता सुनिश्चित रहेगी ।

बढ़िया बन्दूक मे रखकर चलाये जाने पर कारतूम जैसा ठीक काम करता है, वैमा घटिया, नक्ली बन्दूक मे रखकर चलाने पर काम नहीं कर सकता है । कारतून वही है पर बन्दूर के घटिया-बढ़िया होने पर वह अपना काम भी वैसा ही करता है । मन्त्र एक प्रकार का कारतूम है । व्यक्तित्व को बन्दूक कहना चाहिए । यदि साधक का चरित्र, स्वभाव, आचार, व्यवहार, हथिरोग निष्कृष्ट स्तर का है, तो शक्ति-उपासना का प्रतिफल भी सन्तोषजनक न होगा । यदि कोई चरित्रवान्, इंद्रिय-संयमी, उपस्थी, उदारमना एव देव-स्वभाव का मनुष्य उसी मन्त्र को जपेगा, उसी उपासना को करेगा, तो निष्कृष्ट स्तर के व्यक्ति की तुलना मे इमका परिणाम मैरुडो गुना अधिक होगा । मन्त्र वही, विद्यान वही, फिर भी सफलता ने इनना अन्तर ।

इम विषय मे किमी को शासांशीन नहीं होना चाहिए। अक्षितपामना जादू नहीं, एक सर्वाग्पूर्ण विवान है। घटिया रेडियो खड़खड करती हुई जरा-मी आवाज मे बालते हैं, जबकि वद्विया-कीमनी रेडियो बहुत साफ और बुलन्द आवाज मे बोलता है। दिल्ली से एक ही तरह की आवाज बोली जानी है, आकाश मे भी कम्पन ऐसे है, पर पास-पास रखे हुए दो रेडियो, जिनकी मुई उमी म्टशन पर है, यदि आवाज की हृषि से बहुत बड़ा अन्तर प्रकट करते हैं, तो उसमे दोप किसी का नहीं, उन मन्त्रों और कीमती यन्त्रों का ही है। मीरा, सूर, तुलमी कवीर आदि न जो हरि नाम निया था, उमी को हम रोज लेते हैं पर हमारे निए वही हरि-नाम कुछ भी प्रतिफल उत्पन्न नहीं करता, तो उमका दोप बाहर किमी को न देकर अपनी आनन्दिक दुर्वलताओं को ही देना चाहिए।

दशरथ को जब सन्तान-कामना की पूर्ति के लिए 'पुत्रेष्ठि यज्ञ' कराने की आवश्यकता हुई, तो उसका विवि-विवान भली प्रकार जानते हुए भी महर्षि विगिष्ठ ने उसे पूरा कग सकने मे अपनी असमर्थना प्रकट की। इस पर दशरथजी ने आश्चर्य के साथ इसका कारण पूछा। विगिष्ठजी ने कहा — 'पुत्रेष्ठि यज्ञ का विवान तो मैं जानना हूँ पर व्यक्तित्व की हृषि से पूर्ण ब्रह्मचारी न हाने के कारण उस विवान को मफनना-पूर्वक करने की सामर्थ्य से मम्पन्न नहीं। वर्तमान ऋषियों मे यह कार्य शृङ्खली ऋषि ही ठीक तरठ पूरा करा सकते हैं, क्योंकि वयस्क हो जाने पर भी बनवाम मे रहने के कारण उन्होने रमणी को न तो देखा है और न उसकी कल्पना की है। ऐसे ब्रह्मचारी की आत्मा ही इन्हीं विगिष्ठ हो सकती है कि उसके द्वारा मफन पुत्रेष्ठि यज्ञ कराया जा सके।' अन्तत शृङ्खली ऋषि को ही बुलाया गया और उन्हीं के पांगोहित्य मे दशरथ का वह पुत्रेष्ठि यज्ञ मफन हुआ, जिसके प्रभाव मे राम, लक्ष्मण भरत, यशोधर जैमी आत्माओं को अवतरित होना पड़ा। यदि शृङ्खली ऋषि जैसे तपस्वी का पांगोहित्य न बिना होता, तो विवि-विवान

के पूर्ण ज्ञाता आचार्य द्वारा कराये जाने पर भी पुत्रेष्टि-यज्ञ सफल न होता।

मन्त्र यही है, विधि-विद्यान् भी वृत्ति है, उनकी जानकारी वही है। उनकी जानकारी ग्रन्थों से तथा दूसरे विद्वानों से प्राप्त की जा सकती है। इतने पर भी उनकी वैसी महिमा, जैसी कि गाई गई है, अक्सर हिंटगोचर नहीं होती। इसका कारण उस विद्या का भिष्या होना या विधि-विद्यान् में कोई फर्क रह जाना नहीं होता वरन् यह होता है कि उसे करने वाले का व्यक्तित्व एवं चरित्र उस स्तर का उत्कृष्ट नहीं होता, जैसा कि आत्म-विद्या के मच्चे पथिक का होना चाहिए। साधक के लिए मन्त्र-विद्या का विधि-विद्यान् जान लेना हो, पर्याप्त नहीं, वरन् यह भी आवश्यक है कि वह अपने चरित्र एवं मानविक स्तर को पवित्र एवं उत्कृष्ट बनाने में सलग्न रहे।

शक्ति-उपासना के क्षुद्रपुट लाभ साधारण रीति से जप, श्रुत्यान् करने वालों को भी मिल सकते हैं। गमनों में छोटे-से फूल पौधे उगाय जा सकते हैं। पर यदि कोई विशाल वृक्ष लगाना हो, तो यह आवश्यक है कि उसके लिए ऐसी जमीन दूँढ़ी जाय, जिसमें होकर जड़े नीचे गहराई तक प्रवेश कर सके। बरगद और पीपल के वृक्ष गमलों में उग तो सकते हैं पर फनने-फूलने की स्थिति तक नहीं पहुँच सकते। भगवती की सामर्थ्य की कोई तुलना नहीं, पर वह पूरी तरह अपना प्रभाव तभी प्रकट कर सकती है, जब साधक की मनोभूमि काफी परिष्कृत एवं सुसङ्कृत बनाई गई हो। उपासना का विधि-विद्यान् ठीक तरह जानना और उसका कर्मकाड उचित तरीके से पूरा करना, अभीष्ट सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यक है पर उससे भी ज्यादा आवश्यक यह है कि साधक अपने भावना-स्तर को अधिकारिक ज्योतिर्मय बनाने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करे।

उपासना, भजन-पूजन के विधि विद्यान् को — जप, तप, धारणा, ध्यान आदि को कहते हैं। मात्रना अपने गुण कम स्तरभाव को व्यवस्थित,

मुमस्तुत एव परिष्कृत वनाने को कहते हैं। उपासना को वीज और माध्यना को भूमि कहते हैं। यदि भूमि अच्छी न होगी, तो वीज के फलित होने की आशा नहीं की जा सकती। यदि किसी सावक ने अपने आहार-विहार, विचार-व्यवहार, क्रिया-कलाप, उद्देश्य-टॉपिकोण को परिष्कृत वनाने के लिए श्रम नहीं किया है और केवल मन्त्र-विद्या के क्रिया-कलापों को ही पूरा करता है, तो ममन्त्रा चाहिए—उसका श्रम ऊपर में गुलाब का बगीचा उगाने के प्रयास जैसा है। मन्त्रों की शक्ति वेशक वहूत बड़ी है, पर उनका लाभ हर व्यक्ति नहीं उठा सकता। जिन्हे उपासना का चमत्कार देखना हो, उन्हे अपने आपको उसी तरह तपाना चाहिए जमे अग्नि में सोने को तपाकर उसे विकाररहित किया जाता है। शुद्ध सोने का ही चर्चित मूल्य मिलता है।

कच्ची पिट्ठी के बने घडे, खिलोने एवं ईटे कमज़ोर रहते हैं, पर जब उन्हें आग में पका लिया जाता है, तो वे मजबूत हो जाते हैं और देर तक ठहरते हैं। अभ्रक एक सम्मी वस्तु है, पर जब उसका सौ बार अग्नि-सस्कार किया जाता है, तो वह वहूमूल्य अभ्रक-रसायन बन जाती है। सावक का चरित्र और व्यक्तित्व जितना निर्मल होगा, उपासना उतनी ही जल्दी, उतनी ही अविकृ प्रतिपलित होगी। दुष्ट दुराचारी, स्वार्यी और सकीर्ण, गन्दे और निकम्मे आदमी मन्त्र-शक्ति का चगल्कागी परिणाम प्राप्त कर सकते में वचित ही रह जाते हैं।

महाभारत में सावित्री द्वारा सत्यवान के वरण की कथा आती है। सावित्री किसी को अपना माथी बनाना चाहती थी, किसी के साथ अपने को घुला देना चाहती थी। ऐसे साथी की खोज में वह देश-देशान्तरों में घूमती रही। अनन्त, उसे उपयुक्त व्यवित मिल गया—वह था सत्यवान। लकड़हारे, निर्वन, असहाय सत्यवान को राजकन्या सावित्री न इसलिए वरण किया कि वह आन्तरिक सम्पदा ओं का बनी था। उसके गुण-कर्म-स्वभाव का स्तर ऊँचा था। वरण कृत्यहो गया। सत्यवान का आयुष्य एक वर्ष में ही पूरा हो ला, यम उसका प्राण

ने जाने आये । पर सावित्री ने यम के हाथों से अपने सहचर को छुड़ा लिया । अपनी शक्ति द्वाग उसे अजर-अमर बना दिया ।

यह अलकारिक कथा उपासना की सफलता का रहस्य भली प्रकार समझा देनी है । शक्ति अपनी सारपूर्ण कृपा प्रदान करने के लिए उपयुक्त व्यक्ति को खोजती है । ऐसा सहचर सत्यवान—सत्यनिष्ठ-सदाचारी, उत्कृष्ट आत्मिक स्नर का व्यक्ति ही हो सकता है । जब दोनों का साथ हो जाता है, तो भगवती अपना चमत्कार दिखाती है । उमे यम के पाश से छुड़ाकर अजर-अमर बना देनी है । शक्ति के पास जितना कुछ विभूति-भड़ार है, वह सुस्कृत साधक—सत्यवान—को मिल जाता है । यदि किसी को इस महाशक्ति की सिद्धियों का साक्षात्कार करना हो, तो उमे उपरोक्त कथानक में समाये हुए रहस्यपूर्ण तत्त्वज्ञान को हृदयगम करना चाहिए ।

ब्राह्मणत्व का अभिवर्धन शक्ति-उपासना की सफलता का मूल-भूत आधार है । छुटपुट लाभ मामूली साधना से सामान्य स्तर के साधक भी पा सकते हैं, पर यदि इस शक्ति का सच्चा स्वरूप और वास्तविक चमत्कार देखना हो, तो अपने गुण-कर्म-स्वरूप में ब्राह्मणत्व की मात्रा निरन्तर बढ़ाने चलने के लिये साधकों को सच्चे मन से कठिबद्ध होना चाहिए । माता इसी आधार पर अपने अक्षय कोष का अधिकार किसी को प्रदान करती है ।

शक्ति-साधना का लाभ और चमत्कार देखने के इच्छुकों को केवल साधना-विधान के कर्मशाड़ की वारीकियों को ही नहीं छूटते रहना चाहिए वरन् अपनी शारीरिक एव मानसिक भूमिका का भी परिष्कार करने के लिए यचेष्ट रहना चाहिए । ठीक है—विधि-विधानों का भी अपना महत्व है । ठीक है—वीज-मन्त्र तथा दक्षिणामार्ग, वाममार्ग साधना-विधान अपना विशिष्ट प्रतिफल पैदा करत हैं पर इसके लिए उनकी समुचित जानकारी इस महाविद्या के प्रयोगकर्ताओं को ठीक तरह अनुभव और अभ्यास में लानी चाहिए । इसके लिए अनुभवी मार्गदर्शक

और ऋषि-परम्परा की शास्त्रीय पढ़नि का अवलम्बन प्रहृणु करना चाहिए। माय ही उह मी स्मरण रखना चाहिए कि आन्तरिक उपायनादों के पथ पर गतिशील होने के आवादी साधक को अपन व्यक्तित्व की उत्कृष्टता बटाना तथा व्यिर रखना नितान्त ग्रावश्यक है। आत्मिक प्राप्ति की उह एक अनिवार्य घर्त है।

दिग्गज किंवद्दन का बाहु भने ची हो, पर उसे टीक निशाने तक पहुँचाने के लिए दिग्गज मजबूत धनुष भी नो चाहिए। यड़ी-धुनी लकड़ी के धनुष ना तीर के लिए निशाने तक फेक सकना तो बठिन है ही— इस खीच-तान में उह अपनी भी दुर्गति बग नेगा। ओछे आदमी घृणित और निकृष्ट हृषिकेंग अपनाकर जीवन-यात्रा का रहे हैं। ऐसे कुसम्बारी भने ही जप-नप का बाहु आवाह धूगा पूरा रहे, उह र्मदाड उनकी आत्मिक प्रगति में कुछ विशेष प्रभावना न कर सकेगा।

प्राचीन कान में ऐसे अनेक साधक हुए हैं, जिनका साधना-विज्ञान कोई बड़ी शास्त्रीय परम्परा पर आधारित न था फिर भी उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति में आशाजनक सफलता मिली। कवीर वी गिक्षा स्वत्प थी, उन्ह मार्गदर्शक भी अनुभवी नहीं मिला। मन्त्र शामान्द उनके ऐसे ही गुरु ये, जैसे एकनव्य के द्रोगाचार्य। वे प्रत्यक्ष में कवीर के गुरु होने वी बान में इन्कार करते रहे। रैदामशी वश-परम्परा ने उन्हें शास्त्रीय साधना-पढ़नि कर लाभ लेने में वचित रखा। मीरा केवल भजन, चीरन, नृन्य एव भावोन्माद तक अपना साधना-विवान मीमित रख सकी। यवी किस प्रकार वी उपायना-पढ़ति अपनाए रही, कुछ पता नहीं चलता। वान्मीकि तो मीरा राम-नाम भी न ले सके, उन्हें 'मरा-मरा' का उन्दा नाम उपकर ही आगे बढ़ना पड़ा। ऐसे उदाहरण साधनाड-निहाम के पन्ने-पन्ने पर भरे पड़े हैं और आज भी ऐसे अनेक साधक मिलते हैं, जिनकी गिक्षा और साधना-पढ़नि उपहासाव्यपद है। फिर भी उन्होंने काफी आत्मिक प्रगति कर ली। इसका एकमात्र कारण व्यक्तित्व की उत्कृष्टता ही थी। मानवीय सुद्धभावो बाहु यही उनकी

वह विशेषता थी, जिसने उच्चस्तरीय सफलता का अधिकारी उन्हे बना दिया ।

दूसरी ओर ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जिनमें उपासना का शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक प्रकरण भली प्रकार जानते हुए भी साधन कुछ आशाजनक लाभ प्राप्त न कर सके । रावण, कुम्भकरण, मारीच, भस्मासुर, वृत्रासुर, हिरण्यकश्यप, मधुकैटभ आदि अगणित व्यक्ति उच्च कुनों में उत्पन्न हुए थे, उनके गुह भी शुक्राचार्य जैसे पारगत थे । उन्होंने कठिन तपश्चर्यायें भी की और वरदान भी पाए, फिर भी इन सुविधाओं का कोई विशेष लाभ उन्हे नहीं मिला । उनकी अतिमिक प्रगति नगरण रही । जो साधना-नपश्चरण उनने की वह उनकी आत्मा का, उनके परिवार का, सारे समाज का कुछ भी हित साधन न कर सकी । अतएव हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना होगा कि जिन्हे वस्तुतः आध्यात्मिकता का लाभ लेना हो, इस मार्ग पर चिरस्थायी आशाजनक प्रगति करनी हो, उन्हें सबसे पहले—सबसे अधिक—ध्यान इस बात पर देना चाहिए कि उनका व्यक्तित्व, हृष्टिकोण, गुण, कर्म, स्वभाव सम्बन्ध—अन्त करण-चतुष्पद उत्कृष्ट स्तर का बने । यही ब्राह्मणत्व है । ब्रह्म-वर्चस की सारी शक्ति, चेनना एवं ज्ञानता इसी आधार पर उपलब्ध होती और बढ़ती है ।

ब्राह्मणत्व के आधार पर तन्त्रों में तीन प्रकार की शक्ति-उपासना का विधान प्राप्त होता है—स-कल, निष्कल और मिश्र । सकल उपासना निकृष्ट कोटि की, उच्च उपासना मध्यम कोटि की और निष्कल उपासना उत्तम कोटि की मानी जाती है ।

शास्त्र में भी कहा है—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिण ।

उपासकाना कायर्थी ब्रह्मणे रूप कल्पना ॥

अर्थात् चिन्मय, अद्वितीय, अशरीरी उपासक के लिए ब्रह्म के रूप की कल्पना की गई है ।

अग्नौ तिष्ठति विप्राणा हृदि देवो मनीषिणाम् ;
प्रतिमास्वप्रबुद्धाना सवत्र विदितात्मनाम् ॥

—कुलार्णव तन्त्र

ग्रथात्, ब्राह्मणों के उपाध्य देवना अग्नि में, मनीषी व्यक्तियों के हृदय में, अप्रबुद्धों की प्रनिमा में रहते हैं और आत्मज्ञानी को सर्वत्र ही ब्रह्म के दर्शन हात हैं ।

प्रारम्भिक उपासकों के लिए मात्रार उपासना का ही अधिकार है । दगुण मूर्ति का व्यान करते हुए वह तिर्गुण अथवा निष्कल व्यान का अधिकारी बनता है ।

विश्वमार तन्त्र में उपासना के सात अधिकारों का वर्णन किया गया है—

भावत्रयगतान् देवि सप्ताचाराश्च वेत्तिय ।

स जन मकल वेत्ति जीवन्मुक्त स एवि हि ॥

अर्थात् जो उपासक भावयन्न के अन्तर्गत सप्ताचार का ज्ञान रखते हैं, वे सर्वज्ञ और जीवन्मुक्त हैं ।

तन्त्र में अन्यत्र भी कहा है—

आचारस्त्रिविव प्रोक्त साधकाना मनोषिभि ।

दिव्यदक्षिणावामाश्चाऽधिकारा सप्त कीर्त्तिता ॥

सप्ताऽधिकारा विदुप साधकस्य मता इमे ।

दीक्षा रत्तो महादीक्षा पुरश्चरणमेव च ॥

तत्तो महापुरश्चर्याऽभियेकस्तदनन्तरम् ।

पठो महाऽभियेकश्च तद्वावोऽन्तिम ईरित ॥

साधकोऽनेन लभते मोक्ष नाऽस्तीह सशय ।

एषा सप्ताऽधिकाराणा नामानि विविधानि वै ॥

तन्त्राऽऽदिग्नाम्ब्रे कथितायाचारस्याऽनुमारत ।

परस्पर विप्रतीयावाचारो वामदक्षिणौ ॥

हृयोरभिन्नलक्ष्यत्वेऽप्ये न प्रवृत्तिनिष्ठि ।
 निवृत्तिनिष्ठो ह्यपर प्रवृत्तिहि निसर्गजा ॥
 महाफला निवृत्तिस्तु विज्ञेया वेदवादिभि ।
 अतो ह्युपासनाया व आचारो द्विविधो मत ॥
 उपासनाऽन्तर्भावा वै त्रिविधाश्चापि शुद्धय ।
 आचारे पारचीयन्ते प्रोत्क्षेत्रमनीयिभि ॥
 स्वाऽचारभेदा विज्ञेया गुरुदेवोपदेशत ।
 निवृत्तिमार्गपथिका रता यत्र निसर्गत ॥
 दिव्याऽचार स भवति यस्तृतियतया मत ।
 द्वौ वामदक्षिणाऽचारी विशद्वौ हि परस्परम् ॥
 दिव्याऽचारो ना विश्व सर्वजोवहितप्रद ।
 वाम प्रवृत्तिपरको दक्षिणस्तु निवृत्तिग ॥
 दिव्याचार उभाभ्या वै पर श्रेयस्करो मत ।
 द्विवधस्तु भवत्येष वामदक्षिणभेदत ॥
 आचार शक्ति पूजाया सवतन्त्रानुसारत ।
 शक्तिप्रधान्य तस्चारमेव्यक्ति पूजाविवौ नृणाम् ॥
 साधनानो सुविस्तार क्रियते तत्वदर्शिभि ।
 अधिकारोऽत्र पूजाया द्विविधो दृश्यते तथा ॥
 तन्त्रेषु बहुविस्तार शक्तिपूजाविधेरभूत ।
 दक्षिणाऽचारतो योऽय विपरीतो भवेदिह ॥
 वामाऽचार स विज्ञेयस्तन्त्रशास्त्रविशारदै ।
 जने सत्वप्रवाने तु दिव्याचार प्रशम्यते ॥
 पश्वाऽचारो रजोमुख्ये वामाऽचारश्च ताममे ।
 वामाचारश्च योऽय वै वीराऽचार स कथ्यते ॥
 लोककल्याणसिद्धं निर्णीतोऽसौ कलौयुगे ।
 स्वा स्वा प्रकृतिमाश्रित्य जीवा परावगा कलौ ॥

वामाऽचार मनुष्ठाय लप्स्यन्ते शुभमव्ययम् ।
 एव प्रवृत्तिकार्येषु निवृत्तेर्लक्ष्यतावशात् ॥
 नून प्रवृत्ति चेष्टासु घारास्वपि च साधक ।
 प्रभत्वेसाभितु सिद्धि मात्मनश्चोन्तति सदा ॥
 वामाऽचारहस्य वै ह्येतन्मुनिसमाहृतम् ।
 वामाऽचारक्रियामुख्य लतासाधनवर्णनम् ॥
 विहित तन्त्रमर्ज्जे' प्रायग' शक्तयुपासने ।
 अन्येषु सम्प्रदायेषु युग्मोपासनवर्णना ॥
 विहिता यत्र तत्रैव क्रियेयमुपवर्णिता ।
 यथा द्वंविद्यमापन्तो दक्षिणाऽचार उच्यते ॥
 वामाऽचारे तथा चाष्टी भेदा प्रोक्ता हि तात्रिकै ।
 वामाऽचारेऽधिकारा स्यु सदा वै परिकीर्तिना
 प्राप्यन्ते साधकेस्त हि गुरुदेवकृपावशात् ॥

सावकों के लिए आचार्यों ने तीन तरह के आचार बताए हैं—
 दिव्य, दक्षिण और वाम । उपासक के सात अधिकार बताए हैं—दीक्षा,
 महादीक्षा, पुरश्चरण, महापुरश्चरण, अभियेक और महाअभियेक और
 तदमाव । नित्सन्देह इन अधिकारों के माध्यम से उपासक मोक्ष को
 प्राप्त कर सकता है । उपासक के इन सप्त अधिकारों के नाम तन्त्र-
 शास्त्रों में दिव्य, दक्षिण और वाम आचारों के अनुसार बहुत तरह क
 हैं, जिनका अपने-अपने सम्प्रदायों में व्यवहार होता है । वाम और
 दक्षिण दोनों में परम्पर विरोध है । दोनों का उद्देश्य निवृत्तिमूलक
 होने पर भी एक का भुक्ताव प्रवृत्ति की ओर और दूसरे का निवृत्ति की
 ओर है । प्रवृत्ति की ओर भुक्ताव स्वाभाविक होता है । निवृत्ति महा-
 फल प्रदायिनी है । इसलिए उपासना में दोनों प्रकार के आचारों का
 वर्णन आता है । विद्वानों का कहना है कि आचार-उपासना के अर्त्त-
 भावों का परिचायक है । अपने भपने आचार के भेद में गुरु जानने

चाहिए। जिस आचार में निवृत्ति मार्ग के पूर्ण अधिकारीगण सलग्न रहते हैं, वह पूर्ववर्णित दोनों आचारों से भिन्न है। वाम और दक्षिण दोनों आचारों का आपस में विरोध है। परन्तु दिव्याचार की दोनों से अनुकूलता है और वह समस्त प्राणियों के कल्याण के लिए है।

वामाचार प्रवृत्ति पर और दक्षिण निवृत्ति पर आधारित है। दिव्याचार दोनों से ऊपर हैं और द्वातीत होने से परमानन्दप्रद स्वीकार किया गया है। तत्त्व के मत से शक्ति-उपासना में आचार—वाम और दक्षिण दो प्रकार का वर्णित किया गया है। इसमें शक्ति की प्रधानता है। तात्रिकों का कहना है कि दक्षिणाचार के विरुद्ध आचार वाम कहा जाता है। उपासक जब सात्त्विक प्रवृत्तियों को अपनाता है, तो दिव्याचार लाभदायक सिद्ध होता है। रजोगुण की ओर भुकाव वाले साधक के लिए पश्वाचार कल्याणकारी होता है। तमोगुणी उपासक को वामाचार का अधिकार दिया गया है। यह कलियुग में लोक-कल्याण के लिए निश्चित किया गया है। कलियुग में साधक अपनी मनोभूमि के अनुसार इसका उपभोग कर सकेंगे। चूँकि इन प्रवृत्ति की क्रियाओं में निवृत्ति का लक्ष्य रहता है, इसलिए प्रवृत्ति-मार्ग में सलग्न रहते हुए भी आत्मोन्नति की ओर अग्रसर हो सकता है। मुनियों ने वामाचार का यही रहस्य बताया है। तन्त्रों की शक्ति-साधना में लता-साधन का उल्लेख आता है, जो वामाचार क्रिया-प्रथान है। युगल उपासना विधि प्रधान वैष्णव सम्प्रदायों में भी किसी-किसी तन्त्र में इस क्रिया का वरण आता है। दक्षिणाचार जिस तरह दो प्रकार का बनाया जाता है, उसी प्रकार वामाचार के शाठ भेद तात्रिकों ने बनाए हैं। इस आचार में साधक के सात अधिकार स्वीकार किए गए हैं, जो धीरे-धीरे प्रगति-पथ पर शाढ़ साधक गृह-कृपा से प्राप्त करता है। इसलिए तन्त्र में वर्णन करते हुए कहा गया है—

पर द्रव्येषु योऽन्धश्च परस्त्रीषु नपु सक ।

परापवादे यो मूक सवदा विजितेन्द्रिय ॥

तस्यैव व्राह्मणापात्र वामे स्यादधिकारिता ॥

(महनन्त्र)

जो पर-द्रव्य के लिए अन्धा है, पर-स्त्री के लिए न पृष्ठक है, है, पर-निन्दा के लिए मूर्क है और जो इन्द्रियों को सदा अपने वश में रखना है, ऐसा व्राह्मण ही वाम मार्ग का अधिकारी होता है ।

तन्त्राणमतिगूढन्वात्तदभावोऽयतिगोपित ।

व्राह्मणो वेद शास्त्र तत्वज्ञो वुद्धिमान वशी ॥

गूढ तन्त्रार्थ भावम्य निर्मथ्योद्वरगो क्षम ।

वाम मार्गाधिकारी स्यादितरो दुखभाग भवेत् ॥

(भावचूडामणि)

“तन्त्रो के अति गूढ होने के कारण उनका भाव भी अत्यन्त गुह्य है । इसलिये वेद-शास्त्रों के अर्थ-तत्त्व को जानने वाला जो वुद्धि-मान और जितेन्द्रिय पुरुष उनके गूढ अर्थ का मन्थन करके उद्घार करने में समर्थ हो, वही वाममार्ग का अधिकारी हो सकता है । उसके सिवा दूसरा दुख का ही भागी होता है ।”

तात्रिक आचार्यों का कहना है कि तन्त्र की उच्चतम उपासना उमे प्राप्त होती है, जिसका गुरु-कृपा से सुपुस्ता में प्रवेश हो जाता है और जिसकी कुण्डलिनी शक्ति का उद्दोवन हो जाता है । तन्त्र का मत है कि जो उपासक इन्द्रियों और प्राणों को रोककर कुल-मार्ग में सक्रिय नहीं हो जाता, वह शक्ति की निकृष्ट उपासना का भी अधिकारी नहीं है । तन्त्र के अनुमार जब तक षट्क्रक्ष मन्थन न कर लिया जाए तब तक द्वैत की परसमाप्ति असम्भव है । अद्वैत सिद्धि ही देवी की उत्तम उपासना है और इसी साधना का अधिकारी शेष माना जाता है । यह अधिकार प्राप्त करने के लिए तात्रिक सिद्धान्तों का गम्भीर अनुशीलन और साधन-मार्ग का निष्ठापूर्वक अनुगमन आवश्यक है । तभी देवी का वरद हस्त प्राप्त हो सकता है ।

तंत्र-साधनों में उदार भावना

वेद से कही भी जाति-भेद और स्त्री-पुरुष में असमानता के प्रमाण उपलब्ध नहीं होते हैं। यदि वेदों के विचार इतने सकुचित होते तो इन्हे विश्वव्यापी ख्याति कैसे प्राप्त होती? यदि प्राचीन भारतीयों में असमानता वीं भावना जाग्रत होती, तो वह सारे विश्व में भारतीय संस्कृति का डका बजाने श्रपने देश से बाहर न जाते, श्रपने सिद्धांतों व उपासना-पद्धति को केवल श्रपने श्रपने तक ही सीमित रखते। परन्तु व्यवहारिक रूप में ऐसा नहीं हुआ। भारतीय धर्म सारे विश्व में फैला, आज भी जिसके चिह्न यदा-कदा मिल जाते हैं।

ऐसा लगता है कि मध्यकालीन अन्धकार-युग में आचार्यों ने शास्त्रों में श्रपनी विचारधारा के अनुकूल श्लोक बनाकर मिला दिए, जो कहीं-कहीं तो स्पष्ट हृष्टिगोचर होते हैं। सम्भव है, उस समय कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित हुई हों, जिनके कारण उन्हें ऐसा करना पड़ा हो, परन्तु आज यह किसी तरह भी उपयुक्त नहीं है कि जाति-भेद को जाग्रत करके और स्त्री-पुरुष में असमानता के निम्न विचारों को उभारकर उपासना में प्रतिबन्ध लगाए जाएं। इससे राष्ट्र का सांस्कृतिक विकास कुरिठत होने की सम्भावना है।

आज भी कुछ ऐसे लोग हैं, जो मध्यकालीन आचार्यों के प्रक्षिप्त श्लोकों को आधार मानकर स्त्रियों व निम्न वर्णों पर वेदाध्ययन व उपासना सम्बन्धी प्रतिबन्ध के पक्ष में हैं और कहीं-कहीं तो दोनों ओर से कड़े सघर्ष भी देखे गये हैं। यह भारतीय और वैदिक विचारधारा के विलकूल प्रतिकूल है।

सकुचित विचारवारा के विद्वान् शङ्कराचार्य के 'द्वार किमेक नारकस्य नारी' मे लेकर 'होल गँवार, शूद्र, पशु, नारी । ये सब ताडन के अविकारी' नक के प्रमाण उद्भवत करते हैं । कुछ घन्य मुख्य प्रमाण वे इस प्रकार देते हैं ।

स्त्री शूद्री ना धीयताम् इति श्रुते ।

अर्थात् स्त्री और शूद्रो को अध्ययन [विशेषत वेद का] न करना चाहिये, ऐसा वृति कहती है ।

अमन्त्रिका तु कार्येय स्त्रीणाप्तदशेषत ।

सस्कारार्थं शारीरस्य यथाकाल यथाक्रमम् ॥२।६६

वेवाहिको विवि स्त्रीणा सस्कारो वैदिक स्मृत ।

पतिसेवा गुरीवास, गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥

—मनु० २।६७

अर्थात् स्त्रियो के जातकर्मादि समस्त सस्कार दिना मन्त्रो के करने चाहिए । स्त्रियो का विवाह-सस्कार ही उपनयन स्थानीय वैदिक सम्कार है, ऐसा मनु आदि स्मृतिकारो ने बताया है । पति-सेवा ही गुरुकुल मे वास और वेदाध्ययन रूप है । घर का काम-काज ही उनके लिये हवन है । इसलिए विवाह के विवान से उपनयन, वेदाध्ययन और अग्निहोत्र की पूर्ति की जाती है ।

स्त्री शूद्र द्विजवन्धुना त्रयी न श्रुति गोचरा ।

—भागवत

अर्थात् स्त्रियो, शूद्रो और नीच त्राह्णणो को वेद सुनने का अधिकार नहीं है ।

यह स्पष्ट रूप से शास्त्रो के प्रक्षिप्त श्लोक हैं, क्योंकि यह प्राचीन वैदिक गावना के विरुद्ध है ।

स्त्रियो को वेदाधिकारी न होने का प्रतिबन्ध वेदो मे नहीं है ।

वेदो मे तो ऐसे किरने ही मन्त्र हैं, जो स्त्रियो द्वारा उच्चारण होते हैं ।

उन मन्त्रोमे स्त्रीलिंग की क्रियाये हैं, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वे स्त्रियों द्वारा ही प्रयोग होने के लिए हैं। देखिए—

उदसौं सूर्यो अगाद् उदय मामको भग अह,
तद्विद वला पतिभम्य साक्षि विषा सहि ।
अह केतु रह मूर्धाहमुग्रा विवाचनी,
भमेदनु कृतु पति सेहा नाया उपाचरेत् ॥
भम पुत्रा शत्रुहणऽथे मे दुहिता विराट् ।
उताहमस्मि स जया पत्यो मे इलोक उत्तम ॥

—ऋग्वेद १०।१५।१२-३

अर्थात्—सूर्योदय के साथ मेरा सौभाग्य बढे। मैं पतिदेवको प्राप्त करूँ। विरोधियों को पराजित करने वाली और सहनशीला बनूँ। मैं वेद से रेजस्विनी प्रभावशाली वक्ता बनूँ। पतिदेव मेरी इच्छा, ज्ञान व कर्म के अनुकूल कार्य करें। मेरे पुत्र भीतरी व बाहरी शत्रुओं को नष्ट करे। मेरी पुत्री अपने सदगुणों के कारण प्रकाशवान् हो। मैं अपने कार्यों से पतिदेव के उज्ज्वल यश को बढ़ाऊँ।

ऋग्वेद यजामहे सुगन्धिम् पति वेदनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मासुत ॥

—यजु० ३।६०

अर्थात् हम कुमारियाँ उत्तम पतियों को प्राप्त कराने वाले परमात्मा का स्मरण करती हुई यज्ञ करती हैं, जो हमें इस पितृकुल से छुड़ा दे, किन्तु पतिकुल से कभी वियोग न कराये।

नीचे कुछ मन्त्रों में वधू को वेद-परायणा होने के लिए कितना अच्छा आदेश दिया हुआ है—

ब्रह्म पर युज्यता ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो
ब्रह्म सर्वत अनव्याधा देव पुरा प्रपद्य शिवा
स्योना पतिलोके विराज ।

—अर्थव० १४।१६४

अर्थात् हे वदू । तेरे आगे, पीछे, मध्य तथा अन्त में सर्वत्र वेद विषयक ज्ञान रह । वेद-ज्ञान को प्राप्त करके तदनुसार तू अपना जीवन बना । मग्नमयी सुखदायिनी एव स्वर्य होकर पति के घर में विराज और अपने सद्गुणों से प्रकाशवान् हो ।

या दाम्पत्ति समनसा सुनतु आ व धावत ।
देवासा नित्ययाऽशिरा ।

—ऋग्वेद ८।३१।५१

हे विद्वाना । जो पति-पत्नी एक-मन होकर यज्ञ करते हैं और ईश्वर की उपासना करते हैं, वे मदा मुखी रहते हैं ।

वित्वा तत्स्त्रे मिथुना अवस्थ्यव यद

गव्यन्ता द्वाजना समूहसि । —ऋग्वेद २।१६।६

हे परमात्मन् । तेरे निमित्त यजमान पत्नी महित् यज्ञ करत हैं । तू उन लोगों को स्वर्ग की प्राप्ति कराता है, अतएव वे मिलकर यज्ञ करते हैं ।

चूदों क अनधिकार की ओषणा भी निराधार है, क्योंकि यहाँ वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म नहीं, गुण-कर्म म्बभाव रहे हैं ।

महाभारत के शान्ति पर्व अध्याय १८८ इलोक १, ३, ८ में मार्गद्वाज ने पूछा —

यदि रण-भेद से वर्णों का विभाजन किया जाय, तो ममी वर्णों में ममी रण के लोग पाये जात हैं ।

यदि काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता, छुवा श्रम आदि मानसिक स्थिति के आधार पर वर्ण-विभाजन किया जाय, तो यह वात भी मव वर्णों में मौजूद है ।

मल, मूत्र, पर्योना, कफ, पित्त, खून भी सब शरीरों में समान है, पिर वर्ण-भेद कैसे हो ?

इस पर भृगु ने इलोक १० में १५ तक में इस प्रकार उत्तर दिया —

वर्णों की कोई विशेषता नहीं। इस समस्त सासार को ब्रह्माजी ने ब्राह्मणमय ही बनाया है। तत्पश्चात् कर्मों के अनुसार वर्ण बने।

जो काम-भोग मे रुचि रखने वाले, तीसे स्वभाव के, क्रोधी, दुस्माहसी प्रकृति के लाल रंग के थे, वे ब्राह्मण, अत्रिय हो गये।

ब्रह्म कर्म जिन्होंने छोड़ दिये और कृपक-गोपालक बने, पीले रंग के थे, वे वैश्य कहलाये।

जो हिंसा, भूठ, लोभ सभी कामों से आनीविका कराने वाले, गन्दे और काले रंग के थे, वे शूद्र बन गये।

इस प्रकार इम कार्य भेद के कारण ब्राह्मण ही पृथक्-पृथक् वर्णों के हो गये। इपलिए धर्म, कर्म और यज्ञ-क्रिया उनक निए विभिन्न है—निखिल नहीं।

इन चारों वर्णों का वेद, विचार तथा धर्म-कार्यों मे समान अधिकार है। ब्रह्माजी का यही पूर्ण विवान है। लोभ के कारण ही लोग अज्ञान को प्राप्त होकर इसका विरोध करते हैं।

कर्म से वर्ण परिवर्तन—

वज्रसूचिका उपतिष्ठ म अनेको ऐसे उदाहरण दिये गए हैं, जितमे अन्य वर्णों के घरो मे जन्मे वालक अन्य वर्ण को प्राप्त हुए हैं।

“तो क्या जन्म जाति को ब्राह्मण मानें? नहीं, यदि ऐसा होता है, तो मनुष्यों की भाँति ही अन्य जीव-जन्तुओ मे भी ऐसा ही जाति-भेद होना। वहून-मे नृपियो का जन्म अन्य जानेयो मे भी हुआ है। मृगी मे कृष्णशृङ्ग, कुश से वौगिक, जम्बुक से जाम्बुक, वल्मीक से बाल्मीक, कंवर्त कन्या से द्यास, शशपृष्ठ मे गौतम, उर्वशी से वर्णिष्ठ कुभ से अगस्त्य उत्तराभ हए। हीन जाति से भी वहून ज्ञान-सम्पन्न शृंपि हुए हैं, हमनिए जाति ब्राह्मण नहीं है।”

पुत्रो गृत्सदमम्प्रापि शुनको यस्य शीतका ।
व्राह्मणा क्षत्रियाश्चैव वैश्या शूद्रास्तथैवच ॥

—हरिवंश पुराण १५।१६-२०

अर्थात् गृत्सदम के पुत्र शुनक हुए । शुनक से शीतक नाम से विज्ञान व्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र-पुत्र उत्तम हुए ।

वर्ण-व्यवस्था का इतिहास बताने हुग भागवतकार ने कहा है कि प्राचीनकाल में सभी मनुष्य का एक ही वर्ण था । महाभारतकार का व्यन है कि यह एक ही वर्ण भी ते गुण-कर्म-व्यवस्था में चार प्रकार का बन गया ।

एक एव पुरा वेद प्रणव सर्ववाड्गमय ।
देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निवर्ण एव च ॥

— श्रीमद्भागवत स्कन्ध १।१४

मर्वप्रथम एक ही वेद, एक ही मर्ववाड्गमय प्रणव, एक ही अद्वैत नारायण, एक ही अग्नि और एक ही वर्ण था ।

एकवर्णमिद पूर्व विव्वमानीद् युधिष्ठिर ।
कम क्रिया विभेदेन चानुवर्ण्य प्रतिष्ठितम् ॥
सर्वे वीयोनिजा मत्यो सर्वे मूत्रपुरोपजा ।
एकेन्द्रियान्द्रियायश्च तम्माच्छील गुणैङ्गिजः ॥
शूद्रोऽपि शील सम्पन्नो गुणवान् व्राह्मणो भवेत् ।
व्राह्मणाऽपि क्रियाहीन शूद्रात् प्रत्यवरो भवेत् ॥

— महाभारत वन पर्व अ० १८०

“इन समार मे पहले एक ही वर्ण था । पीछे गुण और कर्म ने मेरे के कारण चार वर्ण बने । सब मनुष्य-योनि से ही पैदा होते हैं, मन पूरे के स्थान मे ही जन्मते हैं, सबसे एक-सी इन्द्रिय वासनायें हैं । इनलिए जन्म मे जाति मानता दीा नहीं । कर्म की प्रवानता से ही व्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य माने जाने । यदि शूद्र उत्तम कर्म वाला हो, तो

उसे ब्राह्मण मानना चाहिए और जो कर्तव्यहीन ब्राह्मण हो, तो उसे शूद्र से नीचा मानो ।

गीता मे भगवान् कृष्ण ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है—

चतुर्वर्णं मया सृष्ट गुण कर्म विभागश ।—गीता ४।१३

अर्थात् मैंने गुण कर्म के विभाग के अनुमार ही चार वर्ण उत्पन्न किए हैं ।

वर्ण-व्यवस्था मनातन नहीं है । इसे तो सामाजिक सुविधा की हृषि से शोनक ने प्रचलित किया—

गृत्समदस्य शोनकश्चातुर्वर्णं प्रवतयिताभूत् ।

—विष्णु-पुराण अ० ४।८-१

अर्थात् गृत्समद के पुत्र शोनक ने चातुर्वर्ण-व्यवस्था प्रवर्तित की ।

इसी प्रकार क और भी अनक प्रमाण शास्त्रो मे उपलब्ध होते हैं । महाभारत अनु० १४३ मे कहा है—

“सद आचरण स सभी कोई ब्राह्मण हो सकते हैं । शूद्र भी यदि सच्चरित्र है, तो वह ब्राह्मणत्व को प्राप्त होता है । ब्राह्मण यदि कर्तव्यच्युत है, तो शूद्र हो जाता है ।”

न शूद्रा भगवद् भक्ता विप्रा भागवता स्मृता ।—भारत

अर्थात् भगवान् के भक्तो को शूद्र नहीं नहा जा सकता । उन्हें तो ब्राह्मण ही कहना चाहिए ।

चत्वार एकस्य पितु सुताऽन्न तेषा सुताना खलु जातिरेका ।

एव प्रजाना हिपितक एव पित्रकुभ वान्न च जातिभेद ॥भ पु

अर्थात् जिस प्रकार एक ही पिता के चार पुत्रों की जाति एक ही होती है, उसी प्रकार एक ही पिता की मन्नान यह चारों वर्ण भी एक ही जाति के हैं ।

वेद ने भी चारों वर्णों को समान अधिकार दिए हैं । यजुर्वेद २६।२ मे लिखा है—कल्याण करन वाली इस वाणी को ब्राह्मण, राजा, शूद्र, वैश्य अपने जनों और समन्व जनों के लिए कहता है । यजुर्वेद

३०।७ से २० तक निम्न वर्ण के व्यक्तियों के नाम गिनाए गए हैं और उनकी अपने कार्यों के लिए नियुक्ति की गई हैं। कही भी उनके लिए निषेव का वरण नहीं है। अथर्ववेद ६२।१६ में भी घोषणा की है “हे अग्ने ! मुझे देवताओं का प्रिय बनाओ और मुझे राजा का भी प्रिय करो। मैं सब शूद्रों का, आर्यों का और सब देखने वालों का भी स्नेह-माजन होऊँ ।” अन्य अनेक स्थानों पर आदेश दिया गया है कि हमें सबसे मिलकर बैठना चाहिए, एक सज्जन-सूत्र में अपने को पिरोना चाहिए, हमारी सभायें एक साथ हों, हम मिलकर खायें, पियें, मिलकर अपनी सामाजिक समस्याओं का समाधान करें। वेद में कही एक दूसरे के प्रति घृणा के बीज बोने की प्रेरणा नहीं दी है। यह सम्भव भी कैसे हो सकता है जब भारतीय संस्कृति ने समाजता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। भारतीय सच्चे अर्थों में आस्तिक थे। आस्तिकता का अभिप्राय वह यह यह समझते थे कि ईश्वर की बनाई समस्त वस्तुओं में प्रेम-भाव होना चाहिए। सभी प्राणी उसके प्रिय पुत्र हैं। किसी के प्रति भी भेद-भाव का वर्ताव करना ईश्वर के प्रति अपमान करना है और यही नास्तिकता है। जब हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि ईश्वर का बनाया सूर्य अपनी स्वाध्यप्रद किरणों को देखने के लिए घनवान और निर्धन, काले और गोरे, ब्राह्मण और शूद्र, पुरुष और स्त्री का पक्षपात नहीं करता, चन्द्रमा की शीतल किरणें सभी को एक समान प्रकाश व शान्ति प्रदान करती हैं, बाघ और बकरी दोनों सरिता में जलपान के लिए स्वतन्त्र हैं, वायु प्राणीमात्र को विना मूल्य उपलब्ध है, और परमात्मा यदि स्वयं जातियों का निर्माण करते, तो इन वस्तुओं की उपलब्धि में भेद-भाव रखते। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। वह अपनी सन्तान को एक समान बढ़ता देखना चाहते हैं।

प्राचीनकाल में वर्ण-व्यवस्था का यह विभाजन स्थिर नहीं माना जाता था। ब्राह्मण के पुत्र को ब्राह्मण स्वीकार नहीं किया जाता था, जब तक कि उसमें ब्राह्मणत्व के भाव न हो। नीच कर्म करने वाला

ब्राह्मण पतित होकर शूद्र के समान समझा जाता था। श्रेष्ठ कर्म करने वाला शूद्र, ब्राह्मणत्व तक पहुँच सकता था। इतिहास साक्षी है कि छोटी जाति में जन्म लेने वालों ने परम सन्त पद पाए और समाज ने उन्हें यथेष्ट मान दिया। शूद्र कहे जाने वाले अनेकों ऋषि-मुनि हुए हैं, जिनको मन्त्र-दृष्टा तक माना गया है। जिस जाति के सदस्य मन्त्रदृष्टा तक सकते हैं, उन्हें वेदों के अध्ययन से वचित रखा जाता होगा, इसमें सन्देह ही है। महर्षि अत्रि और वशिष्ठ के उदाहरण हमारे सामने हैं, जो परम भागवत थे। उन्होंने समाज को बहुत कुछ दिया। समाज उनका चिर-ऋणी रहेगा। कबीर, रामानन्द, रामानुज आदि की सेवाओं को कौन भूल सकता है। देवर्षि नारद देश-विदेश में वर्म का प्रचार करते थे, परन्तु वह दासी-पुत्र थे। वाल्मीकि ब्राह्मण थे, परन्तु प्राय उन्हें शूद्र समन्वा जाता है क्योंकि उन्होंने जीविकोपार्जन के लिए निम्न कोटि क काय करना आरम्भ कर दिया था। यद्यपि विश्वामित्र ने अपने गुणों के आवार पर ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था, स्मरण रहे कि वह क्षत्रिय राजा थे।

जब हर वरण अपनी योग्यता के अनुसार अपना विकास करने के लिए स्वतन्त्र था, तो भक्ति के क्षेत्र में किसी पर कोई बाधा उपस्थित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। सभी को समान अधिकार प्राप्त थे। ‘नारद भक्ति-सूत्र’ के सूत्र ७८ में इष्ट कहा है ‘भक्ति साधन के लिए ऊँच-नीच, स्त्री पुरुष, जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रिया का कोई भेद नहीं है।’ पद्म-पुराण में भी भक्ति-साधन के लिए समानता का व्यवहार बरता गया है और कहा है कि ‘भगवान की भक्ति का अधिकार सभी देशों, युगों, जातियों और स्थितियों के मनुष्यों को है।’ —ग्र० ४२।१०। सत्य भी है, भक्ति का अर्थ है प्रेम, घृणा नहीं। सभी प्राणी ईश्वर के बनाए हुए हैं, उसके पुत्र हैं। उनके प्रति प्रेम प्रदर्शित करना, उनके विकास के साधन जुटाना ही सच्ची भक्ति है, महर्षि पाणिनि ने भक्ति का भावार्थ करते हुए लिखा है। ‘भज सेवायम्’

जिसमें उन्होंने 'भज' वातु का अर्थ सेवा ही स्थिर किया है। प्राणीमात्र की नि म्वार्थ सेवा ही इश्वर की सच्ची भक्ति है। भेद-भाव का वर्ताव तो अभक्ति को प्रदर्शन करता है। भगवान् ने गीता में कहा है कि मेरा प्रिय भक्त वह है "जिसका किसी से द्वेष नहीं है, जो मबूतों के साथ मित्रता का वर्ताव करता है और कृपादृष्टि ने देखता है"—१२-१३। "जो प्राणीमात्र में समानता का अनुभव करता हुआ मेरी परम भवित को पाता है।"—१८-५४

जिस धर्म की यह उदार विचारधारा हो, वह अनुदार विचार-धारा का प्रचार कैसे कर सकता है—यह समझ में नहीं आता।

स्त्रियों पर लगाए प्रतिवन्ध भी निराधार हैं, क्योंकि वैदिक साहित्य में काफी सख्या में ऐसे प्रमाण मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट हृषिगोचर होता है कि प्राचीनकाल में स्त्रियों के साथ कोई भेद-भाव नहीं वरता जाता था।

वेदों ने चारों वर्णों और स्त्रियों को उच्चतम उपासना के लिए खुली छूट दे रखी है, परन्तु फिर भी आज व्यवहार में केवल तीन वर्णों—व्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तक ही सीमित है। लेकिन तन्त्रों में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है। तन्त्र की शिक्षाएँ और उपासनाएँ चारों वर्ण और स्त्रियों स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकती हैं। महानिर्वाण तन्त्र १४। १५४ का उद्घोष है—

विप्राद्यन्त्यजपर्यन्तादियता येऽत्र भूतले ।

ने सर्वेऽस्मिन् कुलाचारे भवेयुराधिकास्मि ॥

'व्राह्मण से लेकर अन्त्यज पर्यन्त—इस पुण्यी के जितने भी निवासी हैं, उनका इस कुलाचार में अधिकार है।'

शाक्ता, शौव गौणावाहन सौरगणापतास्तथा ।

विप्रा विप्रेतराश्चैव सर्वेऽप्यत्राधिकारिण ॥

—महानिर्वाण तन्त्र

अर्थात् शावत, शैव, वैष्णव, सौर, गाणपत्य किसी भी मत का अनुयायी क्यों न हो, ब्राह्मण या ब्राह्मणेतर वर्ण का हो, सभी को ब्रह्म-मन्त्र मे दीक्षित होने का अधिकार है।

त्रिपुरायाश्च ये मन्त्रा ये मन्त्रा वटुकादय ।

सर्ववर्णेषु दातव्या पुरन्धीणा विशेषत ॥

हृदादिहुफट्कारादि सङ्कराणा प्रशस्यते ॥

—नित्योत्सव

“त्रिपुरादेवी और वटुकादि के जो मन्त्र हैं, वे सप्तस्त वर्णों को देवे, स्त्रियों को विशेष रूप से देवे, हुं, फट् आदि हो वे मन्त्र सङ्कर वर्ण के लोगों के लिए प्रशस्त होते हैं।”

छिन्नमस्ताच मातगी त्रिपुरा कालिका शिव ।

लघु श्यामा कालिरात्रिर्गोपालो जानकीपति ॥

उग्रताराभैरवश्च देया वर्णचतुष्टये ।

मृगीहशा विशेषेण मन्त्राएते सुसिद्धिदा ।

ब्राह्मणा क्षत्रियो वैश्या शूद्रानार्योधिकारण ॥

“छिन्नमस्ता, मातगी, त्रिपुरा, कालिका, शिव, लघु श्यामा, काल-रात्रि, गोपाल, राम, उग्रतारा, भैरव के मन्त्र को जपने का अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी को है।”

यह गर्व तन्त्र को ही प्राप्त है कि वैदिक-पद्धति पर तो मध्य-कालीन आचार्यों को प्रतिबन्ध लगाने की सूझी, परन्तु तन्त्रों पर उनको ऐसा आधात करने का साहस न हुआ। तन्त्र के अनुसार ईश्वर ने तन्त्र-उपासना कुछ सीमित वर्गों के लिए ही तो सुरक्षित नहीं रखी है वरन् हर वर्ण और जाति का सदस्य बिना किसी भेद-भाव के इसके सिद्धान्तों के अनुसार अपने जीवन का विकास कर सकता है। यह मार्ग उन सभी के लिये प्रशस्त है, जिनमें इस ज्ञान के अर्जन के लिए जिज्ञासा है। जिज्ञासु के लिए स्तर की जाँच की कोई आवश्यकता नहीं है।

पुरुषों की भाति ही मिथ्या भी तात्रिक-उपासना कर सकती है। केवल उपासिका ही नहीं, वह गुरु होने की भी अविकारिणी हो सकती है। कुछ तत्त्वों का तो ऐसा मन है कि न्यौ गुरु से दीक्षा लेने वाला साधन-पथ पर प्रगति से बढ़ता है।

भेदभाव-रहित उपासना में स्वतन्त्रता प्रदान करना ही तत्त्वों की उल्लेखनीय विशेषता है, जिसका अन्य पद्धतियों में अभाव है।

• • •

तन्त्र-माहित्य की विशालता

कोई समय था जब तन्त्रों का विशाल सादित्य उपलब्ध था। आज उसमें से बहुत कम देखने में आना है। तन्त्र-ज्ञान के अभाव के कारण जनमाचारण में इस माहित्य के प्रति जो उपेक्षा-भाव बरता गया उसके अव्ययन और विज्ञान भी और कोई व्यान नहीं दिया गया, अत उसका विलुप्त होना स्वाभाविक ही था।

कहा जाता है कि बौद्धों के नालन्दा विश्वविद्यालय में अन्य विषयों के साथ तन्त्र भी अध्यापन का एक विषय था, योकि बौद्धों का अपना भी तन्त्र-माहित्य है। परन्तु मुस्तिष्ठ राज्य के समय यह साहित्य नष्ट हो गया। पुस्तकालय-के-पुस्तकालय जला डाले गये। श्रीरसिकमोहन चट्टोपाध्याय न कुछ तन्त्र-ग्रन्थों को बचाया। सर जान बुडरफ ने अनेकों तन्त्रों का उद्धार किया।

वेदों की तरह तन्त्र-माहित्य का भी बहुत विस्तार था। जो मकेत मिलते हैं, उनमें उनकी विशालता का अनुगान लगाया जा सकता है। तन्त्र-ग्रन्थों में कहा गया है—

सप्त मस सहस्र गो सख्यातानि मनीषिभि ।

इस उद्घरण के अनुपार तो १४००० तन्त्र-ग्रन्थों के प्रवलन की मूलना मिलती है। इसमें से तो बहुत कम माहित्य उपलब्ध है।

तन्त्र के मानने वालों के अनेकों सम्प्रदाय थे। उनका अपना अपना अनग साहित्य था। वैद्युत आगम १०८, शैव आगम २८ और शाक्त आगमों में ६४ कौल ग्रन्थ, द मिश्र और ५ सप्त आगम माने जाते हैं।

धात्क मम्प्रदाय मे तीन विभाग हैं—१ कीन आगम, २ मिथ
आगम और ३ ममय आगम। शक्ति विषयक तत्त्व-मान्य बूढ़ों मे
विभक्त है। मत्त्वादि तीन गुणों क अनुपार इन तीन व्यूहों को तत्त्व,
यामल और टामर कहा जाता है। प्रत्येक मे ६४ ग्रन्थों का समाप्त कर
जान माहित्य १६२ ग्रन्थों का स्वीकार किया जाता है।

'ब्राह्मी तत्त्व' मे ४५ शिवोक्त तत्राका नाम आता है जिनकी
इलोक सद्वा ६,६७ ६४८ है। 'आगम तत्त्व विज्ञान' ग्रन्थ के लेखक का
विच्व, म है कि २०८ तत्त्व-ग्रन्थ आज भी उपलब्ध है। बौद्धों के विशान
तत्त्व-माहित्य मे आज सम्कृत भाषा क ७१ ग्रन्थ प्राप्य हैं। तित्वत
मे तत्त्व-माहित्य को ७८ भाषों मे बौद्ध गया है। इसमे से २६८० ग्रन्थों
प्राप्त होना बनाया जाता है।

जिस तरह म हिंदू धर्म के तत्त्वों के निर्माण का श्रेय महादेव
जी को दिया जाता है, उसी तरह बौद्ध धर्म के तत्त्वों को वज्रपत्रशुद्ध
ने बनाया है, ऐसा माना जाता है। यह तत्त्व भी सम्कृत भाषा मे है
और इनकी सह्या काफी है। कुछ प्रधान बौद्ध तत्त्वों के नाम उद्धृत
करते हैं—

१—परमार्थ सेवा २—ध्यामयमार्ग ३—साधन-परीक्षा ४—
ज्ञाननिदिवि ५—रीमावनार ६—प्रसोद महायुग ७—बुद्धकपाल ८—क्रिपा
मनुच्चवय ९—वज्रपत्र १०—उड्डायर ११—हयप्रीत १२—मायाजाल १३—
मजुश्री मूल कल्प १४—योगिनी मचार १५—मणिक कर्णिका १६—मापन
मग्रह १७—साधन कल्पनता १८—साधनगत्त १९—योगेश्वर २०—
डाकिनी जाल २१—कालवीर तत्त्व का चरणगोपण २२—तारा २३—वज्र
धातु २४—श्रेनीक्षय विजय २५—यमान्तक २६—सकीर्ण २७—ज्ञानोदय
२८—गुह्य ममाज २९—साधन माला ३०—श्री चक्र मवर ३१—सद्धर्म
पुण्डरीक ३२—सुखावत व्यूहचक्र ३३—वाराही तत्त्व ३४—पिंडीक्रम
३५—योगाम्बर पीठ ३६—कालचक्र ३७—योगिनी ३८—तत्त्व समुच्चय
३९—नाम सतीति ४०—वसन्त पिलक ४१—पीत यमारि ४२—कृष्ण

यमारि ४३—शुक्ल यमारि ४४—रक्त यमारि ४५—सम्पुटोदभव ४६—हे वज्ज ४७—सम्बरत वा सम्बरोदय ४८—क्रियासग्रह ४९—क्रियाकद ५०—क्रिया सागर ५१—क्रिया कल्पद्रुम ५२—क्रियार्णव ५३—अभिशानोत्तर ५४—साधन समुच्चय ५५—तत्त्व-ज्ञान मिद्धि ५६—गुहा सिद्धि ५७—रछान ५८—नागार्जुन ५९ योग पीठ ६०—वज्ज वीर ६१—मरीचि ६२—विमल प्रभा ६३—मम्पुट ६४—मर्मकालिका ६५—कुरुकुल ६६—भूनगमर ६७—योगिनी जाल ६८—योगाम्बर पीठ ६९—वमुख्यरा साधन ७०—नीरात्म ७१—डाकार्णव ७२—क्रियासार ७३—क्रियावसन्न ७४—गूढात्पादनाम संगीति ७५—निष्पत्ति योगाम्बर तन्त्र नादि । अनेको बौद्ध तन्त्रो का चीरी और तिक्खती भाषा में अनुवाद हो चुका है ।

बौद्धों का धार्क-साहित्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है । अनेको सस्कृत ग्रन्थ इस सम्बन्ध में उपलब्ध है । कुछ के नाम इस प्रकार हैं—१—तारा कल्प २—तारा तन्त्र ३—तारा प्रदीप ४—तारा रहस्य ५—तारा विकल्प ६—तारा सूत्र ७—तारा स्तोत्र ८—तारा मूलवोध ९—तारा कल्पलता १०—तारा कवच ११—तारातत्त्व १२—नारा पजिका १३—तारा पद्धति १४—तारा पञ्चाग १५—तारा पाराजिका १६—तारा पूजा-प्रयाग १७—तारार्चन चन्द्रिका १८—तारा-रहस्य वृत्तिका १९—तारा-पूजन नाम विवि २०—तारा-पूजन वल्लरी २१—तारा-पूजन रसायन २२—तारा भक्त तरणिणी नाटक २३—ताराभक्ति सुधार्णव २४—तारारणव २५—तारार्चन तरज्जुणी २६—तारा विलासोदय २७—तारा पठपदी २८—तारा सहस्रनाम २९—तारा अष्टोतर धातनाम स्तोत्र आदि ।

सी-दर्थ लहरी के ३१वें इनोक की नदीवीषर कृत टीका के अनुसार शुभागम पञ्चवक के नाम इस प्राचीर है

१ बनिष्ठ सहिता २ गनक महिता ३ शुक्र महिता ४ सनन्दन सहिता ५ सनकुमार महिता ।

ललित सहस्रनाम के दूद वें श्लोक पर सौभाग्य भास्कर की टीका के अनुसार २८ आगम इस प्रकार हैं

कामिक, योगज, कारण, प्रसृतागम, अजितागम, दीप्तागम, अशुमानागम, सुप्रभेदागम, विजयागम, निष्वासागम, स्वायम्भुवागम, अनलागम, वीरागम, रीरचागम, मुकुटागम, विमलागम, चन्द्रज्ञानागम, विम्बागम, प्रोद्धीत, ललितागम, सिद्धागम, सन्तानागम, किरणागम, वातुलागम, सूक्ष्म, सहस्र, सर्वोत्तर, परमेश्वर ।

प्रसिद्ध तान्त्रिकाचार्य अभिनव गुप्त ने अपने विख्यात ग्रन्थ 'तत्त्वालोक' में इसकी चर्चा की है

दशाष्टादशवस्वष्टभिन्न यच्छाशन विभो ।

तत्सार त्रिक्षास्त्र हि तत्सार मालिनीमतम् ॥

अर्थात् दश शिवागम १८ रुद्रागम और ६४ भैरव तत्त्वो में विभक्त ईश्वर के शासन के सार को त्रिक्षास्त्र कहते हैं । मालिनी तत्त्व उसका सार है ।

राजानुक जयरथ ने भी इस श्लोक की व्याख्या की है । इसमें उन्होंने 'श्रीकरणी' नामक ग्रन्थ की चर्चा करते हुए आठ द्वैतवादी, आठ अद्वैतवादी और ६४ अद्वैतवादी तत्त्वों को गिनाया है । नाम इस प्रकार हैं ,

(१) भैरव तत्त्व--

१ स्वच्छन्द २ भैरव ३ चन्ड ४. क्रोध ५ उन्मत्त भैरव
६ असिताग ७ महोच्छुष्म ८ कपालीश ।

(२) यामलतत्त्व--

९ ब्रह्मामल १० विष्णुयामल ११ स्वच्छन्द १२. रुद्र
१३ १४ आर्थर्वण १५ रुद्र १६ वैताल ।

(३) मत---

१७ रक्त १८ लम्पट १९ लक्ष्मीमत २०. मत
२१ चालिका २२ पिंगला २३ उत्पुल्लक २४. विश्वाद्य ।

(४) मङ्गल तन्त्र---

२५ पिंचु भैरवी २६ तन्त्र भैरवी २७ ब्राह्मी २८ कला
२९ विजया ३० चन्द्रा ३१ मङ्गला ३२ सर्वमङ्गला ।

(५) चक्राष्टक---

३३ मन्त्रचक्र ३४ वर्णचक्र ३५ शक्तिचक्र ३६. कलाचक्र
३७ बिन्दुचक्र ३८ नादचक्र ३९ गुह्यचक्र ४० खचक्र ।

(६) बहुरूप---

४१ अन्धक ४२ रुद्रभेद ४३ अज ४४ मूल ४५ वर्णभण्ठ
४६ विडङ्ग ४७ ज्वालिन ४८ मातृरोदन ।

(७) वागीश---

४९ भैरवी ५० चित्रिका ५१ हसा ५२ कदम्बिका ५३ हूल्लेखा
५४ चन्द्रलेखा ५५ विद्युल्लेखा ५६ विद्युमान् ।

(८) शिखाष्टक- -

५७ भैरवी ५८ वीणा ५९ वीणामणि ६० सम्मोह ६१
हामर ६२ अथर्वंक ६३ कवन्ध ६४ शिरश्छेद ।

आर्थर श्रवलेन ने 'तन्त्र विधान' की भूमिका में 'महा सिद्धिसार तन्त्र' की चर्चा करते हुए तन्त्र को तीन भागो में विभक्त किया है—
१ विष्णुक्राता २ रथक्राता ३ अश्वक्राता । इन वर्गों के तन्त्र इस प्रकार हैं—

विष्णुक्राता वर्ग के तन्त्र-ग्रन्थ—

सिद्धीश्वर, कालीतन्त्र, कुलार्णव, ज्ञानारणव, नीलतन्त्र, फेटकारी, देव्यागम, उत्तर, श्रीक्रम, सिद्धियामल, मत्स्यसूक्त, सिद्धिसार, सिद्धि सारस्वत, वाराही, योगिनी, गणेश विमर्शिनी, नित्यतत्र, शिवागम, चामुण्डा, मुरांडमाला, हसमहेश्वर, निश्चत्तर, कुलप्रकाश, देवीकल्प, गधर्व, क्रियासार, निवघ, स्वतत्र, सम्मोहन, तत्रराज, ललिता, राधा, मालिनी, रुद्रयामाल, वृहदश्रीक्रम, गवाक्ष, सुकुमुदनी, विशुद्धेश्वर, मालिनी विजय,

समयाचार, भैरवी, योगिनीहृदय, भैरव, सनत्कुमार, योनि, तत्रात्तर, नवरत्नेश्वर, कुलचूडामणि, भावचूडामणि, दैवप्रकाश, कामाख्या, कामधेनु, कुमारी, भूत डामर, यामल, ब्रह्मयामल, निश्वसार, महाकाल, कुलोहुश, कुलामृत कुट्टिका, यन्त्रचिन्तामणि, काली विलास, और मायानन्त्र = ६४

रथक्रांता वर्ग के तत्त्व-ग्रन्थ—

चिमय, मत्स्यमूक, महिपमर्दिनी, मातृकोदय, हमसमहेश्वर, मेरु, महानील, महानिर्वाणि, भूत डामर, देव डामर, वीज चिन्तामणि, एक जटा, वासुदेव रहस्य, वृहद गौतमीय, वर्णोदधृति, छायानील, वृहद योनि, ब्रह्मज्ञान, गरुड, वर्णविलास, वाला विलास, पुरश्चरणाचन्द्रिका, पुरश्चरणारसोल्लास, पञ्चदशी, पिच्छला, प्रपञ्चसार, परमेश्वर, नवरत्नेश्वर, नारदीय, नागार्जुन, योगसार, दक्षिणामूर्ति, योगस्वरोदय, यक्षिणीतन्त्र, स्वरोदय, ज्ञान भैरव आकाशभैरव, राजराजेश्वरी, रेवती, सारस, इन्द्रजाल, कृकलास दीपिका, कह्वाल मालिनी, कालोत्तम, यक्ष डामर, सरस्वती, शारदा, शक्ति-सङ्गम, शक्तिकागमसर्वस्व, सम्मोहिनी, हन्द्रजाल, चोनाचार, पडाम्नाय, कराल भैरव, पोढा, महालक्ष्मी, कंवल्य, कुलसद्भाव, सिद्धितद्वरि, कृतिसार, काल भैरव, उड्डामरेश्वर, महाकाल, भूतभैरव = ६४

श्रश्वक्रांता वर्ग के तत्त्व-ग्रन्थ—

भूतशुद्धि, गुप्तदीक्षा, वृहत्सार तत्त्वसार, वर्णसार, क्रियासार, गुप्ततन्त्र, गुप्तसार, वृहत्तोडल, वृहन्निर्वाणि, वृहत्कह्वालिनी, सिद्धातन्त्र, कालतन्त्र, शिवतन्त्र, सारात्सार, गौरीतन्त्र, योगतन्त्र, धर्मकतन्त्र, तत्त्वचिन्तामणि, विदुन्तत्व, महायोगिनी, वृहद्योगिनी, शिवार्चन, सम्वर, शूलिनी, महामालिनी, मोक्ष, वृहन्मालिनी, महामोक्ष, वृहन्मोक्ष, गोपी तन्त्र भूतलिपि, कामिनी, मोहिनी, मोहन, समीरण, कामकेशर, महावीर,

चूडामणि, गुर्वर्चन, गोप्य, तीक्ष्ण, मञ्जला कामरत्न, गोपलीलामृत, ब्रह्माड, चीन, महानिरुत्तर, भूतेश्वरी, गायत्री, विशुद्धेश्वर, योगार्णव, भेरुएडा, मन्त्रचिन्तामणि, यन्त्रचिन्तामणि, विद्युल्लता, भुवनेश्वरी, लीलावती, वृहच्चीन, कुरञ्ज, जय राधा माधव, उज्जासक, धूमावती, शिव=६४

शाक्त-साहित्य—

वामकेश्वर तन्त्र के एक टीकाकार श्री लक्ष्मीधर के मतानुसार ६४ तन्त्रों के नाम ये हैं—

१—महामायाशम्बर (परिबुद्धिभ्रम—प्रकार साधन) २—योगिनी वालशम्बर (योगिनीमिद्धि शमशान सेवन) ३—तत्त्व-शम्बर (रूप वदलना) ४-११ सिद्धिभैरव, बटुकभैरव, कच्छालभैरव, कालभैरव, कालाग्नि भैरव, योगिनी भैरव, महा भैरव शक्तिभैरव (गढ़ा हुआ द्रव्यादि खोजना) १२-१६—ब्राह्मी तन्त्र, माहेश्वरी तन्त्र, कौमारी तन्त्र, वैष्णवी तन्त्र, वाराही तन्त्र, महि द्री तन्त्र, चामुण्डा तन्त्र, शिवदूती (श्रीविद्या का वर्णन है, परन्तु आचार वैदिकाचार विस्तृत है) २०-२७—ब्रह्मयायल, विष्णुयामल, हृदयामल, लक्ष्मीयामल, उभयामल, स्कन्दयामल, गणेशयामल, जयद्रथयामल (कामना मिद्धि प्रकार) २८--८ द्रज्ञान २९---मालिनी विद्या ३०—महासम्मोहन ३१—वामजुस्त (कापालिक जीवन) ३२—महादेव (त्याग, अवोरसिद्धि) ३३—वातुल ३४--वातुलोत्तर ३५—कामिका, ३६---हृदयभेद ३७—तन्त्रभेद (परविद्याहरण) ३८—गुह्य (परपुरुषहरण प्रकार) ३९—कलावाद ४०—कलासार (रंग निर्णय, तत्त्वरंगादि वामाचार) ४१—कुरिङ्का मत (श्रीपघि श्रादि जड़ी-कूटी जादू) ४२—मतोत्तर (पारद गुण पारदादिशोवन) ४३—वीणारूप तन्त्र ४४—त्रोटल ४५—त्रोटलोत्तर (यक्षिणी ६४००० दर्शन) ४६—पचामृत ४७—रूपभेद ४८—भूतोद्घामर ४९—कुलचूडामणि ५०—कुलोद्गुसि ५१—कुलचूडामणि ५२—सर्वज्ञानोत्तर ५३—महाकाली ५४—श्रुणेश

५५—मोदनीश ५६—विकुराठेश्वर ५७—पूर्वमिनाय ५८—पश्चिमाम्नाय
 ५९ दक्षिणाम्नाय ६०—उत्तराम्नाय ६१—निरुत्तराम्नाय ६२—विमल
 ६३—विमलोत्तर ६४—देवीमत तन्त्र ।

वामकेऽवर तन्त्र के द्वितीय टीकाकार श्री देवव्रत का मत उत्तर तन्त्रों के सम्बन्ध में इस प्रकार है—

४ मे ११ तक अष्टभौरव तन्त्र, १२ से १६ तक वहृस्पाष्टक तन्त्र (अष्टशक्ति), २० मे २७ तक अष्ट यामल, २८ मे १६ नित्याश्रो की उपासना, २९ समुद्राल्लिङ्गी विद्या, ३० सम्मोहिनी विद्या-सिद्धि प्रकार व मूर्छाकर निद्राकर प्रयोग, ३१-३२ वामाचार विद्यान, ३३-३५ मन्दिरादि-निर्माण-प्रकार शक्तिनर्देन प्रयोग, ३६—पटुचक्र भेद-विद्यान, ३७-३८ पराविद्या निवन (छयकर) विद्यान, ३९—वात्स्यायन कोख-शास्त्र वशीकरणादि दशक, ४०—वर्गकला विद्या, ४१—स्तम्भन शक्ति, गुटिका श्रीपदि आदि, ४२—पारदसिद्धि विद्यान (पारद-सहिता), ४३—यश्त्रिणी विद्या, ४४—श्रीपदि जादू अन्तर्विष्ट-सिद्धि-प्रकार, ४५—यश्त्रिणी दर्गन, ४६—कायाकल्प विद्यानादि, ४७-५१ पटुकर्म ५२-५६ द्रिगम्बर कला-विद्यान पटुर्म ५७-६४ श्लेषणक मत ।

आठ मिश्र आगम के नाम यह हैं—

१—चन्द्रकला २—ज्योत्स्नावती ३—कलानिधि ४—कुलार्णव
 ५—कुलेश्वरी ६—भुवनेश्वरी ७—वाहर्म्पत्य ८—दुर्वासा मत ।

तीमरे ममय मत वालों का 'शुभागम पञ्चक' ग्रन्थ प्रमिद्ध है, जिसमें मनक, सनन्दन, मनत्कुमार, वमिष्ठ, शुक द्वारा लिखी 'सहिता पञ्चक' को भाना जाता है ।

'आगमतत्त्व विलास' में निम्नोक्त तन्त्रों के नाम लिखे हैं ।
 यथा—

स्वतन्त्र, फेकारिणी, उत्तर, नील, वीर, कुमारी, काली, नारायणी, तारिणी, वाला, समयवार, सौरव, भैरवी, त्रिपुरा, वाम-केश्वर, कुटकुटेश्वर, मातृका, सनत्कुमार, विशुद्धेश्वर, सम्मोहन, गौतमीय,

वृहत्गोत्रमीय, भूनभैरव, चामुणडा, पिंगला, वाराही, मुरेडमाला, योगिनी, मालिनीविजय, स्वच्छन्दभैरव, महा, शक्ति, चिन्तामणि, उन्मत्तभैरव, शैलोक्यसार, तन्त्रामृत, महाफेत्तारिणी, बारबीय, तोडन, मालिनी, ललिता, त्रिशक्ति, राजराजेश्वरी, महामाहेश्वरीत्तर, गवाक्ष, गावर्व, श्रैलोक्यमोहन, हमपारमेश्वर, हममाहेश्वर, कामधेनु, वर्णविलास, माया, मन्त्रराज, कुट्टिका, विज्ञानलतिका, लिंगागम, कालोत्तर, ब्रह्म-यामल, आदियामल, रुद्रयामल, ब्रह्मद्यामल, मिद्धयामल, कल्पसूत्र ।

इन ग्रन्थों के अनिरिक्त तन्त्र के और भी ८३ नाम उपलब्ध होने हैं, जो इस प्रकार हैं—

मत्स्यसूक्त, कुनसूक्त, कामराज, शिवागम, उड्डीश, कुलोड्डीश, वीरभद्रोड्डीश, भून्डामर, डामर, यक्षडामर, कुलसर्वस्व, कोलिका कुलसर्वस्व, कुलचूडामणि, दिव्य, कुनमार, कुलार्णव, कुनामृत, कुलावली, काली कुलार्णव, कुनप्रकाश, वाभिष्ठ, सिद्धमारम्भन, योगिनीहृदय, कालीहृदय, मातृकार्णव, योगिनीजालकुरक, लक्ष्मीहुनारणव, तारारणव, चन्द्रपीठ, मेषतन्त्र, चतु शनी, तत्त्वबोध, महोप्र, स्वच्छन्द सार-सग्रह, ताराप्रदीप, मकेन-वद्विदा, पट्टिंशत्तरक, लक्ष्यनिण्य, त्रिपुरार्णव, विष्णुप्रसोत्त, मन्त्रार्पण, वैष्णवामृत, मानसोहनास, पूजाप्रदीप, भक्तिमजरी, भुवनेश्वरी, पारिजात, प्रयोगमार, कामरत्न, क्रियामार, आगम दीपिका, भावचूडामणि, तपत्रूचामणि, वृहत् श्रीक्रम, श्रीक्रमभिद्वातशेखर, गणेशविनाशिनी, मन्त्रमुक्तावनी, तत्त्वकोमुदी, तन्त्रकोमुदी मन्त्रतत्रप्रकाश, रामार्चनचन्द्रिका, शारदातिलक, ज्ञानारण्य, सारसगुच्छय, कल्पद्रुम, ज्ञानमाला, पुरश्वरणवद्रिका, आगमोत्तर, तवमार, सारसग्रह, देवप्रकाशिनी, तत्रार्णव, क्षमार्णविका, तारारहस्य, व्यामारहस्य, नन्द-त्त, तथ प्रदीप, ताराविलान, निश्वमातृका, प्रपत्ति-र, तपसर और रत्नावली=८३

इनके अतिरिक्त महामिद्धि सारम्भन' मे सिद्धीश्वर, नित्यतन्त्र, देवयागम, निब्रव तत्र, राधा तत्र, कामरूपा तत्र, महाकाल तत्र,

यन्त्रचिन्नामणि, कालीविनाम और महाचीनन्दन का वर्णन भी पाया जाता है।

ऊपर निचे नयों के अधिका कुछ और भी तत्रों के नाम उपलब्ध हैं, जैसे—

आचारमार, आगमचन्द्रिका, ब्राह्मणोच्चाम, जपरहम्य, महानिर्णिणि, आचारग्सार प्रकार, आगममार, चिनामणि, ग्रह्यामक, वरदा, मानृज्ञभेद, पीठमाला जिवमहिना, श्यामाप्रदीप, नाराप्रदीप, वर्गमीरव, यामिनीहृदय, दीरिकायामन, मग्स्वनी, श्रीनन्दवीविनी, निगमतत्त्वमार, अन्नदाकल्प, ब्रह्मज्ञान, गायत्री, ज्ञान, कुमारीकवचोल्नाम, गौरीकाचलिका, कौनोकार्चनदीपिका क्रमचन्द्रिका, शक्तिमगम, श्यामाकृत्तलता तत्त्वनदनरज्जिती, वीजविनामणि, ब्रह्मज्ञानमहानत्र, ब्रह्माड, दक्षिणाकल्प, दृश्यानसहिता, ज्ञाननदनरज्जिती, कैवल्य, ज्ञानसङ्कलिनी, लिगार्चन, निर्वाण वृडन्निर्वाण, निगमकल्पद्रुम, पुरुषवरणविवेक, पुरुषवरणग्सोल्नास, मदरोदय, शाक्तानन्द, तरज्जिती, श्रियुगमारमुच्चवय, वर्णोद्धार, निष्ठता, श्यामाचन्तचटिका आदि।

वाराढी तत्र के अनुमार तत्रों के नाम और श्लोक-स्थाया इस प्रकार हैं—

जारदा १६०२५, कपिल ६०८०, प्रपञ्च (१) १२३००, प्रपञ्च (२) ८८७०, प्रपञ्च (३) ५३१०, मिद्धमवरण ५००६, आदियामल ३५२००, गणेशयामल १०३२३, रुद्रयामल ६८६५, ब्रह्मयामल २२१००, आदित्ययामल १२०००, विष्णुगामल २८०२०, दक्षिणामूर्ति ५५५०, तत्रग्रज ६०६०, कुटिजकातत्र (१) १०००७, कुटिजकातत्र (२) ६०३०, कुटिजकातत्र (३) ३०००, महानदमीतत्र ५०५, मग्स्वतीतत्र २२०५, देवीनन्द १२०००, योगिनी (१) २२५३२, योगिनी (२) ६३०३, नारायण ५०२०३, कपिल २८०१२०, साग्मतहै६०५, शिवडामर ११००७, ब्रह्मडामर ७१०८२, हुगडामर १४०३, योग १३३११, मुक्तक ६०५०, दीरागम ६६०६, योगडामर २३५३३, अमृतचुद्धि ५००५, गघर्वडामर

६००६०, मायातत्र ११०००, नीचपनाका ५०००, कालिका ११०१३, योग र्णव द३०१, कल्प ५०६०, कामेश्वरी ३०००, हरगोरी (१) २२०२०, हरगोरी (२) १२०००, कात्यायनी २४२००, वाराही ६३०३, मृत्युञ्जय १३२२०, तत्रनिर्णय २८, प्रत्यञ्जिरा दद००, वामकेश्वर २५, श्रिपुरार्णव दद०६, आद्या २२६१५, मृडानी (१) ४४८०, मृडानी (२) ३०००, मृडानी (३) ३३०, गवाक्ष ६५२५।

शाक्त-साहित्य वेद के अतिरिक्त आरण्यक, उपनिषद्, ब्राह्मण-श्रौत-साहित्य में भी उपलब्ध होता है। सायणाचाय, उपनिषद् ब्रह्म, अप्पद्य दीक्षित के इन पर भाष्य प्राप्य हैं। पुराणों पर भी शक्तिवाद का काफी प्रभाव पढ़ा है। कालिका-पुराण शक्ति-तत्त्व का स्वतन्त्र ग्रथ है। देवीगीता, देवी भागवत का अश है। दुर्गा मस्तशनी माकराडेय पुराण का एक भाग है। ब्रह्माड-पुराण के द्विनीय भाग में ३२० श्लाकों का लिलिता सहस्र स्तोत्र आता है। कूम-पुराण में देवी की ८०० नामों से स्तुति की गई है। अर्ढनारीश्वर तथा शिव सम्बन्धी प्रकरण भी है। उपपुराणों में देवी पुराण शक्तिवाद का स्वतन्त्र पुराण है।

'काश्मीर सम्भूत सरी' में छोड़े काश्मीरियों के शाक्त-तत्त्वों के कुछ नाम इष प्राप्त हैं—

स्वन्दकारिका, स्पन्दसन्दोह, सवित्सिद्धि, तन्त्रसार, तन्त्रालोक, तन्त्र सुवा, प्रत्यभिज्ञासूत्र, महार्थ चंजरी, तन्त्रवटशानिका, अजडप्रमातृ-परात्रिशिका, मालिनीविजय, कामकला-विलास।

शाक्तों की प्रयोग विधिग्रन्थों में उपलब्ध हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—

लक्ष्मीतत्र, योगिनीतत्र, मरीचितत्र, वाराहीतत्र, हरगोरीतत्र, डामृतत्र, शक्तिसगमतत्र, कात्यायनीतत्र।

रहस्य स्तोत्रों में यह ग्रन्थ प्रमिद्ध है—

शङ्खराचार्य की मौख्यलहरी श्रान्तदत्तहरी, गोडपाद का सुभगोदय,

किया है, आर्यपिच्छाशत्, दुर्वासा का त्रिपुरामहिम्न स्तोत्र, अप्पर्य दीक्षित की आनन्दलहरी ।

भास्करराय तत्त्व-साहित्य के एक प्रसिद्ध दार्शनिक हुए हैं। उनका 'बीरवस्या रहस्य' ग्रन्थ तत्त्वशास्त्र की अपूर्व कृति है। उन्होंने सप्तशती, ललिता सहस्रनाम, श्रीमूल, कौल उपनिषद्, त्रैपुर महोपनिषद् पर उच्चकोटि के भाष्य लिखे हैं और योगिनी हृदय-तत्त्व पर सेतुबन्ध टीका लिखी है। यह कृतियाँ उनके नाम को अमर करने वाली हैं। भास्करराय के शिष्य उमानन्दनाथ ने 'नित्योत्तस्व' नाम का ग्रन्थ लिखा है। उनके शिष्य रामेश्वर ने परशुराम के कल्पसूत्रों पर वृत्ति लिखी है।

रहस्य-ग्रन्थों में तारा-रहस्य, त्रिपुरा-रहस्य और श्यामा-रहस्य के नाम आते हैं।

पूरणिन्द स्वामी के रचित ग्रथ योगसार, श्यामा-रहस्य, शाक्त-क्रम, तत्त्वानन्द तरगिणी, श्रीतत्त्वचित्तामणि, कालिका कारकूट हैं।

गोडपाद के श्री विद्यामूल पर शङ्कराचार्य ने टीका की थी। शङ्कराचार्य ने 'प्रपञ्चसार' नामक शाक्त-तत्त्व को लिखा था, जिसकी टीका उनके शिष्य पद्मपादाचार्य ने की।

दत्तात्रेय का बनाया हुआ 'शष्ठादश साहस्री दत्तसहिता' ग्रन्थ है। परशुराम ने ५० खडो और ६ हजार सूत्रों में इसका संक्षेप किया है। हरितायन ने दशखण्डो में इसका भी संक्षेप किया। महर्षि अगस्त्य के शक्तिसूत्र प्रसिद्ध हैं।

लक्षणादेशिक का 'शारदातिलक' प्रसिद्ध तत्त्वों में माना जाता है। इस पर राघवभट्ट ने विशेष टिप्पणियों सहित टीका लिखी है, जिसे अपूर्व की सज्जा दी जा सकती है। पुरायानन्दनाथ ने कामकला विलास की रचना की जिस पर नटनानन्द ने चिद्वली व्याख्या की। नटनानन्द के शिष्य अमृतानन्दनाथ ने 'योगिनी हृदय दीपिका' की रचना की, जो वामकेश्वर तत्त्व के एक अंश की व्याख्या है। शङ्कराचार्य की 'सोदर्य-लहरी' पर ३५ टीकाएँ लिखी गईं।

वेदों में भी शक्ति की विचारधारा का प्रवाह बहता है। वेद में मातृशक्ति का प्रतिनिधित्व अदिति देवी करती है। स्वतन्त्र रूप से कोई अलग सूक्त तो नहीं है, परन्तु ऋग्वेद में अन्य देवों के साथ इसका नाम प्राय ८० बार आया है। इसे 'देवतामयी' कहा गया है। इसे मनुष्य, पितर, घृत्सुर, गधर्व और सम्पूर्ण भूतों की माता घोषित किया गया है। गायकी, सावित्री, पृथ्वी अथवा मही इसी के नाम हैं। ऋग्वेद में इसके अनेकों विशेषण हैं। वह मित्र और वरुण की माता है। (दा२५।३, १०।३६।३, १०।१३२।६) वह गजाओं की माता है (रा२७।७) शक्ति-शाली पुत्रों वाली है (दा५६।१), उन्हें स्त्रों की माता की सज्जा दी गई है। विवस्वत्, सूर्य और वामन अवतार (विष्णु) की माता कहा गया है। वह विष्णियों से रक्षा करने वाली है (१०।१००, ११४-१५) बन्धनों को खोलने की उससे प्रार्थना की गई है (छा६।३।७), पापरहित होने के लिए स्तुति की गई है (१।१६।२।२२)।

अर्थवर्तवेद के देवी सूक्त में तो देवी का अधिक स्पष्टीकरण किया गया है। वहाँ देवी स्वयं कहती है—

अह स्त्रेभिसुंभिश्चराम्यह मादित्यैरुत विश्वदेवै ।

अह मित्रावरुणोभा विभर्यहमिन्द्राभ्नी अहमश्निभोभा ॥

“मैं रुद्रो, वसुओ, आदित्यो—आदिति-पुत्र सूर्यादि देवताओं के साथ तथा विश्वादेवा के साथ चलती हूँ अर्थात् समस्त साकार देवता, उनके ब्रह्माड तथा ब्रह्माडगत समस्त जड़ और चेतन के साथ मैं हूँ। प्रत्येक साकार देवताके साथ साकार स्त्री-रूप मैं हूँ। जड़ के साथ भी स्वातन्त्र्य, कार्यशक्ति, सूक्ष्म और स्तम्भित ज्ञानशक्ति मैं ही हूँ। उस सम्पूर्ण देवी सूक्त में शक्ति का सुन्दर निष्ठण किया गया है।

उपनिषदों का शक्ति-साहित्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। देवी, काली, तारा, वहवृत्त, भावना, त्रिपुरा, सारस्वती हृदय, सीता, सीमाग्यलद्मी, अरुणा, त्रिपुरातापिनी, अद्वैतभाव, कौल, श्रीविद्यातारक आदि प्रसिद्ध शाक्त-उपनिषद् हैं।

देव्युपनिषद् मे वाक्सूक्त, श्रीमूर्ति के मन्त्र और श्रीविद्या की पञ्चदशी उपस्थिति है। इने अथवावेद के सौभाग्यवाड का स्वीकार किया जाता है। श्रीविद्यातारक, कौल, अद्वैतभाव और काली उपनिषद् आवृत्तिक ही लगते हैं। ऐमा लगता है कि इनका आविर्भाव वामपार्श्व के प्रचार के बाद हुआ है। वहत्वृद्ध उपनिषद् मे ललिता रूप से ईश्वर का चिन्नन किया गया है। भावनोपनिषद् मे देवी के परम्परूप का बरण है। मरम्बती हृदय मे ऋग्वेद के सरम्बती मूर्ति के मन्त्र दिए गए हैं और तात्त्विक विनियोग भी है। सीता उपनिषद् मे सीता को शक्तिरूपिणी, मूलप्रकृति और योगमाया कहा गया है। सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद् मे नवचक्र मे देवी की उपासना का विधान, श्रीमूर्ति और उसका तात्त्विक विनियोग है। श्रस्त्रोपनिषद् तैत्तिरीय आरण्य के अन्तर्गत आता है। श्रिपुरातापिनी मे देवी के स्थूल और सूदम विग्रह के पूजन का विधान दिया गया है। अद्वैतभाव, कौल और श्रीविद्यातारक उपनिषदों का विपर्य उनके नामों से ही विदित हो रहा है।

द्राह्यण और आरण्यक साहित्य मे भी शक्ति का स्पष्ट उपास्य रूप वर्णित किया गया है।

शक्तिवाद का भी पर्याप्त सूत्र-साहित्य है। श्री गोडपादाचार्य के श्री विद्यारत्न सूत्र हैं, जिन पर शङ्खराचार्य की टीका है। दत्तसहिता के १८००० इलोकों को परशुराम ने ६००० मूर्तों मे सक्षेप किया जिसमे ५० काड थे। हाशीत गोत्र के सुमेवा ने इसका भी सक्षेप किया जिसे दमखरणी कहा जाता है। अगस्त्य के शक्तिसूत्र हैं, जिसका पहला मूर्त्र है—

अथात शक्ति जिज्ञासा ।

महर्षि भारद्वाज के शाक्त धर्म के सूत्र हैं। महर्षि अगिरा के देवी-मीर्मांसा दर्शन के सूत्र हैं। भास्करराय की सप्तशती टीका से नागनन्द के शक्तिसूत्रों का परिचय मिलता है। क्षेमराज रचित प्रत्यभिज्ञामत के शक्तिसूत्र हैं। नित्योत्सव नामक सूत्र पर उमानन्दनाथ

का लिखा हुआ निबन्ध है। उमानन्दनाथ के शिष्य रामेश्वर की सूत्र पर वृत्ति है।

शैव-तन्त्र—

यजुर्वेद में शतरुद्रीय अध्याय की ख्याति है। तैत्तरीय आरण्यक में सारे विश्व को रुद्रमय कहा गया है (१०।१६)। श्वेताश्वरोपनिपद (३।११) में शिव को सर्वव्यापी की सज्जा दी गई है।

शिवागम-साहित्य प्रामाणिक माना जाता है। शैव-सिद्धात का दक्षिण के तमिल प्रान्त में श्रधिक प्रचार है। ऐसा विश्वास है कि शिव ने अपने पाँच मुखों से २८ तन्त्रों की रचना की।

सद्योजात नामक मुख से उत्पन्न तत्र—कामिक, योगज, चिन्त्य, कारण, अजित।

वामदेव नामक मुख से उत्पन्न तत्र—दीप्ति, सूक्ष्म, सहस्र, अशुमान, सुसभेद।

अधोरमुख से उत्पन्न तत्र—विजय, निश्वास, स्वाय-म्भुव, प्रनल, वीर।

तत्पुरुष मुख से उत्पन्न तत्र—रौरव, मूकुट, विमल, चन्द्रज्ञान, विम्ब।

ईशान मुख से उत्पन्न तत्र—प्रोदीपि, ललित, सिद्ध, सन्तान, सर्वोत्तर, परमेश्वर, किरण, वातुल।

यह नाम जयद्रथ की 'तन्त्रालोक' की टीका में प्राप्य है।

अप्पद्य दीक्षित की 'शिवर्मणिदीपिका' सुन्दर कृति है। पाण्डित का सूत्र-ग्रन्थ 'महेश्वर रचित पाण्डुपत सूत्र' है। शैवाचार्य सद्योज्योति के मोक्षकारिका, योगकारिका, तत्वसग्रह, सत्वत्रय, नरेश्वर परीक्षा, परमोक्षनिरासकारिका, रौरवागम की वृत्ति, स्वायम्भुव आगम पर उद्योगदि ग्रन्थ उच्चकोटि के माने जाते हैं।

नारायणकठ के पुत्र रामकठ ने सद्योज्योति की कृतियों पर

सुन्दर व्याख्यायें लिखी हैं, जिनमे परमोक्षनिरासकारिका वृत्ति, मातग-वृत्ति, नादकारिका, मोक्षकारिका वृत्ति और प्रकाश (नरेश्वर परीक्षाटीका) छप चुकी हैं। हरदत्त शिवाचार्य की 'श्रुति सूक्तमाला' और 'चतुर्वेद तात्पर्य सग्रह' है। भोजराज की 'तत्त्वप्रकाशिका' पर अधोर शिवाचार्य ने वृत्ति लिखी है। नादकारिका पर भी इनकी वृत्ति लिखी है। श्री कठ सूरि का 'रत्नत्रय' का शैव-माहित्य मे अपना विशेष स्थान है।

वीर शैव मत का 'सिद्धान्त शिवामणि' उत्तम ग्रन्थ माना जाता है।

काश्मीर मे प्रचलित शैव नन्द्रो को प्रत्यभिज्ञा को सज्जा दी गई है। इनमे शैवों के अद्वैत मिद्धान्त की व्याख्या की गई है। साहित्य और दर्शन का समन्वय करने वाले प्रमिद्ध तन्त्राचार्य अभिनवगुप्त की मान दीय कृतियाँ इसी मत से सम्बन्ध रखती हैं। तन्त्रान्तोक, परमार्थसार ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी, मानिनो विजयवार्ती, परांत्रिशिका-विवृत्ति, अभिनव भारती तथा उत्तरालोक 'लोचन' की रचना ने अभिनवगुप्त तन्त्र-दर्शन और साहित्य जगत मे अमर बना दिया। अभिनव गुप्त के शिष्य क्षेमराज ने भी श्रेष्ठ ग्रन्थों की रचना की है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

प्रत्यभिज्ञा हृदय, शिवस्तोत्रावली, स्वच्छन्द तन्त्र, विज्ञानभैरव, नेत्रानन्त्र, स्पन्दसन्दोह, शिवसूत्रविमर्शिणी।

इस मत के अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ यह हैं—

गोरक्ष की 'परिमत्र' और 'मणार्थमञ्जरी', रामकण्ठ की 'स्पन्दकारिकाविवृत्ति', उन्पल वैष्णव की 'पन्द्रपदीपिका', योगराज की 'परमार्थ सारवृत्ति', भास्कर तथा वरदराज का 'शिवसूत्र वातिक', जयरथ की 'तन्त्रालोक टीका'।

बैष्णव-तन्त्र —

बैष्णव तन्त्रों में 'पाञ्चरात्र' और 'बैखानस' दोनों आते हैं। कोई समय था जब बैखानस माहित्य भी काफी सख्ता में उपलब्ध था, परन्तु अब नो उसका लोग-सा ही हो गया है। पाञ्चरात्रों को वेद के समान प्रमाण माना जाता है। रामानुज ने अपने श्रीभाष्य (२।२।४२) में सिद्ध किया है—

साख्य योग पाञ्चरात्र वेदा पाशुपत तथा ।

आत्मप्रमाणान्येतानि न, हन्तव्यानि हेतुभि ॥

अर्थात् सांख्य-योग-पाञ्चरात्र-वेद तथा पाशुपत ये सब आत्म-प्रमाण हैं। अतएव इन हेतुओं से हनन नहीं करना चाहिए।

शतपथ ब्राह्मण (१३।६।१) में 'पाञ्चरात्र सूत्र' का उल्लेख आता है। यामुनाचार्य न 'आगमप्राभण्य' में वैद्यतदेशिक ने 'पाञ्चरात्र रक्षा' में और भट्टारक वेदोत्तम ने 'तन्त्रशुद्ध' में अनेकों प्रमाण देकर पाञ्चरात्रों के मूल विद्वानों को वेद से मिलाने का प्रयत्न किया है। प्राचीन साहित्य से पता चलना है कि पाञ्चरात्र साहित्य तीन भागों में विभक्त था—

१—पाचरात्र श्रुति, २—पाचरात्र उपनिषद्, ३—पाचरात्र सहिता ।

उत्पल ने 'स्पन्दकारिका' में पहले दो के उदाहरण दिए हैं—

पाञ्चरात्र श्रुतावपि—यद्यत् सोपानेन प्रसादमावहेत्
प्लवनेत व नदो तरेत्, तद्यत् शास्त्रेण हि भगवान् शास्ता
अवगन्तव्य ।

अर्थात् प चरात्र से श्रुत की अवधि तक जिस भाँति सीढ़ियों के द्वारा प्रासाद का समारोहण किया जाता है तथा प्लवन के द्वारा नदी का सतरण किया जाता है, उसी भाँति शास्त्र के शासन करने वाले भग-

ईश्वर-सहिता के अनुमार--

एक एकायनो वेद प्रख्यातो सर्वतो भुवि ।

अर्थात् एक अयन वाला वेद मर्वश मूमण्डन में प्रवान है ।

पाचरात्र का सम्बन्ध वेद की एकायन शाखा से है, जिसका उल्लेख छादोग्योपनिषद् (७।१२) में भी आता है। महाभारत के नारायणोपाल्यान (शान्तिपर्व अध्याय ३३५, २८६) में भी पाचरात्र का उल्लेख मिलता है। इसके अनुमार नाश्वद श्वेत द्वीप में गए थे और नारायण ऋषि से उसकी शिक्षा प्राप्त करके लाये थे। इसीलिए नारायण ऋषि को इस भूत का प्रवर्तक माना जाता है और इसके प्रचारकों में कौशिक, शाडित्य, औपगायन और मौञ्ज्यायन का नाम आता है। पाचरात्र का दूसरा नाम भागवत धर्म या 'सात्त्वन धर्म' भी था।

डा० ग्रादर ने अपनी पुस्तक 'इन्डोइंडशन दु दी पाचरात्र' में पाचरात्र सहिताओं की सूख्याओं की सूख्या २१५ बनाई है, जिनमें विश्वामित्र सहिता, अगस्त्य सहिता, वासुदेव-सहिता, नारदीप सहिता, काश्यप सहिता, विष्णुरहस्य सहिता, महासनत्कुमार सहिता आदि के नाम उल्लेख नीय हैं। इस विशाल पाचरात्र साहित्य में से अभी १३ ही प्रकाश में आई हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—लक्ष्मीनत्र, विष्णुतिलक, अहिर्वृद्ध्य सहिता, श्रीसहिता, सात्त्वत सहिता, प्राचतत्र, वृहद व्रह्य सहिता, भारद्वाज महिता, कपिङ्गल सहिता, जयारुप सहिता, पराशर सहिता, ईश्वरी सहिता।

वैखानस कृष्ण यजुर्वेद की एक अलग शाखा थी। पहले तो इनकी मिथ्रता पाचरात्रों के समान ही थी, परन्तु उनके साहित्य के लोप होने से वह अपनी लोकप्रियता को खो वैठे हैं। वैखानस श्रीत-सूत्रों की गिनती उच्च साहित्य में होनी रही है। वैखानसों के श्रीत-सूत्र, धर्म-सूत्र, गृह-सूत्र और मन्त्र-सहिता चार प्रकार के ग्रन्थ मिलते हैं।

तत्र साहित्य की इस विशालना में अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीन काल में तत्र-साधना और माद्वि-र का कितना प्रचार था।

तन्त्र में योग का स्थान

पातजलि ने चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा है। तन्त्र के अपने मापदण्ड हैं। शारदा तिलक (५।२-३) में लिखा है कि वेदात के अनुसार जीव और आत्मा का मिलन योग है। यौवों के अनुयार शिव और आत्मा की एकता को योग कहते हैं। वैष्णव पुराण पुरुष के ज्ञान को योग कहते हैं। तत्र में शिव और शक्ति के एक्षय को योग कहा गया है। यहाँ चेतन रूप से किए गए शक्ति और ज्योति के किमी भी प्रथम को योग कहा जाता है। एक तात्रिक विद्वान् के अनुसार योग के दो अर्थ होते हैं—प्रथम तो विश्व में व्यास दिव्य जीवन से एकात्म लाभ करना, जो कि मानव-जीवन का उद्देश्य है। दूसरा अर्थ बुद्धिपूर्वक नियोजित आत्मानुशासन के साधन-क्रम और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला स्वाध्याय और अभ्यास है।

तन्त्र में योग का पर्याप्त अश सम्मिलित है। षट्चक्र निरूपण, त्रिपुरासार सम्मुच्चय, गन्धर्व तत्र जैसे ग्रन्थों में इहा, पिंगला, सुषुम्ना, कुहिलिनी व अन्य योगिक विषयों वा वर्णन है। महाकालोक्त 'पादुका-प चक्रम्' स्तोत्र में द्वादश दल पद्म का विशेष विवेचन है। शारदा तिलक में तो अध्याय-के-अध्याय भरे पड़े हैं। अन्य तत्रों में भी योग विषय को उचित स्थान दिया गया है। योग की महिमा का इस प्रकार वर्णन है—

योगहीन कथ ज्ञान मोक्षद मवतीश्वरि ।

—योगबीज १०

हे परमेश्वरि ! योग रहित ज्ञान रहित ज्ञान किस तरह मोक्ष दायक हो सकता है ?

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रिय ।

विना योगेन देवोऽपि न मुक्ति लभते प्रिये ॥

(योग बीज ३१)

“हे प्रिये ! ज्ञान निष्ठ, विरक्त, धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय, और देवता भी योग के विना मोक्ष लाभ नहीं कर सकते ।

मथित्वा चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि चैव हि ।

सारस्तुत् योगिभि पीतस्तक पिवन्ति पण्डिता ॥

(ज्ञानसकालिनी तन्त्र ५१)

“चारो वेद और समस्त शास्त्रों को मथ कर सार मक्खन तो योगी चाट गये हैं और असार भाग परिहृत पी रहे हैं ।”

ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु सदेवो न तु मानुष्य. (तन्त्र)

‘ऊर्धरेता योगी मनुष्य नहीं ईश्वर ही होता है ।’

अनेक शत सख्याभिस्तकं व्याकरणादिभि ।

पतित शास्त्रा जालेषु प्रज्ञया ते विमोहिता, ॥

(योग बीज ८)

‘संकटो तर्कशास्त्र तथा व्याकरण आदि पठकर मनुष्य शास्त्र जाल में फँस कर विमोहित हो जाते हैं । वास्तविक ज्ञान तो योग से ही होता है ।’

देहेस्मन् वर्तते मेरु, सप्त द्वीप समाविन्त ।

सरित् सागरा, शैला क्षेत्राणि क्षेत्रपालका. ॥

ऋषयो मुनये सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तव्या ।

पुण्यतीर्थानि पाणोनि वर्तन्ते पीठ देवता ॥

सृष्टि सहार कर्तारौ भ्रमन्ती शशिभास्करौ ।

नमो वायुश्च वानिश्च जल पृथ्वी तथैवच ॥

त्रैलोक्ये यानि भूत्तानि यानि सर्वाणि देहतः ।

मेरु सवेष्य सर्वत्र व्यवहारा प्रवर्त्तते ॥
जानाति य सर्वमिद स योगी नात्र सशय ।
ब्रह्माण्ड सज्जके देहे यथा देश व्यवास्थित ॥

(शिव सहिता प० २)

“इस मानव-देह मे मेरु पर्वत, सातो द्वीप, समस्त नदियाँ और समुद्र, पर्वत, समस्त प्रदेश, ऋषि, मुनि, नक्षत्र, ग्रह, पूरणतीर्थ, सिद्धपीठ और दनके देवता सृष्टि का सहार करने वाले, सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी पाचो तत्त्व सब कुछ पाया जाता है। तीनों त्रिकोण मे जो कुछ है वह सब इस देह मे भी मौजूद है। जो इस रहस्य को पुर्ण रूप से जानता है वही सच्चा योगी है। जो कुछ ब्रह्माण्ड मे है वह इस मानव देह रूप पिराड मे भी पाया जाता है।”

योग महिमा के ऐसे संबंधों का वर्णन तन्त्रो मे आया है। ढा० राघाकमल मुकर्जी के अनुसार “वास्तव मे इस उपासना का प्रारम्भ कामना तथा मनोभावो से होता है और इसका पर्यावरण योगिक समाधि मे होता है। योग सम्बन्धी अनूकूल नाडियो, चक्रो तथा चक्रो के अन्दर रहने वाली शिराओ को ध्यान के द्वारा जागृत कर उपासक अपने शरीर और मन पर अधिकार कर लेता है और अत मे जाकर निराकार के व्यान से स्थित प्राप्त करने मे समर्थ होता है।

तत्र अष्टाग योग का भा अनुकरण करता है। यथा—
यमनियमगुणाश्च स्वात्मशुद्धिं विधाय
स्ववशविविधपीठेरेव भूत्वा स्थिरात्मा ।
असुनियमजलेन स्नापये द्विदव्यलिङ्गं
प्रकटितचतुरङ्गं बाह्यमेतदविधानम् ॥
शम्भोरथेन्द्रियनिवर्तनमेव गन्धो
व्यान प्रासूनिचयो दृढधारणा सा ।
धूपं समाधिरथशुद्धमहोपहार
आभ्यन्तराख्यचतुरङ्गविधानमेतत् ॥

एवमष्टाग्रयोगेन मदान्तं पद्मसन्धनि ।

पूज्येन्परम देव कि वाह्य देवपूजनै ॥

"यम नियमो से सम्बन्धित २४ गुणों से आत्म-शुद्धि करना, आपनो से शरीर की स्थिरता करना, प्राणायाम रूपी जल से दिव्य-लिंग का अभियेक करना ही वाह्य चतुरग कहा जाता है। शम्भु की इन्द्रियों का विषय निवृत्ति रूप प्रत्याहार को गत्य कहते हैं। पुष्प की सज्जा इन्द्रिय निवृत्ति से अन्त मुख हुए मन में शिव-ध्यान जमाना है, उन्हे हृष्टापूर्वक धारणा करने को धारणा कहा गया है और ज्ञाताज्ञान रूप-समाधि ही नैवेद्य है। इसे आम्यत्तर चतुरग कहते हैं। शिव-योगी को इस तरह अष्टाग्रयोग की सावना करते हुए श्रप्ने हृदय में शिव का पूजन करना चाहिए।"

तब्बो में अष्टाग्रयोग के सभी अङ्गों का विस्तृत विवेचन है। शारदातिलक (२५।७) में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, व्रह्यचर्य, आज्ञेव, क्षमा, धृति, मिताहार व शौच का वर्णन है, जिन्हे यम कहा जाता है। अगले इलोक (८) में तप, सत्तोष, आस्तिक्य, दान, देव-पूजन, सिद्धान्तशब्दण, ही, मति, जप व होम दस नियम बताये गये हैं। आसनों का वर्णन इलोक ६।१५ में है। प्राणायाम का वर्णन १६।२२ में है। पांच प्राणो—प्राण, श्रप्नन, समान, व्यान, उदान और उप-प्राण—नाग, कूम, कृक्र, देवदत्त और घनञ्जय का वर्णन १।४४ में है। (२५।२३) में प्रत्याहार की व्याख्या है। २४, २५ में धारणा का विवेचन है। २६ वें इलोक में ध्यान की परिभाषा की गई है।

साधना के लिए ध्यान के विधि-विधान भी दिए गये हैं।
यथा—

ब्रह्मरन्धसरसीरुहोदरे नित्यलग्नमवदातुमदभुतम् ।
कुण्डली विवरकाण्ड मडित द्वादशार्णं सरसीरुह भजे ॥

—पादुका पचक

“सब मनुष्यों के मरणव मेरो भ्रमोभुखी सहस्र दल कमत है । उमके उदार मेरु कुलकुरुडलिनी के जानने के लिए जो नित्य लग्न और अद्भुत पथ रूपी नाही है, उमसे स लग्न द्वादश वर्ण पद्म का मैं ध्यान करता है ।”

ब-बीज वारुष ध्यायेदर्धचन्द्र शशिप्रभम् ।

क्षुत्पिपासा सहिष्णुत्व जलमध्येषु मज्जनम् ॥

“ब बीज वाले अर्द्ध चन्द्राकार चन्द्रमा की तरह काति वाले जल तत्व का स्वाधिष्ठान मेरु ध्यान करे । इससे भूख-प्यास मिटकर सहनशक्ति पैदा होगी और जल में अव्याहृत गति हो जायेगी ।”

य बीज पवन ध्यायेद् वर्तुल इयामल प्रभाम् ।

आकाश गमनाद्यञ्च पक्षिपद्मगमन तथा ॥

“य बीज वाले गोलाकार तथा हरी प्रभा वाले वायु तत्व का अनाहृत चक्र से ध्यान करे । इससे आकाश गमन तथा पक्षियों की तरह उड़ने की सिद्धि प्राप्त होती है ।”

र-बीज शिखिन ध्यायेत् त्रिकोणमहण प्रभम् ।

वह्न्यन् पान भोवतृत्वमातपाग्नि सहिष्णुता ॥

“र बीज वाले त्रिकोण और अग्नि के समान लाल प्रभा वाले अग्नि का मरियुर चक्र से ध्यान करे । सिद्ध होने पर अत्यन्त अन्त ग्रहण करने की, पीने की शक्ति तथा धूप और अग्नि सहन करने की शक्ति आ जाती है ।”

ल-बीजा घरणी ध्याये चतुरस्त्रा सुभीतभाम् ।

सुगन्ध स्वर्ण वर्णत्वमारोग्य देहलाघवम् ॥

“ल बीज वाली चौकोण, पीली पृथ्वी का ध्यान करे । इस प्रकार करने से नासिका सुगन्ध से भर जायगी शरीर र्वर्ग के समान वासि वाला स्वस्थ और हल्का हो जायगा ।”

ह-बीज गगन ध्यायोक्त्राकार वहुप्रभम् ।

ज्ञान त्रिकालविषय मैश्वर्यमणिमादम् ॥

“ह वीज का विशुद्ध चक्र मे जाप करते हुए निराकार चित्र-विचित्र रग वाले आकाश का ध्यान करे । इसे तीरों कानों का ज्ञान, ऐश्वर्य तथा अर्थ-मानादि अष्ट मिद्दियां प्राप्त होनी हैं ।”

सहस्रदलपद्मस्थमत्नरात्मात् उज्ज्वलम् ।

तस्थोपरि नादविन्दोर्मध्ये सिहासनोज्ज्वले ॥

तत्र तिजगुरु नित्य रजताचनसन्तिभम् ।

वीरासनसमासीन सर्वाभिरणभूपितम् ॥

शुब्लमाल्याम्बरधर वरदाभयपाणिकम् ।

वामारुगत्तिसहित कारुण्येनावलोकितम् ॥

प्रियया सव्यहस्तेन धृतचारुग्लेवरम् ।

वामेनोत्पलधारिण्या, रक्ताभरणभूपया ॥

ज्ञानानन्दनमायुक्त स्मरेतनामपूर्वकम् ॥

“योगी को ऐसा ध्यान करना चाहिए कि जिस महत्र दर कमन

मे उज्ज्वल अन्नगत्ता विद्यमान है, उसके ऊपर के नाद-विन्द के वीच मे एक प्रीति सिहामन रिति है । उसी पर अपने इष्ट दवता भग्निति है, उनकी स्थिति वीरामन की-मी है । चाँदी के पहाड़ की तरह उनके ऊरीर मफेद हैं, अनेको प्रकार के आभूपण घारणा किए हुए हैं, माला, पूल और वस्त्रों से विभूषित हैं, हाथों मे वर और अमय मुद्राएँ हैं । उनके बायें और शक्ति का स्थान है, गुरु कहणा दृष्टि से चारों ओर निहार रहे हैं, शक्ति दाहिने हाथ से उनको छू रही है । शक्ति के बायें हाथ मे लाल पद्म है और लाल रग के आभूपण ग्रहण किये हैं । इस तरह मे उन ज्ञान समायुक्त गुरु का नाम स्मरण करते हुए ध्यान करना चाहिए ।”

शारदा तिलक (२५२७) मे जीवात्मा और परमात्मा के प्रितर अभेद मे अनुभूति को समाप्ति कहा गया है । गौडपद स्वाम ने कहा है —

सर्वाभिलापविगत सर्वचिन्ताममुत्तिवन ।

सुप्रशान्तं सकृज्जयोति समाधिरचलोऽभय ॥

(प्रा० ३।३७)

“सारे वाह्य शब्दादि व्यवहार के बिना, सारे सूक्ष्म प्रपञ्च रूप चिता के बिना, सारे अविद्यादि क्लेशो के बिना, सदा स्वयं प्रकाशमान, जयोति-स्वरूप अचल भयादि दैव रहित स्व-स्वरूप का नाम ही समाधि है ।

समाधि से पूर्णता का आश्वासन देते हुए शिवससिता मे कहा गया है—

निरालम्ब मन कृत्वा न किञ्चिचद्वापि चिन्तयेत् ।
वृत्तिहीन मन कृत्वा पूर्णरूप स्वयं भवेत् ॥

“जिस काल मे सविकल्प समाकल्प के साधन से भिविकल्प समाधि सिद्ध हो जाती है, मन दृश्य का चितन छोड़कर वृत्ति रहित हो जाता है । उस समय साधक स्वयं पूर्ण बन जाता है ।”

तन्त्र मे कुण्डलिनी का विस्तृत वर्णन है । शारदा तिलक(१५७-५७) मे कुण्डलिनी-शक्ति को चैतन्यरूप सर्वव्यापी, विद्युत सरीखी, सब तत्त्वो और देवो मे व्याप्त और शब्द-त्रह्य कहा है । (५८-१०७) मे कहा है कि वह किस तरह मन्त्रो, यन्त्रो और हर वस्तु मे है । १०८-१०९ मे कहा है कि कुण्डलिनी से, जो कि शब्दत्रह्य है और सर्वव्यापी है, स्त्री शक्ति, ध्वनि, नाद, निरोधिता आदघेन्दु, भिंडु की उत्पत्ति होती है । विन्दु से परावाणी, फिर पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी वाणी । २६ वे अध्याय मे परा से पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी तक पहुँचने के साधन भी दिए गए हैं । २५।६४ मे कहा गया है कि जब कुण्डलिनी जाग्रत होती है और विजली की तरह मूलाधार चक्र से ऊपर सुपुम्ना के मार्ग से चढ़नी है, तो वह षट्ककों को भेदन करती चलती है । जब वह सहस्रार मे पहुँचती है, तो वह अपने इष्ट पर-शिव मे मिल जाती है । २५।७७ द२ मे कुण्डलिनी का ध्यान दिया गया है ।

नाद योग का वर्णन गिरु महिता मे इम प्रकार है—

नासन सिद्धसदृश न कुम्भकसम बलम् ।

न खेचरीसमा मुद्रा न नादमदृशो लय' ॥

“सिद्धामत के समान कोई आमन नहीं, कुम्भक के समान कोई बल नहीं, खेचरी के समान कोई मुद्रा नहीं और मनोनय के लिए अतह नाद के समान कोई साधन नहीं ।”

स्वे महिम्नि स्वय स्थित्वा स्वयमेव प्रकाशते ।

“नाद और विन्दु का साधक आनी महिमा मे स्वय मियन होकर स्वय प्रकाशता है ।”

शारदा निलक १४०-४३ मे योगिक नाडियो का वर्णन है और डनही सरुरा अनगिनत बताई है । ‘षट्चक्र निरूपण’ मे नाडियो रा वृहद् विवेचन है । पट्चक्रो की भी पूरी जानकारी दी गई है ।

योगिक नाडियो का अनद्वारिक भाषा मे इम प्रकार वर्णन है—

इडा योगवनी गगा, पिगला यमुना नदी ।

इडा पिगल योर्मध्ये सुपुम्ना च सरस्वती ॥

“इडा नाडी गगा है, पिगला यमुना, इन दोनो के बीच मे सुपुम्ना है, वही सरस्वती है ।”

इम तरह से तात्रिक साधनाओ और योग मे इतनी घनिष्ठता उत्पन्न हो गई है कि उनको अलग करता भी कठिन हो गया है । तत्त्व मे योगिक साधनाओ को प्रमुखना दी गई है । इमसे इनका महत्व बढ़ा ही है । अत तात्रिक साधनाओ मे योगिक क्रियाये उच्चामन पर स्थित हैं ।

• • •

तंत्र साधना में गुरु की अविश्वकृता

अनेक महावूर्ण विद्याएँ गुरु के माध्यम से प्राप्त ही जानी हैं और तत्र विद्या का प्रदेश-द्वारा तो अनुभवी मार्ग-दर्शक के द्वारा ही खुनना है। अक्षरारम्भ यद्यपि हमारी दृष्टि में पूरण सामान्य सी बात है पर छोटा बालक उस कार्य को अध्यापक के बिना अरुना ही पूर्ण करना चाहे तो नहीं कर सकता भले ही वह किनना ही मेवाड़ी झगोन हो। गणिन, शिल्प, सजरी, माइंस, यत्र-निर्माण आदि सभी महावूर्ण कार्य अनुभवी अव्यापक ही निखाते हैं। कोई छात्र शिष्यक की आवश्यकता न समझे और स्वयं ही यह सब सीखना चाहे तो उसे कदाचित् ही सफलता मिले। रोगी को अपनो चिकित्सा कराने के लिए किसी अनुभवी चिकित्सक की शरण लेनी पड़ती है, यदि वह अपने आप ही इनाज करने लगे तो उसमें भूल होने की ममायता रहेगी, कोइंकि अपने सम्बन्ध में निर्णय करना हर व्यक्ति के लिए कठिन होता है।

अपनी निज की त्रुटि, अवूर्णता, बुगाई, म्यानि एवं प्रगति के बारे में कोई विश्ला ही सही अनुमान लगान करता है। जिस प्रकार अपना मूँह अपनी आँखों से नहीं देखा जा सकता, उसके लिए दर्पण की या किसी दूसरे से पूछने की महायता नेहीं पड़ती है, तभी कुछ जान मृदना सम्भव होता है। उमी प्रकार अरने दोष दुर्गुणों ना, मनोभूमि का, आत्मिक स्तर का एवं प्रगति का भी पता अपने आप नहीं चलता, कोई अनुभवी ही इस मम्बन्ध में विघ्नेतण कर सकता है और उमी के द्वारा उद्धार एवं कल्याण का मार्ग-दर्शन किया जा सकता है। जिसन

कोई रास्ता स्वयं देखा है, कोई मजिल स्वयं देखी है, कोई मजिल स्वयं पार की है वही उस रास्ते की मुद्दिधा असुविवाही को जानता है, नय पर्याक के लिये उसी की सलाह उपयोगी हो सकती है। विना किसी से पूछे स्वयं ही अपना रास्ता आप बनाने वाले सम्भव हैं मजिल पार कर ले, निश्चित रूप में उन्हे कठिनाई उठानी पड़ेगी और देर भी वहूत लगेगी। इसलिए जब तक सर्वथा असम्भव ही न हो जाय, तब तक मार्ग दर्शक की तलाश करना नी उचित है। उसी के सहारे अध्यात्मिक यात्रा मुविषापूर्वक पूर्ण होती है।

प्राकृतिक नियमों का अध्ययन करने पर भी यही प्रतीत होता है कि जीव—शक्ति, ज्ञान और भाव के सम्बन्ध में स्वावलम्बी नहीं है, परावलम्बी है। उसे वाह्य शक्तियों के सहयोग की अपेक्षा रहती है। इसके बिना वह पगु ही बना रहता है। जब उसकी आन्तरिक शक्ति और बौद्धिक विकास में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है, तब उसे वाह्य शक्तियों की अपेक्षा भले ही न हो, परन्तु फिर भी उसे अन्तर की अचिन्त्य शक्ति का आलम्बन स्वीकार करना ही होगा, तभी वह पूर्ण विकास के पथ पर अग्रसर हो सकता है।

भौतिक शिक्षाओं के शिक्षक अपने विषय की जानकारी देकर अपना कर्तव्य पूरा कर लेते हैं, पर अध्यात्म-मार्ग में इतने से ही काम नहीं चल सकता। वहाँ शिक्षा ही पर्याप्त नहीं, वरन् गुरु द्वारा दिया हृद्या आत्मबल भी दान या प्रसाद रूप में उपलब्ध करना पड़ता है। जिस प्रकार कि कोई रोगी चिकित्सक की शिक्षा मात्र से अच्छा नहीं हो सकता, उसे चिकित्सक से श्रौपधि भी प्राप्त करनी पड़ती है, उसी प्रकार सच्चे गुरु न केवल-आत्म-कल्याण का मार्ग बताते हैं, वरन् उस पर चल सकने योग्य साहस, वल और उत्साह भी देते हैं। यह देन तभी सम्भव है जब गुरु के पास अपनी सचित आत्म-सम्पदा पर्याप्त मात्रा में हो। इसलिए गुरु का चयन और वरण करते समय उसकी विद्या ही नहीं, आत्मिक स्तर और तप की सम्मिलित पूँजी को भी देखना पड़ता

है । यदि वह सभी गुण न हो, तो कोई व्यक्ति अध्यात्म-मार्ग का उपदेश भले ही वहा जा सके, पर गुरु नहीं बन सकता । गुरु के पास साधना, तपस्या, विद्या एव आत्मबल की पूँजी पर्याप्त मात्रा मे होनी चाहिए । साधक को ऐसा ही गुरु तलाश करना पड़ता है ।

गुरु वरण करने का तात्पर्य उस व्यक्ति की आत्मा के साथ अपनी आत्मा को जोड़ देना है । जिस प्रकार किसी बड़े तालाब के साथ छोटे तालाब को एक नाली के द्वारा जोड़ दिया जाए, तो बड़े तालाब का पानी छोटे मे भी आने लगता है और वह तब तक नहीं सूखता, जब तक कि बड़ा तालाब सूख न जाय ।

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्
प्रशान्त चित्ताय शमान्विताय ।

ये नाक्षर पुरुष वेद सत्य
प्रोवाच ता तत्वतो ब्रह्म विद्याम् ॥

—मुण्डक १।२।१३

“वह जानी गुरु उस श्रद्धापूर्ण, शान्तचित्त एव तितिक्षा और साधनानिष्ठ शिष्य को ब्रह्म-विद्या का उपदेश करे, जिससे वह अविनाशी, सत्स्वरूप आत्मा को जान ले ।”

गुरु की महत्ता एव योग्यता, शिष्य की पवित्रता एव सुपात्रता, गुरु के प्रति भक्ति-भावना रखना, उनके आदश का अनुसरण करना आदि आवश्यक तथ्यों पर शास्त्रों मे अनेक प्रसग मिलते हैं । वे सभी माननीय एव विचारणीय हैं । देखिये—

“वेद सम्पन्न आचार्य, ईश्वर-भक्त, मत्सरता रहित, योग जाता, योग-निष्ठा वाला, योगात्मा, पवित्रतायुक्त, गुरुभक्त, परमात्मा मे विशेष रूप से लीन इन लक्षणो से युक्त गुरु कहा जाता है । ‘गु’ शब्द का अर्थ है—अन्धकार और ‘रु’ शब्द का अर्थ है—रोकने वाला । अन्धकार को दूर करने से गुरु होता है ।

गुरु ही परमहन्ति है। गुरु ही परम गति है गुरु ही पर-विद्या है। गुरु ही परम धर्म है। गुरु ही परम धर्म है। गुरु ही परम धर्म है। वह उपदेष्टा होने के कारण ब्रह्म में भी श्रेष्ठ है।”

—श्रद्धयतारक उपनिषद्

“गुरु ही परम धर्म है। गुरु ही परम गति है। जो उनका सम्मान नहीं करता, उसकी विद्या, तपत्या सभी वीरे-गीरे ऐसे क्षीण हो जाती है, जैस कच्चे घड़े में जन। जैसी भक्ति दब में, वैभी ही गुरु में होने से ब्रह्मज्ञानी परम पद को प्राप्त करता है, ऐसा वेदानुज्ञान है, ऐसा ही वेद-विधान है।”

—शटायायनोयोपनिषद्

“गुरु जो आदेश दे, उसका पालन शिष्य को विना विवार, मन्त्रोपयुक्त भाव से करना चाहिए। इस विद्या को गुरु से प्राप्त करे। गुरु की मदा सुश्रूपा करें, इसी स मनुष्य का मन्त्रा कल्याण होता है। श्रुति में कहा गया है कि गुरु ही साक्षात् हरि हैं, कोई अन्य नहीं।”

—ब्रह्मविद्या उपनिषद्

अन्य ग्रन्थों में भी इस सम्बन्ध में वहन कुछ कहा गया है। वह भी महत्वपूर्ण है। गुरु की महत्ता को प्राप्त सभी धर्म ग्रन्थों ने एक स्वर से स्वीकार किया है

उत्तिष्ठित ! जाग्रत ! प्राप्यवरात निरोधक !

—ऋग्वेद

‘उठो, जागो ! सदगुरुओं द्वारा ज्ञान को प्राप्त करो।’

गुरुपोदेशतोऽज्ञेय न च शास्त्राथ कोटिभि ।

“क्वल शास्त्रों के आधार पर नहीं, इस विद्या को गुरु द्वारा सीखो।”

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् ।

समित् प्राणि श्रोत्रिय ब्रह्म निष्ठम् ॥

—श्रीमद्भागवत

“उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए वेदज्ञ, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास हाथ में समिचा लेकर आ जावे ।”

निमज्या मज्जता घोरे भवाब्धौ परमायनम् ।
सन्तो ब्रह्मविद्, शाता नौर्द्धेवाप्सु मज्जताम् ॥

—श्रीमद्भागवत

“जैसे जल में झूबते हुओं को नाव ही एकमात्र सहारा है, वैसे ही इस भव सागर में झूबने से बचने के लिये ब्रह्मवेत्ता सन्तो का ही सबसे बड़ा सहारा है ।”

दुर्लभो विषयेत्यागो दुर्लभ तत्त्व दर्शन ।

दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरो करुणाविना ।

‘विना गुरु-कृपा के विषयों का त्याग दुर्लभ है, तत्त्व-दर्शन दुर्लभ है तथा सहजावस्था का प्राप्त होना भी दुर्लभ है ।’

आत्मज्ञान की उपलब्धि, पापपूर्ण मनोभूमि का परिशोधन, ऋम-सशयों का उच्छेदन, प्रगति के लिए मार्ग-दर्शन, यह सब कार्य उनके लिये सरल ही हो जाते हैं, जिन्हें मनुभवी सदगुरु की प्राप्ति हो जाय। इसके बिना अध्यात्म-माग के पथिक को अन्वकार में ही भटकते रहना पड़ता है ।

गुरुपदेशास्त्रार्थं बिना चात्मा न ब्रुद्ध्यते ।

एतत्सयोगसत्तौव स्वात्मज्ञान प्रकाशिनी ॥

—योगविष्ट ६।४१।१६

शास्त्र के अध्ययन और गुरु के उपदेश बिना आत्मज्ञान नहीं होता। अधिकारी, जिज्ञासु शास्त्राध्ययन और सदगुरु इन तीनों के सयोग से ही आत्मज्ञान प्रकाश में आता है ।

आचार्य द्वे विद्या विहिता साधिष्ठ प्रापत् ।

“आचार्य के बिना परागत्कि स्वरूपा ब्रह्मविद्या स्वधिष्ठित होती ही नहीं ।”

मन्त्र, मावना-विवान, स्वाध्याय और मयम का जैना महत्व है, वैमा ही गुरु के महयोग का भी है। उचित मार्गदर्शन से ग्रावी कठिन ई तो स्वयमेव हल हो जाती है। इसीलिए गुरु को भी एक प्रकार मे मन्त्र एवं देवता ही माना गया है।

यथा घटठच कलश कुम्भश्चैकार्थ वाचका ।

तथा मन्त्रो देवता च गुरुश्चैकार्थ वाचका ॥

जिस प्रकार घट, कलश, कुम्भ एक ही वस्तु के कई नाम हैं, उसी प्रकार मन्त्र, देवता और गुरु एक ही तत्व के नाम हैं।"

पन्थानो यहव प्रोक्ता मन्त्र गात्र मनोपिभि ।

स्वगुरोर्मतयोऽथित्य शुभ कार्य न चान्यथा ॥

"बहुत-ने मार्ग हैं, अनेक मन्त्र एवं शास्त्र हैं पर अपने गुरु के मतानुसार मार्गावलम्बन करने से ही शुभ होता है। इसके विषयीत करने से नहीं।"

अनेक कोटि मत्राणि चित्त व्याकुल कारणम् ।

मत्र गुरोऽ कृपा प्राप्तमेक स्यात् सर्वमिद्विदम् ॥

"अगणित मन्त्र तो चित्त की व्याकुलता के कारण इसी सिद्ध होते हैं। गुरु की कृपा से प्राप्त हुआ एक मन्त्र ही मवे निदियों प्रदान करता है।"

आत्मा को अपने ही विचारो और तर्कों से प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके लिए मुयोग्य मार्गदर्शक गुरु का होना नितान्त आवश्यक है। इस मम्बन्व मे महोपनिषद् मे वर्णित शुक्रदेवजी का प्रसग और कठोपनिषद् का प्रमाण मननीय है—

नैपा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तात्येनैव सुज्ञानाय श्रेष्ठ ।

— कठ० ११२।६

"यह आत्म-वुद्धि तर्क से नहीं मिलती। हे श्रेष्ठ! दूसरे के द्वारा कही जाने पर ही यह अच्छी तरह जानी जाती है।"

शुकदेवजी के अन्तरण मे स्वत, ही ज्ञान उत्पन्न हुआ था । पर उससे काम न चला । इस सम्बन्ध मे ‘महोपनिषद्’ अध्याय २ मे इस प्रकार वरण मिलता है—

जात मात्रेण मुनिराङ् यत्सत्य तदवास्वान् ।
तेनासौ स्व विवेकेन स्वमेव महामना ॥
प्रविचार्य चिर साधु स्वात्मनिश्चयमाप्तवान् ।

“उन शुकदेवजी को बिना गूरु के उपदेश के ही स्वत‘ आत्मज्ञान हुआ था । उनकी वासनाएँ स्वत, निवृत हो गई थीं । परन्तु वह ज्ञान हृषि न होने के कारण उनके मन को शान्ति नहीं हुई । उन्हे अपने ज्ञान विश्वास नहीं हुआ । इसलिए अपने पिता व्यासजी के आदेश से उन्हे जनक के पास ज्ञान ग्रहण करने जाना पड़ा ।”

गुरुर्गरीयान् मातृत पितृश्चेति मे मति ।

—शा० १०८।१७

“माता-पिता से भी गूरु का स्थान ऊँचा है ।”

वयोकि—

माता पितरौ शरीरमेव काष्ठ कु डयादि सम जनयत ।

आचार्यस्तु सर्वं पुरुषार्थं क्षम रूप जनयति ॥

“माता-पिता तो लकड़ी के ढोल सरीखे इस देह को ही जन्म देते हैं, पर आचार्य सब पुरुषार्थ भरे अध्यात्म रूप को ही जन्म देता है ।”

श्रुत्याचार्यं प्रसादेन दृढोबोधो यदा भवेत् ।

निरस्ताशेष प्रसार निदान पुरुषस्तदा ॥

(वाक्ववृत्ति ५०)

“जब श्रुति और आचार्य के अनुग्रह ने हट जान इत्यन्त्र होता है, तब पुरुष की समार की कारण स्पष्ट नमन अदिया दूर हो जाती है।”

यथाकूम स्वतनयान्व्यान मार्गेण पोपयेत् ।

वध दीक्षोपदेवाम्तु मानस स्पत्तथाविव ॥

(कुलार्णव तत्र)

‘जिस प्रकार मादा कदुआ केवल व्यान मात्र से अपने अरणों का पोषण करती है, उभी प्रकार सच्चे गुह भी शिष्य को हृदय में ही दीक्षा दिया करते हैं।’

दृष्टान्तो नैव दृष्टान्तिभुवन जठेर सद्गुरोऽर्जनिदातु
स्पर्शश्चेतत्र कल्प्य मनयातियदहो स्वर्णतामज्य मार्गम्
न स्पर्शत्वं तथापि श्रितचरणयुगे सद्गुरु, रवीष्यशिष्ये
स्वीय सम्य विवत्ते भवति निरूपमरतेन वा लौकिकोऽपि ॥
(शकराचार्य कृत “शतश्लोकी”)

“इस त्रिभुवन में ज्ञानदाता मद्गुरु के लिये देने योग्य कोई दृष्टान्त ही दिखाई नहीं देता। उन्हे पारस मणि की उपमा देतो भी यह ठीक नहीं जैचतो, कारण पारस लोहे को तो सोना बना देता है पर पारस नहीं बनाता। पर मद्गुरु के चरण कमल का आश्रय लेने वाले शिष्य को सद्गुरु अपने समान ही बना देते हैं इसलिए सद्गुरु की कोई उपमा नहीं हो सकती।”

चिन्तामणिलोके मुख सुरद्रु श्वर्गसम्पदम् ।

प्रयच्छित गुरु, प्रीतो वैकुण्ठ योगि दुर्लभम् ॥

(भागवत माहात्म्य)

‘गुरु की कृपा से समार के सभस्त सुख और स्वर्ग की सम्पदा प्राप्त हो सकती है जो कि योगियों के लिए भी दुर्लभ हैं।’

गुरुब्रह्मा गुरुविष्णु गुरुदेवो महेश्वर ।
न गुरोरधिक् कश्चित् त्रिपुलोकेषु विद्यते ॥

—योगशिखोपनिषद्

“गुरु ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव के समान है, तीनों लोकों में गुरु के समान अन्य कुछ भी नहीं है ।”

आचार्या द्वे विहिता साधिष्ठ प्राप्त् ।

“आचार्य के बिना पराशक्ति स्वरूपा ब्रह्मविद्या स्वधिष्ठति नहीं होती ।”

आत्मविद्या चानन्तमुखस्य गुरुकासव्य—
रहितस्य न वेदशास्त्रमात्रेषोत्पद्यते ।

“गुरु की दयाहृष्टि से रहित बहिर्मुख मनुष्य केवल वेद-शास्त्र पढ़कर आत्म-विद्या को नहीं पा सकता ।”

गुरुपूजा विना देवि स्वैष्ट पूजां करोति य ।

मन्त्रस्य तस्य तेजांसि हरते भैरव स्वयम् ॥

—कालीविलास तन्त्र

“हे देवि । जो गुरु-पूजा के बिना अपने डृष्टि की पूजा करता है, उसके मन्त्र के तेज को भैरव-हरण कर लेता है ।”

गुरोरधि पद्मे मनस्वेन्न लग्न ।

तत् किं तत्, किं तत् किं तन् किम् ।

“मन यदि गुरु के चरण-कमलों नहीं में लगा रहा तो और सब किस काम का ?”

कर्मणा मनसा वाचा गुरो क्रोधं न कारयेत् ।

तस्य क्रोधेन दह्यन्ते आयु श्रीज्ञान मतुक्रिया ॥

“कर्म, मन, वचन में गुरु को कभी क्रोधित होने का अवयन नहीं देना चाहिये । उनके क्रोप से आयु, लक्ष्मी, ज्ञान, सत्कर्म का नाश हो जाता है ।”

यथा गुरुस्तथीवेशे यथेवेगस्तथा गुरु, ।

पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनमो ।

(शिवपुराण-कैलास स०)

‘जैसा गुरु का आदेश हो उमी तरह रहना चाहिये, आचरण करना चाहिये । उनकी परम भक्ति में पूजा करनी चाहिये और तनिक भी भेद नहीं रखना चाहिये ।’

यो गुरु स शिव प्रोक्तो य शिव स गुरु स्मृत ।

तस्माद्वि श्री गुरोभक्ति भुक्तिमुक्ति प्रदायिनी ॥

(शिवपुराण)

“जो गुरु है वे शिव स्वरूप है और जो शिव है, वे गुरु स्वरूप है । इमलिए गुरु की भक्ति सब प्रकार से भुक्ति और मुक्ति भी प्रदाता होती है ।”

यस्य देवे परा भक्तिर्था देवे तथा गुरौ ।

यस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

(श्वेताश्वतर)

“भगवान मे जिसकी पराभक्ति है, जैसी भगवान मे वैसी ही गुरु मे है, उस महात्मा पर ये कथित अर्थ प्रकट होते हैं ।”

ते तर्मर्चयन्तस्त्व हि न पिता योऽस्माकविद्याया पर पारताश्वसीति । नमः परम ऋषिभ्यो नम परम ऋषिभ्य ।

(प्रश्नोपनिषद् ६८)

“भगवन् । आप हमारे सच्चे पिता (गुरु) हैं । आपने हमको अविद्या सागर से पार लगा दिया । आप जैसे परम ऋषियों को हमारा नमस्कार है—वारवार नमस्कार है ।”

गुरवो वहवस्तात शिष्यावित्ताय हारकाः ।

विरला गुरवस्ते ये शिष्य सन्ताप हारका ॥

“ऐसे गुरुओं को कभी नहीं है जो शिष्य का धन हर लेते हैं, पर शिष्य के सन्ताप हरण करने वाले गुरु विरले ही होते हैं ।”

गुरुपदेशतो ज्ञेय न ज्ञेय शास्त्र कोटिभिः ।

“योग का का रहस्य गुरु के उपदेश से ही जाना जाता है, करोड़ों ग्रन्थ पढ़ने से भी उसका ज्ञान नहीं हो सकता ।”

स्वयमाचरते यस्मादाचार स्थापयत्यापि ।

आचिनोति च शास्त्राणि आचर्यस्तेन चोच्यते ॥

(ब्रह्मारण पु०)

“जो धर्म कर्मचारादि ग्रन्थों को स्वयम् धारता करते हैं और अन्यों से कराते हैं उन समस्त शास्त्रों के ज्ञाता को आचार्य कहा जाता है ।”

गृणाति उपदिशति धर्ममिति गुरु ।

गिरत्यज्ञानमिति गुरु ।

यद्वा गीर्यते स्तूयते देवगन्धर्वादिभिरिति गुरु ॥

“धर्म का उपदेश दे तम का विनाश कर ज्ञान रूपी उघोति से जो प्रकाश में, देव, गन्धर्वादि में जो स्तुत हो, उन्हीं साक्षात् देव की सज्जा गुरु है ।”

एकाक्षरप्रदातार यो गुरुत्वावमानयेत्

श्वान योनिशत गत्वा चण्डौलत्वमवाप्नुयात् ॥

(कुनार्णव तत्र)

“एक भी अक्षर के ज्ञान के प्रदान करने वाले को पूरण गुरु मात्र में मानना चाहिये । यदि कोई ऐसे गुरु को अवमानना करते हैं तो भी

वार कुत्ते की योनि में जन्म ग्रहण करके अन्त में चग्डाल-व का प्राप्त करता है ॥”

कुलार्णव तत्र द्वादश उल्लास के अनुसार,—

न पादुकापरो मन्त्रो न देव श्रा गुरो पर ।

न हि जवितात् परा दीक्षा न पुण्य कुलपूजनात् ॥१२॥

ध्यानमूल गुरोमूर्ति पूजामूल गुरो पदम् ।

मन्त्रमूल गुरोवर्क्ष्य मोक्षमूल गुरो कृपा ॥१३॥

पादुरा म पर कोई भी मन्त्र नहीं है श्री गुरु मे पर कोई दत्र नहीं है । अकिन दीक्षा से उत्तम कोई दीक्षा नहीं है और कुल पूजन ग पर कोई पुण्य नहीं होता है ॥ १२ ॥ गुरु की मूर्ति ध्यान मूल है और गुरु के चरण पूजा मूल है । गुरु के वाक्य मत्र मन है अर्थात् मन्त्रवत् हैं । गुरु की कृपा ही मोक्ष का मूल होनी है ॥ १३ ॥

गुरुमूला क्रिया सर्वा लोकेऽपन् कुलनायिके ।

तस्मात् सेव्यो गुरुर्नित्य भिद्वयथ भवितमयुनै ॥

उपासना की समस्त क्रियाएं गुरुमूल ही होती है अर्थात् गुरु ही के द्वारा सर्वी उपासना वी पद्धति का ज्ञान होता है । हे कुलनायिके । इस लिये मिद्धि प्राप्त करन के लिए भवितयुक्त होकर मनुष्यों को गुरु की नित्य ही सेवा करनी चाहिये ॥ १४ ॥

तावदात्ति र्भय शोको लोभमोहभ्रमादय ।

यावन्नायाति शरण श्रीगुरु भक्तवत्सलम् ॥१५॥

तावद भ्रमन्ति ससारे सब दुखमलीदसा ।

न भवेत् सद्गुरी भवित यावद्वैवेशि देहिनाम् ॥१६॥

इस सनात्र मे तभी तक आत्तिजन्य भय हाता है और शोक, लाभ, मोह और भ्रम आदि होते हैं जब तक मनुष्य श्री गुरु चरण की शरणागति मे नहीं आता है क्योंकि गुरु वहुत ही भक्तों पर वत्सल अर्थात् कृपातु हाते हैं प्रोर उनकी शरण मे जाने पर मनुष्य का परम कलशण श्रवण्य ही हो जाता है ॥ १५ ॥ हे देवेशि । इस सनात्र मे सम-

स्त प्रकार के दुखो का मल तभी तक देह धारियों को घेरे रहता है और उन्हें भ्रमाता रहता है, जब तक किसी सद्गुरु मे पूर्ण भक्ति का भान समुत्पन्न नहीं होता है ॥ १६ ॥

तावदाराधयेच्छिष्य प्रसन्नोऽसौ यदा भवेत् ।

गरौ प्रसन्ने शिष्यस्य सद्य, पापक्षयो भवेत् ॥२०॥

शिष्य को तब तक अपने गुरु की सच्ची अराधना करनी चाहिये, जब तक श्री गुरुचरणा प्रसन्न न हो । जब गुरु प्रसन्न हो जाते हैं तो फिर शिष्य के पापो का तुरन्त ही क्षय हो जाता है ॥ २० ॥

ब्रह्माविष्णुमहेशदिदेवतामुनियोगिन, ।

कुर्वन्त्यनुग्रह तुष्टा गुरौ तुष्टे न सशय, ॥२१॥

जब गुरुवर पूर्णतया सन्तुष्ट एव प्रसन्न हो जाते हैं तो फिर एक मात्र गुरु की प्रसन्नता होने पर ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि देवता, मुनि और योगीगण सभी उस गुरु भक्त पर अनुग्रह किया करते हैं । इसमे तनिक भी सशय नहीं है ॥ २१ ॥

जन्म हेतू हि पितरौ पूजनीयो प्रयत्नत, ।

गुरुविषेशत पूज्यो धर्मधर्म प्रदर्शक ॥४८॥

देहधारी के माता पिता जन्म देने के कारण पूजा के योग्य होते हैं और प्रयत्नपूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिये । गुरु उनसे भी अधिक पूज्य इस लिए होते हैं कि वल धर्म तथा अधर्म का सही-ज्ञान का प्रदर्शन कराते हैं ॥४८॥

गुरोहित हि वर्त्तव्य मनोवाककायकर्मभि ।

अहिताचरणाद् देवि विष्टाया जायते क्रिमि ॥५०॥

शरीर विच्च प्राणैङ्गव्य श्रोगुरु वज्जयन्ति ये ।

क्रिमिकोटपतञ्जल्व प्राप्नुवन्ति न सशयणी, ॥५१॥

अपने गुरु के हित को मन, वाणी और शरीर के कर्मों द्वारा पूर्ण स्प से करना चाहिये । हे देवि ! जो कोई भी शिष्य किसी भी समय गुरु

के अहित करने का ग्राचरण करता हैं तो वह विष्टा का कीड़ा बनकर नरक की यातना भोगता है ॥५०॥

जरीर, घन और प्राणों के द्वारा जो कोई शिष्य अपने गुरु का वचन करता है तो वह कृमि, कीट और पत गत्व को प्राप्त होता है, इस में कोई भी सशय नहीं है ॥५१॥

अनादृत्य गुरोर्वाक्य शृणुयाद् य' पराड्मुखं ।

अहित वा हित वापि रौरव नरक व्रजेत् ॥६८

गोत्राह्यणवध कृत्वा यत्पापम् समवाप्नुयात् ।

तत् पाप सम वारनोति गुर्वग्रेऽनृतभापणात् ॥६९

गुरु के वाक्य का अनादर करके पराड्मुख होता हुआ जो कुछ भी सुनता है, चाहे वह अहितप्रद हो या अहितप्रद हो, वह मनुष्य, रौरव नरक में जाता है ॥६८॥

गौ और त्राह्यण का वध करने से जो महापाप लगता है, ठीक वैमा ही पातक गुरु के आगे मिथ्या-भापण करने से लगता है ॥६९॥

न विशेदासने देवि देवता गुरुसन्निधौ ।

गुरो सिंहासन देय ज्येष्ठानामुत्तमासनम् ।

देश्यासन रुनिष्ठानामितरेषा समासनम् ॥१०७

हे देवि । देवता और गुरु की सन्निधि में कभी आसन पर नहीं बैठना चाहिए । गुरु के बैठने के लिए सिंहासन देना चाहिए और जो भी अपने बड़े हो उनके बैठने के लिए उत्तम आसन देना चाहिए । अपन मे छोटो के लिए देश्यासन देवे और अन्यों के लिए वरावर का आसन देना चाहिए ॥१०७॥

'कुलार्णव तन्त्र' के त्रयोदश उल्लास के अनुसार—

य क्षरोनात्मसामर्थ्यं स्वशिष्याय ददाति हि ।

क्रियायासादिरहित स गुरुदेव दुर्लभ ॥१०१

जो गुरु क्रिया और आयाम से रहित अपनी सामध्य को क्षण

भर मे ही अपने शिष्य को कृपा प्रदान कर देता है, ऐसा आचार्य वस्तुत दव-दुलभ होता है अर्थात् वहूत कठिनाई से ही प्राप्त होता है ॥१०१॥

वर्णार्थमकुलाचारनिगता बहवो भुवि ।

मर्वसकल्पहीनो यं स गुरुदेवि दुर्लभ ॥१०६

ग्रोयस्यैव सम्पर्क्ति परानन्दोऽभिजायते ।

गुरु तमेन वृणुयान्नापर मतिमान्नर ॥११०

वग और आथम तथा कुल के आचार मे निर्गत सासार मे इस पृथकी पर बहुत से आचार्य प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु जो सब प्रकार से सकल्पो से रहित हो, ऐसा आचार्य देवो को भी बहुत दुर्लभ होता है ॥१०६॥

जिस गुरु के सम्पर्क प्राप्त होने से शिष्य को परमानन्द प्राप्त हो जावे, ऐसा ही गुरु वास्तव मे वरण करना चाहिए । मतिमान् व्यक्ति को अन्य आचार्य नहीं बनाना चाहिए ॥११०॥

प्रेरक सूचकश्चैव वाचको दर्शकस्तथा ।

शिक्षको वाधकश्चैव पडेते गुरव स्मृता' ॥१२८

पञ्चीते कायभूता स्यु कारण वाधको भवेत् ।

पूरणाभिपेककर्ता या गुरुस्तस्यैव पादुका ।

पूजनाया महेशानि बहुत्वेऽपि न सशय ॥१२६

था गुरु लक्षणोपेत सशयच्छेदकारकम् ।

लट्ठवा ज्ञानप्रद देवि न गुवन्तरमाथयेत् ॥१३०

प्रेरणा देने वाला, सूचना-प्रदाता, वाचक अर्थात् कहकर तत्व का बताने वाला, दशक, शिक्षा देने वाला और ज्ञान करा दने वाला—ये दो प्रकार के आचार्य बतलाये गये हैं ॥१२८॥ इनमे पौच प्रकार के आचार्य तो केवल कायभूत ही होते हैं और जो बोध करा देने वाला आचार्य होता है वह कारण सम्प होता है । जो पूरण अभिपेक बरने वाला होता है, उसी की पादुका पूजा के गोग्य होती है । हे मटशानि ।

चाहे वहुत-से आचार्य न हो, परन्तु सबमें अग्रिम महत्व बोधक-आचार्य का ही होता है ॥१२६॥ गुरु के समस्त लक्षणों से युक्त और सभयों के उच्चेद करने वाले तथा ज्ञान प्रदान करने वाले गुरु को प्राप्त कर देवि ! किर दूसरे गुरु की तलाश नहीं करनी चाहिए ॥१३०॥

तन्त्रमार मे लिखा है—

शान्तो दान्तं कुलानश्च विनीतं शुद्धवेपवान् ।

शुद्धाचारं सुप्रतिष्ठं शुचिदक्षं सुवुद्धिमान् ॥१

आश्रमो ध्याननिष्ठश्च मन्त्रतन्त्रं विशारद ।

निग्रहानुग्रहे शक्तो गुरुरित्यभिष्ठीयते ॥२

गुरु शान्तिप्रिण, दमनशील, अच्छे कुल मे समुत्पन्न विनयान्वित, शुद्ध वेप-भूषा रखने वाला, शुद्ध आचार से युक्त, अच्छी प्रतिष्ठा समाज मे रखने वाला, ध्यान मे निष्ठित, मन्त्र और तन्त्र-विद्या का पूर्ण पडित और किसी को दण्ड देने तथा कृपा करने की शक्ति रखने वाला 'गुरु' नाम का अविकारी होता है ॥१-२॥

ज्ञानारण्यं भ मे लिखा है—

गुरौ मनुष्यवुद्धिश्च मन्त्रे चाक्षरवुद्धिकाम् ।

प्रतिमासु शिलावुद्धि कुर्वण्णो नरकं ब्रजेत् ॥१

जन्महेतूं हि पितरौ पूजनीयौ प्रयत्नत ।

गुरुविशेषत पूज्यो धर्माधर्मप्रदर्शक ॥२

जो मनुष्य अपने गुरु मे मनुष्य की वुद्धि रखता है तथा देव-प्रतिमाओं मे पाषाण का एक खण्ड मात्र है—ऐसी वुद्धि रखता है, वह अवश्य ही नरक मे जाना है ॥१॥ माता-पिता जन्म देने वाले हैं अर्थात् देह को उत्पन्न करने के कारण हैं, इसलिए उनकी अवश्य ही पूर्ण प्रयत्न के पूजा करनी चाहिए । किन्तु उनसे भी अविक विशेष रूप से गुरु की अर्चना करनी चाहिए, क्योंकि 'क्या धर्म है और क्या अधर्म ?' इनका ज्ञान देकर धर्म मे प्रवृत्ति कराने वाले गुरु ही होते हैं ॥२॥

गुरु पिता गुरुमर्तिा गुरुदेवो गुरुगति ।

शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ॥३

गरु हीन न कर्तव्य वाड़मन कायकर्मभि ।

अहिताचरणादेव विष्णाया जायते कृमि ॥४

मन्त्रत्यागात् भवेन्मृत्युगुरुत्यागात् दरिद्रता ।

गुरुमन्त्रपरित्यागात् रौरव नरक ब्रजेत् ॥५

गुरु—माता, पिता, देव और गति सभी कुछ होते हैं, क्योंकि गुरु के बिना किसी प्रकार भी इस देहबारी आत्मा का कल्याण सम्भव नहीं होता है। साक्षात् शिव-देव भी नाराज हो जावें तो गुरु ही रक्षक हो सकता है, किन्तु यदि वही नाराज हो जावें तो त्रिलोकी में कूटी भी कोई त्राण करने वाला नहीं है ॥३॥ मन, वाणी और कम से गुरु का हित शिष्य को करना चाहिए। गुरु का अहिन्तकर कार्य करने पर विष्णु का कृमि बनकर जन्म लेना पड़ता है ॥४॥ मन्त्र के त्याग कर देने पर मृत्यु होती है, गुरु का त्याग कर देने से दरिद्रता होती है और गुरु तथा मन्त्र दोनों के त्याग कर देने पर रौरव नरक में जाता है ॥५॥

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मद पिता ।

तस्मान्मन्येत् सतत पितुरप्याधिक गुरुम् ॥१॥

गुरुवत् गुरुपुत्रेषु गुरुवत् तत्सुतादिषु ॥

पिता उत्पादक हैं और गुरु ज्ञान देने वाले हैं। शीर और शान उत्पादन करने से दोनों ही पिता होते हैं, किन्तु ब्रह्मदान करने वाले गुरु को पिता से भी अधिक मानना चाहिए। गुरु के समान ही उसके पुत्र तथा सुतादि में पूज्य भाव रखना चाहिए ॥१॥

श्वित्री चैव गलत्कुटी नेत्ररोगी च वामन ।

कुनखी श्यावदत श्र स्त्रीजितोऽप्याधिकागक ॥

हीनाग कर्पटी रोगी वह्नाशी वह्नजल्पक ।

एतद्वौविहीनो य स गुरु शिष्यमम्मत ॥

श्वेत और गलित कुप्ठ वाला, नेत्रों के रोग वाला, कुटिमत नखों वाला, बोना, काने दाँतों वाला, कर्पट धारण करने वाला, रोगी, बहुत प्रधिक खाने वाला, बहुत वयर्थ बोलने वाला गुरु निन्द्य होता है। अत इन दोषों से रहित ही गुरु वनाना चाहिए और ऐसा ही गुरु शिष्य सम्मत होता है।

गुरु की इस अनिवार्य महत्त्व को स्वीकार करते हुए कवीर ने गुरु को गोविन्द से भी उच्च आमन प्रदान किया—

गुरु गोविन्द दोऊ खडे, काके लाग्ँी पाय ।

बलिहारी गुरु आपनो, गोविन्द दियो वताय ॥

ऐसे गुरु की महिमा का वर्णन करना भी सम्भव नहीं है। कवीर के मशक्त शब्दों में—

सब घरती कागद करूँ, लेखनि सब वनराय ।

सात समुद्र को ममि करूँ गुरु गुन लिखा न जाय ॥

गुरु कैसे होते हैं, उनकी पहिचान और योग्यता की परख करना भी आवश्यक होता है। अब हर व्यक्ति थोड़े-से ज्ञान का अर्जन करके कान में मन्त्र फूँकने लिए उत्सुक रहता है और गुरु बनने का अपने को अविकारी समझने लगता है, परन्तु शास्त्र की आशा है कि गुरु का वरण पूरी जांत करके ही करना चाहिए। जांच के लिए शास्त्रों और सन्तों के ही आधारभूत तथ्यों का निरूपण किया है।

कवीर ने कहा है—

गुरु कुम्हार शिव कुम्भ है, गढ़ि-गढ़ि काढे खोट ।

अन्तर हाथ महार दे, वाहर बाहे चोट ॥

अर्थात् “जिस तरह कुम्हार घडा बनाते समय मिट्टी को गढ़कर एक व्यवस्थित रूप देता है, उसी तरह गुरु भी शिष्य को कुपथ से हटा कर सुन्दर सच्चे मे छाल देता है।”

अर्थात् “त्रिविद तापो से तस व्यक्तियों की जो सम्यक् रूप से विष्णु भगवान में सम्पर्क स्थापित करा देते हैं, जो पट् चक्र भेदन में कुशल है, जो पदडव (वर्ण, पद, मन्त्र, कला, भुवन) और तत्त्व के ज्ञान में पारगत हैं, पिंड कुण्डलिनी शक्ति-पद, तत्र-रूप-विन्दु और रूपातीत व्रह्म का विवेचन करने की सामर्थ्य रखते हैं। जो सध्या जप में विशेषज्ञ हैं, जो पट् चक्रों के मार्ग को जानते हैं, मत्र चैतन्य के जानकार हैं, स्वयम्भू ने इहें ही गुरु माना है। कुण्डलिनी को गति, मन्त्र, तत्र और उनके चैतन्य भाव से जो परिचित हैं, और जो मन्त्र मिद्वान्त के विधि-विधान को जानते हैं, वही वास्तविक गुरु हैं, दूसरे नहीं।”

इसकी पुष्टि ‘नवचक्रेश्वर’ तत्र में की गई है।

पिण्ड पद तथा रूप रूपातीप चतुष्टयम् ।

यो वा सम्यग् विजानाति स गुरु, परि कीर्त्तिः ॥

अर्थात् “गुरु वही है जो पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत इन चारों की जिन्हें सम्यक् रूप से जानकारी है।

गुरु गीता में कुण्डलिनी शक्ति, हम, विन्दु और निरञ्जन को इन चारों की सज्जा दी गई है।

पिण्ड कुण्डलिनी शक्ति पद हस प्रकीर्तिर्त ।

रूप विन्दुरिति ज्ञेय रूपातीत निरञ्जनम् ।

अर्थात् पिन्ड-कुण्डलिनी शक्ति-परम हम जो कहा गया है उसका रूप विन्दु जानना चाहिये। वह रूप से परे और निरञ्जन होता है।

अविद्याहृदय ग्रन्थि बन्ध मोक्षो यतो भवेत् ।

तमे व गुरुरित्याहृगुरु शब्देन योगिन ॥

(शक्राचार्य)

“जो हृदय की अविद्या ग्रन्थि को छेद कर बन्धन से छुड़ाकर मोक्ष का मार्ग दिखलावें उन्हीं को योगीजन गुरु कहते हैं।”

तत्तद्विवेक वेराज्ययुक्तवेदान्त युक्तिभि ।

सद्गुरु मे दो गुणो का होना आवश्यक माना गया है । एक, इच्छा और दूसरी किया । अनेको विद्वान् देखे जाते हैं, जिनके पास विद्या का भ ढार रहता है, परन्तु उनमे स्वार्थपरता का अवगुण विद्यमान रहता है अथवा उसके प्रसार के लिए कुछ उद्यम नहीं करते । उनका ज्ञान सड़ता रहता है । ज्ञान-प्रसार के लिए इच्छा का होना आवश्यक है । यह पर्याप्त नहीं है, उसके साथ शक्ति का समावेश होना आवश्यक है । इच्छा मे किया का योग होने पर सोने मे सुहागे का काम करता है । अतः ज्ञान-गण का स्रोत प्रवाहित करने के लिय प्राप्त पुरुष — सद्गुरु मे इच्छा और क्रियाशक्ति होनी चाहिए ।

अधिकारी गुरु के लक्षणो पर टिप्पणी करते हुए शास्त्रो मे कहा है—

दर्शनात् स्पर्शनाच्छब्दात् कृपया शिष्यदेहके ।
जनयेद् य समावेश शाम्भव स हि देशिक ॥

— योग वशिष्ठ, निर्वाण प्रकरण ११२८।१६१

अर्थात् “दर्शन, स्पर्शन, शब्द या कृपा से शिष्य के शरीर मे शिव-भाव का जो आवेश कराने की क्षमता रखते है, वही देशिक अथवा गुरु कहलाए जाने के अधिकारी हैं ।”

आवेश का अभिप्राय है कुण्डलिनी जागरण के बाद षट्चक्र भेदन और ब्रह्मरन्ध्र मे परम शिव के साथ भिलन ।

विष्णो सपकं सम्यक् त्रिविधोत्पात्कमणि ।

षट् चक्र-भेद कुशल षड्घव - ज्ञान - मारग ॥

पिण्डे पदे तथा रूपे रूपातोते विवेचक, ।

मध्यात्रयविशेषज्ञो ह्यध्वषट्क - विशोधक, ॥

मन्त्र चैतन्य विज्ञाता गुरुसक्त स्वयभुव ।

मन्त्र तन्त्रार्थ चैतन्य कुण्डलिगति वेदक, ॥

मन्त्र सिद्धान्त विधिवत् गुरुभवति न भवति न पर ।

अर्थात् “त्रिविद तापो मे तस व्यक्तियों की जो सम्यक् रूप से विष्णु भगवान् मे सम्पर्क स्थापित करा देरे हैं, जो पट् चक्र भेदन मे कुशल है, जो पदडव (वर्ण, पद, मन्त्र, कला, भूवन) और तन्त्र के ज्ञान मे पारगत है, पिण्ड कुण्डलिनी शक्ति-पद, तत्र-रूप-विन्दु और रूपातीत व्रह्म का विवेचन करने की सामर्थ्य रखते हैं। जो म-या जप मे विशेषज्ञ हैं, जो पट् चक्रों के मार्ग को जानते हैं, मन्त्र चैतन्य के जानकार हैं, स्वयम्भू ने उहें ही गुरु माना है। कुण्डलिनी को गति, मन्त्र, तत्र और उनके चैतन्य भाव से जो परिचित हैं, और जो मन्त्र मिद्दान्त के विद्वि-विधान को जानते हैं, वही वास्तविक गुरु हैं, दूसरे नहीं।”

इसकी पुष्टि ‘नवचक्रेश्वर’ तत्र मे की गई है।

पिण्ड पद तथा रूप रूपातीप चतुष्घ्रयम् ।

यो वा सम्यग् विजानाति स गुरु, परि कीर्तित, ॥

अर्थात् “गुरु वही है जो पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत इन चारों की जिन्हें सम्यक् रूप से जानकारी है।

गुरु गीता मे कुण्डलिनी शक्ति, हम, विन्दु और निरञ्जन को इन चारों की सज्जा दी गई है।

पिण्ड कुण्डलिनी शक्ति पद हस प्रकीर्तिर्त ।

रूप विन्दुरिति ज्ञेय रूपातीत निरञ्जनम् ।

अर्थात् पिण्ड-कुण्डलिनी शक्ति-परम हम जो कहा गया है उसका रूप विन्दु जानना चाहिये। वह रूप मे परे और निरञ्जन होता है।

अविद्याहृदय ग्रन्थि बन्ध मोक्षो यतो भवेत् ।

तमे व गुरुरित्याहुर्गुरु शब्देन योगिन ॥

(श कराचार्य)

“जो हृदय की अविद्या ग्रन्थि को छेद कर बन्धन से छुड़ाकर मोक्ष का मार्ग दिखलावें उन्हीं को योगीजन गुरु कहते हैं।”

तत्त्वविवेक वेराज्ययक्तवेदान्त युक्तिभि ।

श्री गुरु प्रापयत्येव न पद्ममपि पद्मताम् ।

प्रापयत्य पद्मतामेन प्रबोधयति तत्क्षणात् ॥

अर्थात् श्री गुरुदेव विवेक और वैराग्यमय वेदान्त युक्तियो सहित
प्रपञ्च को जो पद्म रूप में परिवर्तन कर देते हैं और उसे तत्क्षण जागृत
कर देते हैं ।”

य तम न्वभूतेषु विनगो वीतमत्सर ।

कर्मणा मनमा वाचा भीते चाभयद सदा ।

तम बुद्धि पद प्राप्तस्तत्रापि भगवन्मय ।

पच काल परश्चैव पाचरात्र्यवित्ताथा ।

विष्णु तत्त्व परिज्ञाय एच चानेक भेदनम् ।

दोक्षयेत्मेदिनी सर्वाङ्कि पुनश्चोपसम्भवान् ॥

(तत्त्वमार)

“जो नमन्त्र प्राणियो मे समभाव रखते हैं रागन्वेद हीन हैं,
जिन्हे नमन्त्र की प्राप्ति हो गई हैं और जो भावन्मय हो गये हैं, जो नित्य
कर्म का पालन करते हैं और वैष्णव शास्त्र का रहस्य जानते हैं, वे गुरु
एव ही विष्णु नत्व का अनेक रूपों में जान कर नारी पृथ्वी को दीक्षित
कर सकते हैं, फिर ज्ञान नमन्त्र अनिकारियों की तो वान ही क्या है ?”

श्री मद्वानुदेवानन्द सम्बती ने अपने ‘वृद्ध शिक्षा’ नामक, वेदान्त
ग्रन्थ मे लिखा है—

विद्वारद व्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरुमात्रयेत् ।

तु चौ दद्वनिक श्रोत्रोत्रिक होना आवश्यक है ।

तत्र दद्वनिक भास्कराचाय ने लिखा नहृत्रताम के भाग्य(१०) मे
रिखा है—

ग्रदोदेऽपि दोषनामापाद्य श्री गृह मूर्यो दोषयनि' श्रवति—
पदोऽपि नी दोष दनाकर श्रीगृहदेव श्री मूर्य उमेप्रवृद्ध वना देते हैं ।

मातृन् पितृन् शुद्ध, शुद्धनाचो जितेन्द्रिय ।

नर्वाग्नामा सारज्ञ नवे गास्त्राथ तत्त्ववित ।

परोपकार निरतो जप पूजादि तत्पर ।

अमोघ वचन, शान्तोवेद वेदार्थं पारग

योगमार्गानुमन्धायी देवता हृदयङ्गम् ।

इत्यादि गुण सम्पन्नो गुरुरागम सम्मत ।

—शारदातिलक

“जो अमनी माना-पिता से पैदा हो, मदाचारी हो, शुद्ध भावना वाला हो, इन्द्रियाँ जिमके वश में हो, जो समस्त शास्त्रों के सार योजानत हो, परोपकारी हो, जप-पूजा आदि उपासनाएँ में सम्मत हो, जिम की वाणी अमोघ हो, शान्त हो, वेद और वेदार्थ का पारदर्शी हो, योग-माग में जिसकी प्रगति हो, जो हृदय में देवता के समान इस प्रकार के गुण जिसके स्वभाव में हो वही शास्त्र सम्मत गुरु बनाने योग्य है ।”

सुन्दर सुमुख स्वच्छ सुलभो बहुतन्त्रवित् ।

अमग्य सशयच्छन्तिरपेक्षो गुरुमत ॥

सौन्दर्यमनवद्यत्व रूपे सुमुखता पुन, ।

स्मरेपूर्वाभिभाषित्व स्वच्छताऽजिह्ववृत्तिता ।

सौलभ्यमप्यगर्वित्व सतोषो बहुतन्त्रता ।

असशयस्तत्त्ववेद, तच्छतत्प्रतिपादनात् ॥

नैरपेक्ष्यमवित्तेच्छा गुरत्व हितवेदिता ।

एवविधो गरज्जयस्तित्वर, शिष्ययु, उद- ॥

अर्थात् गुरु की विजेपता यह है कि वह देखने में सुन्दर-सुरम्य मुख वाला-साफ आमानी से प्राप्त किए जाने वाला-बहुत से तन्त्र ग्रन्थों ज्ञाता, स्वयं सशय से रोहिन सशयों की छेदन करने वाला, किसी भी वस्तु की अपेक्षा न रखने वाला ही मुख वाला मुस्कराते हुए भाषण करने वाला शरीर एवं वस्त्रादि से स्वच्छ रहने वाला, सरल, आमानी से प्राप्त होने वाला, अजर्वी सन्तुष्ट, बहुत से यन्त्रों का ज्ञाता, सशय रहित, तत्व बोधवाला जो कि शिष्य के समक्ष तत्वाज्ञान का प्रतिपादन कर सके किसी भी अपेक्षा न रखने वाला, धनेच्छा से रहित, हित की बात जानने वाला इस प्रकार

का व्यक्ति गुरु जानना चाहिए-इन गुणगणों से रहित अन्य तो शिष्यों को दुखदायी ही होता ।

ब्रह्मनिष्ठो वेघक शक्तिपात क्षमश्च गुरु ।

“गुरु ब्रह्मनिष्ठ वेव करन वाला और शक्तिपात करने की क्षमता वाला होना चाहिए ।”

वेघ करने का अभिप्राय—षट्क्रकों के भेदन से है ।

‘निग्रहानुग्रहक्षमश्च ।’

“गुरु निग्रह और अनुग्रह की क्षमता वाला होना चाहिए ।”

शक्तिपात करने का नाम अनुग्रह और उसे रोकने का नाम निग्रह है ।

जब शक्तिपात अविक वेग से हो जाता है, तो उसके कम करने की आवश्यकता पड़ जाती है । जैसी व्यवस्था भौतिक यन्त्रों में रहती है, वैसी आध्यात्मिक क्षेत्र में भी रहती है । गुरु को शक्तिरान के वेग को कम करने की सामर्थ्य वाला होना चाहिए ।

अन्तलक्ष्यो वहिर्दृष्टि सर्वज्ञो देश शालवित् ।

आज्ञासिद्धिस्तिकालज्ञो निग्रहानुग्रहक्षम ॥

वेघको वोधक शान्त सब जीव दयाकर ।

स्वाधीनेन्द्रियमञ्चार, पद्मवर्गविजयप्रद, ॥

अग्रगण्योऽतिगम्भीर पात्रापात्रविग्रेयवित् ।

गिवविलग्नुमम साधुमनु भृष्ण भूषित, ॥

विशेषता ने परिचित हो, जिससे विष्णु और शिर मे नमस्तुद्धि हो (एक को इष्ट मानकर दूषरे के प्रति द्वेष न रखना हो), मायना रूपूरणों ने भूषित हो। वही गुरु दीजा दत के यारा कहनाता है ।"

स्त्री धनादिप्वनामक्ता दु मङ्गा ध्यमनादिपु ।
सर्वाह्मनावनन्तुष्टा निष्टु द्वा निष्टन्त्रन् ॥
अनोलुगाह्यमङ्गुच पद्मनामा विवक्षण् ।
नि मङ्गा निविक्लेष्टुच निर्गी आत्मातिवानिरु ॥
तुल्यानिन्दास्तुतिर्मानी निषेका नियमक ।
इत्यादिलक्षणापेत श्रीगुरु, कथित प्रिय ॥

अर्थात् "जो स्त्री पुनर और धनादि मे अनामक हो, दु मा और ध्यमनो मे दूर हो, जो अरन मे ती मनुग निष्टन्द और नियमित द्वेष मे ब्रतशील हो, अनोलुग, मकल्प आत्मतंड का माध्यात्मारकना, अपि वामिक, निन्दा-स्तुति म मीन (पह ममान ममन्त्रे वाला), निषेक (किसी की अपेक्षा न करन वाला), निरापह अरने आत्मवन म दूषण को नियन्त्रित करने वाला) हो, ऐसे लक्षणो म युक्त व्यक्ति ती गुरु होन की योग्यता रखता है ।"

निममो नित्यसन्तुष्ट स्वनन्त्रोऽनन्तगत्तिमान् ।
सङ्कृत्कवसनाधीर कृपालु, मिमनपूरणवाक् ॥
नित्यनैमित्तकेकाम्ये रते कर्मण्यनिन्दित ।
रागद्रेशभयक्लेपदभाहङ्कार्यजिजत ॥
स्वविद्यानुष्ठानरतो धर्मज्ञानोथदशक ।
यद्वच्छाला अमन्तुष्टो गुणदोष विभेदक, ॥

अर्थात् "जो व्यक्ति निर्भय, नित्य सन्तुष्ट स्वनन्त्र अनन्त शक्ति-जाली, मदभक्त वत्यल, वीर, कृपालु हास्यपूर्ण सुख देने वाली वासी वाला, नित्य, नैमित्तिक और अनिन्दित काम्य-कर्म मे रत, राग, द्वेष, भय, क्लेश, दम्भ, अहङ्कार मे घृन्त्य, विद्या, प्रनुष्ठान के कार्य मे व्यस्त,

धर्म व ज्ञान के अर्थ का प्रसारक, देव-इच्छा के लाभ से सनुष्ट, गुण-दोष के भेद का जानने वाला है, वही गुरु होने का अधिकारी है ।”

‘कुलार्णव तन्त्र’ सप्तदश उल्लास के अनुसार—

गुशब्दस्त्वन्धकार स्यात् रुशब्दस्तन्त्रिरोधक ।

अन्धकारनिरोवत्वात् गुरुरित्यभिधीयते ॥७

गकार सिद्धिद्र प्रोवतो रेफ पापस्य दाहक ।

उकारा विष्णुरित्युक्तस्त्रितयात्मा गुरु. पर, ॥८

“गु”—यह अन्धकार का वाचक होता है और “रु”—यह उस अन्धकार के निरोध करने के अर्थ का वाचक होता है । मनुष्य के हृदय में अज्ञान स्वरूप अन्धकार के नाश कर देने से ही ‘जुरु’—यह शब्द निष्पत्त होता है । ग-कार सिद्धि देने वाला कहा गया है और रेफ पापों को जला देने वाला होता है । उकार विष्णु भगवान् का वाचक कहा गया है । इन तीनों से निष्पत्त ‘गुरु’—यह शब्द त्रितयात्मा मन्त्रमें परम प्रगान होता है । गुरु शब्द का महत्व बहुत शर्धिक इसीलिए है कि यह अज्ञान को तथा पाप को नष्ट कर प्रकाश एवं ज्ञान की चमक दिया करता है ॥७-८॥

गृणाति उपदिशति धर्ममिति गुरु ।

“जो धर्म का उपदेश करे उन्हें गुरु कहते हैं ।”

गिरत्यज्ञान मिति गुरु,

“जो अज्ञान को दूर करें, वे गुरु हैं ।

श्रविद्या हृदय ग्रथि वन्ध मोक्षो यतो भवेत् ।

तयेव गुरुरित्यागुरु शब्देन योगिनः ।

—शङ्खगचार्य

“जो हृदय की अज्ञान ग्रन्थि को मोने, उन्हें गुरु कहते हैं ।”

निषेकादीनि कर्माणि य कर्गेति यथाविधि ।

मभावयति चान्नेन म विप्रो गुरु रुच्यते ।

“जो म्वय ऋत्यं-र्मा मे मनस्त हो और दूसरा को भी वैमी ही प्रेरणा दे, ऐसे ब्राह्मण को गुरु छहते हैं।”

महेश्वर ने म्वय गुरु के लक्षणों पर प्रकाश डाला है—

नाना विकल्प विभ्रान्ति नायन्तु कुस्ते च य ।
सदगुरु म तु वियेयो न तु स्वरप्रजल्पक ॥
अनएव महेशानि सदगुरु म शिवोदित ।
मत्यवादी मत्यशोलो गुरुभक्तो दृटव्रत ॥
स्वल्पाचाररतात्मानो दानादिशोलसयुक्त ।
कापङ्घलो भविन्यासी महावश ममुद्धव ॥
ईष्टश सदगुरुस्तस्य सगतो यत्नवान् भवेत् ।
तदेव मनसा जान्ति प्राप्नोति परम पदम् ॥

अर्थात् “नाना विकल्प और आन्तियों को नाश करने वाला ही मदगुरु होना है। केखन शास्त्र की दुहाई देने वाला ही गुरु नहीं कहलाना। इमलिए हे महेशानि! मदगुरु वह है जो मत्यवादी, गुरुभक्त, दृष्टवती, सूक्ष्म आचार वाले, आत्मरत, दानादि गुणों व शील मे सयुक्त, उत्तम वश मे उत्पन्न, कपट-लोम मे रहित हो। ऐसे लक्षणों मे युक्त गुरु की पहिचान करके वरण करना चाहिए। उनके सत्मग और कृपा मे ही शान्ति व परम पद की उपलब्धि सम्भव है।”

गुरु ईश्वरीय विभूति—

शास्त्रों का यह मत है कि ईश्वर जीव के उद्धारकर्ता होने के नाते गुरु के रूप मे म्वय अवनरित होते हैं और शिष्य के उत्थान की योजना बनाते हैं। ईश्वर गुरुओं के परम गुरु माने गये हैं। वही अनादि आचार्यं तत्व है। पातञ्जल ने भी अपने योग-सूत्रों मे इम तथ्य को स्वीकार किया है—

तन्यात्मानुग्रहामावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजन ज्ञान

अर्थात् 'ईश्वर का अपना बोई प्रयोजन नहीं होता, फिर भी कल्पप्रलय और महाप्रलय में ज्ञान और धर्म के उपदेश के माध्यम से समारी जीवों के उत्थान वी हृषि से वह आते हैं, यही उनका प्रयोजन रहता है। जीव मे उनके अनुग्रह की योग्यता होती है तभी वह अनुग्रह प्राप्त कर पाता है, यह निश्चित है।"

सच्चे आचार्य का उद्देश्य भी यही रहता है, इसलिए शास्त्र-कारों ने उसे शिवतुल्य आसन पर आसीन होने की घोषणायें की हैं। वे आचार्य को शिव-समान समझते हैं और उसी हृषि से उनकी पूजा-श्रवना करने वी मलाह देते हैं। शिव से स्वयं इसे स्वीकार किया है—

शिवोऽहमाकृतिर्देवि नर हृगगोचरो न हि ।

तस्मात् श्रीगुरुरूपेण शिष्यान रक्षनि सर्वदा ॥

"मेरी शिवरूपी आकृति मनुष्य नहीं देख सकते, इसलिए गुरु का स्वप्न धारण दरक्ष मे शिष्यों की सदैव रक्षा किया करता हूँ।"

शास्त्र की भी यही उवित है—

यस्मान्महेश्वर साक्षात् कृत्वा मानुषविग्रहम् ।

कृपया गुरु रूपेण ममा प्रोद्धरति प्रजा ॥

अर्थात् "शिव स्वयं ही मानुष विग्रह धारण करते हैं और गुरु स्वप्न मे रूपा करके माया मे निः जीवों का उद्धार करते हैं।"

इसलिये उत्तम साधक शिव के साथ एक्य स्थापित करके अपने गु— ना व्यान रखते हैं—

स्वमूढ्रानि महस्वार प कजसीन भव्ययम् ।

गुद्र म्फटिक स काशम् शरच्चन्द्र निभाननम् ॥

प्रफुल्लोन्दीवगच्छार नोत्र द्वय विराजतम् ।

शुक्लाम्बर ध र शुक्लागच्छमारव्यानु लेपनम् ॥

विभूषित इवैत मात्यै वर्णमव कर द्ववम् ।

वामागत्या यवत्या सहित स्वप्रकाशया ॥

मुग्वतोपल धारिण्या जानै मुदित मानमम् ।
जिवेनैक्य ममन्तीय ध्यायेत्परगुरु धिया ॥

— श्रतन्तफल तन्त्र

“अपने मस्तक के सहस्रश्ल कमल मे वैठे हुए अविनाशी म्बन्द्ध स्फटिक मणि के महाय कान्ति वाले, शरदकालीन चन्द्रमा के ममान मुख वाले विकमिन कमल के ममान, विजान नेत्र वाले, इवेत वस्त्र धारण करने वाले, श्वेत चन्दन धारण करने वाले, दोनो हाथो मे वराभय मुद्रा धारण किये हुए अपने प्रकाशित स्वर्ण के-से तेज से युक्त होकर ज्ञान से प्रमन्त चित्त वाले अपने परम गुरुदेव को सदाशिव के साथ एक्य समझकर उनका ध्यान करता हूँ ।”

क्योंकि शास्त्र का अनुमोदन यही है—

गिर परेमे शुक्ले दग्धशत दले के सरगते ।
पतत्रीणा तुल्ये परम शिवरूप निजगुरुम् ॥

— अनन्दाकल्प

“मस्तक मे स्थित सहस्रश्ल कमल के पत्रो पर परम शिवस्त्र अपने गुरु का स्थान जाने ।”

शिर पद्मे महादेवैस्तर्थैव परमोगुरु ।
हत्समो नास्ति देवेशि पूज्यो भुवनत्रये ॥
तदश चिन्तयेददेवि वाह्ये गुरु चतुष्टुयम् ॥

— निर्वाण तन्त्र

“मस्तक के सहस्रार पश्च मे मद्दादेव ही सर्वप्रधान गुरु हैं । है देवि । उपके समान तीनो लोको मे और कोई नही है । गुरु, परम गुरु, परमेष्ठी गुरु और परात्पर गुरु—ये चारो तर्मी शिव के अश हैं ।”

शिवरूप समास्थाय पूजा गृहणाति पार्वति ।
गुरुरूप समादाय भवपाशान्निकृत्येत ॥

मुख्यतोपन वारिण्या ज्ञानैमुद्दिन मानमम् ।
गिवेनैक्य ममुन्नीय व्यायेत्परगुरु विद्या ॥

— अनन्तफल तन्त्र

“अपने मस्तक के सहस्रदल कमल मे बैठे हुए अविनाशी श्वर्त्थ स्फटिक मणि के मट्टय कान्ति वाले, शरदकानीन चन्द्रमा के ममान मुख वाले विकिमिन कमल के ममान, विजान नेत्र वाले, श्वेत वस्त्र धारण करन वाले, श्वेत गन्त तथा श्वेत पुष्प की माला की धारण करने वाले, श्वेत चन्द्रन धारण करने वाले, दोनो हाथो मे वराभय-मुद्रा धारण किए हुए अपने प्रकाशित स्वर्ण के-मे तेज मे युक्त होकर ज्ञान से प्रमन्न चित्त वाले अपने परम गुरुशेव को सदाशिव के माय एव्य समझकर उनका ध्यान करता हूँ ।”

क्योंकि शास्त्र का अनुमोदन यही है—

शिर परेमे शुक्ले दग्धत दले के मरगते ।
पतत्रीणा तुल्ये परम गिवरूप निजगुरुम् ॥

— अनन्दाकल्प

“मस्तक मे स्थित सहस्रदल कमल के पत्रो पर परम शिवरूप अपने गुरु का स्थान जाने ।”

शिर पद्मे महादेवैस्तथैव परमोगुरु ।
दत्तसमो नास्ति देवेनि पूजयो भुवनत्रये ॥
तदग चिन्तयेददेवि वाह्ये गुरु चतुष्पुर्यम् ॥

— निर्वाण तन्त्र

“मस्तक के महस्तांग पद्म मे महाशेव ही मर्वप्रधान गुरु हैं । हे देवि ! उपके स्मान तीनो लोको मे और कोई नही है । गुरु, परम गुरु, परमेष्ठी गुरु और परात्पर गुरु—ये चारो उमी शिव के अश हैं ।”

शिवरूप समास्थाय पूजा गृहणाति पार्वति ।

गुरुरूप समादाय भवपाशाभ्निकृत्येत ॥

स्वानुग्रहकर्ता त्वादीश्वर, करुणानिधि ।
आचार्यरूपमास्थाय दीक्षया म क्षयेत पश्चौन् ॥

हे पार्वती ! शिवरूप मे वह पूजा को ग्रहण करते हैं और गुरु के रूप मे भद्र-वन्दनो को काटते हैं । सब पर अनुग्रह करने वाले करुणानिधि ईश्वर ही आचार्य रूप ग्रहण करके दीक्षा देकर जीव को मोक्ष दिलाते हैं ।

तभी आन्तर गुरु की श्रेष्ठता को शास्त्र ने स्वीकार किया है । उनका यह विश्वाम है कि आन्तर गुरु प्रत्येक जीव के हृदय मे अन्तर्यामी रूप से निवास करता है । इसलिए गुरु के इस स्वरूप को निराकार और चैतन्यमय कहा गया है । उन्हे सच्चिदानन्द स्वरूप भी माना जाता है ।

तत्त्व-साधना मे गुरु की परम आवश्यकता का आधार उपरोक्त युक्तियाँ ही है । गुरु विना तत्त्व-मार्ग मे गति असम्भव ही है । अत तत्त्व-साधक को चाहिए कि वह अविकारी तान्त्रिक को गुरु वरण करे ।

तन्त्र के विभिन्न अर्थ और लक्षण

तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार से है—काशिकावृत्ति में ‘तनु विष्णारे’ धातुमें ग्रीणादिक ध्रुव (मर्वधातुभ्यः, ध्रुव, उणादि सूत्र ६०८) के योग से बना है।

तन्मते विस्तायते ज्ञान मनेन इति तन्त्रम् ।

“तन्त्र उसे कहते हैं जिसके माध्यम से ज्ञान का प्रसार हो ।”

कापिक आगम के अनुसार—

तनोति विपुलानर्थान् तन्त्र मन्त्र समन्वितान् ।

त्राण च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यमिधीयते ॥

‘तन्त्र का व्यापक अर्थ शास्त्र, मिद्धात, अनुष्ठान, विज्ञान और विज्ञान मन्त्रन्धी ग्रन्थी से अभिहित किया गया है ।’

सर जान वुडरफ के अनुसार “तन्त्र वह है जो ईश्वरप्राप्ति, द्विव्यगति तक पहुँचने के लिए आवश्यक आचार-विचार का प्रतिपादन करे ।”

शङ्कुराचाय ने सार्व दर्शन को भी तन्त्र नाम से ही सम्बोधित किया है—

स्मृतिवच तन्त्र ख्या परमपि प्रणीता ।

—शङ्कुरभाष्य २।१।१

“तन्त्र का श्रद्ध शिवमुखोक्त शास्त्र भी किया जाता है । यह आगम, यामल और तन्त्र तीन नामों से स्मरण किए जाते हैं ।

बराही तत्र तो तन्त्रो को वेद के छ श्रङ्खो मे से एक 'कल्प' मानता है—

कल्पश्चतुर्विधं प्रोक्तं आगमो डामरस्तथा ।

यामलश्च तथा तेषा भेदा प्रथक् प्रथक् ॥

अर्थात्—कल्प चार प्रकार का बताया गया है । आगम तथा डामर है उसी भाँति यामल का है । उनके प्रथक्-प्रथक् भेद होते हैं ।

तत्र का अभिप्राय है, वह शास्त्र जिससे सासारिक व पारलौकिक ज्ञान का विस्तार हो, जिससे चतुर्वर्ग की प्राप्ति ही । इन महान् उपलब्धियों के लिए जो यन्त्र-मत्रादि सहित एक विशेष पद्धति का निर्देश करते हैं वे तन्त्र हैं ।

वाचस्पति मिश्र के द्वारा 'तत्त्ववैशारदी' १।७ मे इस प्रकार व्याख्या हुई है—

आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनि श्रेय-सोपाया म आगम ।

इनके अनुसार तन्त्र उस शास्त्र को कहते हैं, जिससे भोग और मोक्ष के उपायों का बुद्धि मे अवतरण हो—

तत्र का एक अर्थ है—सबमे रमण करने वाला व्यापक तन्तु या सूत्र । यह ऐसा सूत्र है, जिसमे सभी प्रकार के भाव माला के मनको की तरह एक साथ गुथे हुए हैं—

'सूत्रे मणिगणा इव'

अर्थात् 'जिस प्रकार से घागे मे मणि आदि का पिरो दिया जाता है ।'

म० म० डा० गोरीनाथ कविराज ने इसकी इस प्रकार व्याख्या की है—

"वेद की भाँति तत्र-क्रम भी बोधात्मक और वागात्मक ही है । शिव मे समवेता शक्ति के दो रूप हैं—ज्ञान एव क्रिया । ज्ञान रूपिणी शक्ति पर और अपर भेद से द्विविध है । परज्ञान बोधात्मक और

अपर-ज्ञान वागात्मक है। वागात्मनु ज्ञान शास्त्रहृषि में प्रतिष्ठित है। वोधात्मक परज्ञान वागात्मक अपरज्ञान शब्द पर आस्था होकर अर्थ-प्रकाश में प्रवृत्त होता है। सात्वत-महिता में परपान को शिव की माक्षात् शक्ति और अपरज्ञान को तन्त्र कहा है।”

श्री नर्मदाशकर देवशकर मेहरा ने इसका इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है—

“श्रीनक्षान पूर्ण होने के बाद उसके अनुमन्त्रान में श्रागम ग्रंथों का आविर्भाव हम्रा है। छादोग्र उपनिषद् में पञ्चमृत विद्या का वर्णन है। उसमें सूर्यविम्ब को देवमधु सज्जा दी मई है और वह अपनी पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओं की किरणों द्वारा ब्रह्माड में मधुरस का प्रभरण करता है। पूर्व दिशा की किरणें ऋग्वेद रूपी पुष्प का रस खीचती हैं और उसमें से जो मधु उत्पन्न होता है उसमें वसु देवता अग्नि द्वारा तृप्त होते हैं। दक्षिण दिशा को किरणें यजुर्वेद के पुष्परस को चूमती हैं और उसमें उत्पन्न अमृत से रुद्र देवता इन्द्र द्वारा पुष्ट होते हैं। पश्चिम दिशा की किरणें सामवेद के पुष्प का रस खीचती हैं और उसके अमृत से आदित्य देवता वरुण द्वारा तृप्त होते हैं और उत्तर दिशा की किरणें अर्थर्ववेद के पुष्पों के मार को खीचती हैं और उसके अमृत से मरुत देवता सोम द्वारा पुष्ट होते हैं। विद्यारूपी अमृत अश्वा मधु के आवार पुष्प ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अर्थर्ववेद में अवमित्त हैं और उनके सार को भगवान् सूय अपने विम्ब में खीचकर उससे वसु रुद्र, आदित्य और मरुत—इन देवताओं के गण अनुक्रम से अग्नि, इन्द्र, वरुण और सोम—इन चार अध्यक्षों द्वारा मधुरम भोगकर तृप्त होते हैं। इन चार मुखों के रूपक वाले ब्रह्मदेव को चारों वेदों का प्रवर्तक माना गया है। परन्तु उसी उपनिषद् में सूयं के ऊर्ध्वमुख का वर्णन है। उसकी किरणें परोरजा कहलाती हैं, क्योंकि उसमें रजस् अर्थात् रजोगुण या राग का स्पर्श नहीं है। उसकी किरणे ‘गुह्य आदेश’

को खीचती हैं और उसे ब्रह्मनन्द के पुष्प में से खीचती है तथा उसका जो मधु होता है उसे प्रणव द्वारा माध्य देवता अर्थात् सिद्धजन भोगते हैं। इस 'गुह्य आदेश को, आगम कहते हैं।"

एक अनुभवी तात्रिक विमलानन्द स्वामी का कहना है कि तन्त्र द्वारा ही ब्रह्मविद्या का रहस्योदयाटन चारों युगों में हुआ है। सत्युग में जब देवताओं के लिए सकाम कर्मों का बाहुल्य था, तो हेमवती उमा के रूप में इन्द्रादि देवताओं के समक्ष प्रकट हुई थी, अम्भृण मुनि की पुत्री को वाक्सूक्त में अवतरित हुई थी। त्रेता में जब पशु-यज्ञों का विस्तार हुआ तो परशुराम, जनक, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि के द्वारा प्रकट हुई। द्वापर में यह भगवान् कृष्ण द्वारा आविभवि में आई। कलि में तो दुर्गा पूजा व अनेक प्रकार के व्रतों में तन्त्र का समावेश प्रतीत होता है।

पात्रती में शिव ने कहा—

सह सप्त सहस्राणि तन्त्राण्याहुर्वरानने ।

अर्थात् "हे वरानने! सात-मात् सहस्र तन्त्र कहे गये हैं।"

साधारणत टोटकों को भी तन्त्र माना जाता है। यह तन्त्र-ज्ञान के अभाव का ही कारण है।

तन्त्र उन ग्रन्थों को भी कहते हैं जिनमें साधना के पाँचों अगो—
१ पटल, २ पद्धति, ३ कवच, ४ सहस्रनाम, ५ स्तोत्र का प्रतिपादन हो, जिनमें देवी-देवताओं के स्वरूप, गुण, कर्म आदि के चित्तन योग्य उद्दगार उपलब्ध हो और इन मन्त्रों को हविर्यज्ञ में अवस्थित करके ध्यान की विधि बताई गई हो।

वाग्ही तन्त्र के अनुमार -

सृष्टिश्च प्रलयश्च देवताना तथार्चनम् ।

साधन चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च ॥

षट्कर्म साधन चैव ध्यानयोगश्रुतुविधि ।

सप्तभिर्लक्षणैयुक्तमागम तद्विदुर्बधा ॥

तन्त्र उमे कहने हैं जिनमे नृष्टि, प्रलय, देवपूजन, मर्वमाध्वन, पुरञ्चरण, पट्कर्म माध्वन और चार प्रकार के व्यान महिन सान प्रकार के लक्षण हो ।

शास्त्रो मे तन्त्रो के लक्षण इम प्रकार वर्णित किए गए हैं—

सर्गच्च प्रतिमर्गच्च तन्त्रनिर्गंय एव च ।

देवतानञ्च स्थान तीर्थानाच्चैव वणनम् ॥

तथैत्राऽत्रम घम्मश्च विप्रमस्थान मेव च ।

सम्यान चैव भृताना यन्त्राणाऽच्चैव निर्गंय ॥

उत्पत्तिविवृद्धाऽच्च तस्या कल्पमन्त्रितम् ।

सस्थान ज्योतिपाऽच्चैव पुराणाख्यानमेव च ॥

कोपस्य कथन चैव ब्रताना परिभाणणम् ।

शौचाऽशौचस्य चाऽख्यान नरकाणाऽच्च वर्णनम् ॥

सगुणोपासना दिव्या पञ्चतत्त्वविभेदत ।

चतुष्टयेन भेदेन ब्रह्मणे व्यानधारणे ॥

मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा ।

उपामनाविधि सम्यगीञ्चरस्य परमात्मन ॥

मसाना ज्ञानभूमीना जास्त्रोक्ताना विगेपत ।

ज्ञानस्य चाऽविकारास्त्रोन्भावतात्पर्यलक्ष्यत ॥

तन्त्रेषु च पुराणेषु भाषायात्रिविद्वा स्मृतिम् ।

वेदस्य पदञ्जानि उपवेदचतुष्टयम् ॥

प्रेततत्त्व पितृतत्त्व लोकतत्त्व वरानने ।

जीवतत्त्व ज्ञानतत्त्व कर्मतत्त्व गुभाशुभम् ॥

रसायन रससिद्धि जपसिद्धि तप परम् ।

दैव रहस्य अक्तिश्च निष्ठेपदेवपूजिताम् ॥

हरचक्रस्य चाख्यान स्त्रीषु मोहचैव लक्षणम् ।

राजवर्म्मो दानघर्म्मो युगवर्मस्तथैव च ॥

ध्यवहार कथ्यते च तथा चाऽहृष्यात्म वर्णनम् ।

इत्यादिलक्षणीयुर्त्क तन्त्रशास्त्र विदुबुद्धा ॥

सृष्टि, प्रलय, तन्त्र-निर्णय, देवीसृष्टि का प्रसार, तीर्थ, ब्रह्मचर्यादि, आश्रम धर्म, ब्राह्मणादि वर्ण धर्म, जीवसृष्टि का प्रसार, मन्त्र, देवोत्पत्ति, औषधि कल्प, ग्रह-नक्षत्रादि स्थान, पुराण कथाएँ, कोप, व्रत, शौचाशौच, नरक, आकाशादि पांच तत्वों के अधिकार के अनुसार पांच प्रकार की सगुण साधना, चार प्रकार का ध्यान और धारणा, मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग, ईश्वर-प्राप्ति के उपाय सात दर्जनशास्त्रों की सात ज्ञानभूमि का रहस्य, नीन भावों का लक्ष्य, तन्त्र और पुराणों की तीन तरह की भाषा का विवरण, वेद के छ अग, चारों उपवेद, प्रेततत्त्व, पितृतत्त्व, चतुर्दश लोकतत्त्व, जीवतत्त्व, ज्ञानतत्त्व, शुभाशुभ कर्मतत्त्व, रसायन शास्त्र, रसायन सिद्धि, जपसिद्धि, उत्कृष्ट तपसिद्धि, दैवी जगत से सम्बन्ध रखने वाले रहस्य, समस्त देवताओं द्वारा पूजित शक्ति का विवेचन, चक्र, स्त्री-पुरुष लक्षण, राजधर्म, दानधर्म, व्यवहार-नीति, आत्मा-अनात्मा आदि विषयों का विवेचन जिन शास्त्रों में उपचरण होता हो, वे तन्त्रशास्त्र कहे जाते हैं ।

भारतीय स्कृति के प्रमुख अग हैं—निगम और आगम । निगम—वेद में ज्ञान, कर्म और साधना का विवेचन है । आगम—तत्र में इनकी साधन प्रणाली का विवरण प्राप्त होता है । उदाहरण के लिए अद्वैत वेदान्त में अद्वैत तत्त्व के सिद्धात को सिद्ध किया गया है तो शाक्त आगमों में इसकी व्यवहारिक उपासना का निरूपण है ।

स्वच्छन्द तन्त्र पटल श्लोक ३८० में ‘आगम’ शब्द की परिभाषा करते हुए लिखा है—

आगमो ज्ञानमित्युक्तभनन्ता शास्त्रकोट्य ।

अर्थात्—आगम को ज्ञान कहा गया है और शास्त्रों की कोटियाँ तो अनन्त हैं ।

गोता के अनुपार—

मात्रास्पदजीर्मस्तुक्तितेय गीतोऽगामुयदुखदा, ।

आगमापायिनोऽनित्यास्त्राम्नितिक्षम्ब भाग्न ॥

—१५१२

अर्थात् ‘हे नीनेय ! तत्त्वानांशो जा जो मार्ग अर्थात् सम्पर्क हैं वह जीत-उषण, सुख और दुख देने वाला होता है । हे भाग्न ! उत्त आगमायियों तथा अनित्यों को महन करा ।’

वचस्पति मिथ ने तत्त्व वैशाखी मे कहा है—

आगच्छन्ति वुद्धिमा-होहन्ति यग्मादक्षयुदयनि श्रेयमोपाया स आगम ॥

अर्थात् “आते हैं अर्थात् वुद्धि का आरोहण करने हैं तिमम अस्युदय एव नि श्रेयम के उपाय होते हैं, वह आगम है ।”

शिव के पाँच मुरों मे मे एक ईशान है । इसमे जो गुद्ध आदेव निकलते हैं, उन्हें आगम की मत्रा दी गई है । इसी माथी स्वच्छ तत्त्व मे है—

मन्त्राख्य तु महाज्ञानमोगनात्तु विनिर्गतम् ।

सद्योजातस्तु ऋग्वेदो वामदेवो यजु मृत ।

अधोर सामवेदस्तु पुरुषोऽयव उच्यते ।

ईशानश्च सुरथ्रेष्ठ, सवविद्यात्मक स्मृत ।

अर्थात् “मन्त्र नाम वाला महाज्ञान ईशान स हो विनगत हुआ है । ऋग्वेद सद्योजात है और यजु वामदेव कहा गया है । सामवेद अधोर है, अथर्व पुरुष कहा जाता है । ईशान सब मुरों मे श्रेष्ठ है आर सर्व विद्याओं का स्वरूप कहा गया है ।

इसी बात को रुद्रयामन मे इस प्रकार कहा गया है—

आगत शिववक्त्रेभ्यो गतठच गिरजानने ।

मगतठच हृदयाम्भोजे तस्मादागम उच्यते ॥

अर्थ—“शिव के मुंहो से आया है और गिरिजा के आनंद में गया है। हृदय-कमल में निमग्न है, इसी से आगम कहा जाता है।”

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा खिरूति विमर्शिनी में आगम का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—

सर्वथा अनुमाने न आश्वपितव्यम् ।

अपि तु आगम एव, स च यो यस्य हृदये

निरूढिसुपगतः स एव ॥

ननु एव यस्य न किञ्चन्निरूढः, तस्य किम् ।

ननु एव यस्य चक्षुषी न स्त, तस्य किम् ?

अर्थ—“सर्वथा अनुमान में आश्वासन नहीं करना चाहिए बल्कि आगम में ही करे, और वह योग के हृदय में निरूढि को उपगत हुआ है वही है। क्यों जी, इस प्रकार से जिसका कुछ भी निरूढ़ नहीं है, उसका क्या है? क्यों जी, इस प्रकार से जिसके चक्षु नहीं है उसका क्या है?”

वेद को भी आगम की सज्जा दी गई है। स्नवचितामणि (६६) के अनुसार—

नुमस्त्वा ऋग्यजु साम्ना शुक्रतं परतः परम् ।

यस्य वेदात्मिकाज्ञेयमहो गम्भीरसुन्दरी ॥

अर्थ—‘ऋक्, यजु और साम का शुक्र से, पर से पर आपको नमस्कार करते हैं। जिसका ज्ञेय वेदात्मक ही है। गृहे, गन्तव्य सुन्दरी ॥

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा खिरूति विमर्शिनी में भी कहा है—

ऋगादोना शुक्र मार वोयं वाक्त्रय पुर्वं व्याख्यातमिच्छादिगत्क्तिव्रयमय ततो यत्तर परशक्तियात्मकमानदवाम, तत्त पर समस्त शब्दितप्रतिष्ठारूपपरमशक्तिं विश्रान्तिधामं तत् तुम् । अहो, इति गम्भीर्यन्त्र सोन्दर्पंस्य च ग्रतिग्रथ द्योतयन्

अध्यात्माधिभूताविदेवादि द्विषयाथमहस्यर्भत्वमाचक्षाण
सर्वागमाविसवादिता वेदागमस्य आह ॥

अर्थ—“ऋग्वेद का शुक्र साग्रहीर्य है। वाक्य पूर्वमे व्याख्यात हो गया है जो इन्द्रादि त्रीयन्तियों मे पूर्ण है। इसके पश्चात् जो यह परशक्ति अध्यात्मक आनन्दनाम है। उसमे भी पर ममस्त यक्ति प्रनिष्ठा न्यप परम यक्ति का विद्याम प्राप्त है, उसका प्रणाम करते हैं। अहो ! इसम गाम्भीर्य गो सौर्य का अतिशय द्वीतित करते हुए अध्यात्म, आधिभूत, आविद्व आदि विषयों के महत्वों का मत्य मे रहना कहते हुए ममस्त आगमों की अविसवादिता वेदागम की कहते हैं।”

ब्रह्माणमन के अनुमार—

तत्त्वकृत्तत्त्वमम्पूज्या तत्त्वेणो तत्त्वममत्ता ।

तत्त्वेणा तत्त्ववित्तत्त्वमाध्या तत्त्वम्बहुपिणी ॥

अर्थ—न त्रों के करने वाली—तत्त्वों के द्वारा मम्पूज्य तत्त्व की म्वामिनी, तत्त्वा से मुममत, तत्त्वेणा, तत्त्व की वेजा, तत्त्व मे प्रमाध्य और तत्त्व म्बल्लप वाली है

प्र० आ० तत्त्वानोक टीका मे कहा गया है—

तत्त्व जज्ञो रुद्रशिवभैरवाख्यमिदं त्रिधा ।

वम्तुता हि त्रिवैवेय ज्ञानमत्ता विजूम्भते ।

भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिनः ॥

अर्थ—यह तत्त्व रुद्र, शिव और मैरव नाम वाला तीन प्रकार का ममुत्पन्न हुआ है। वाम्नव मे यह तीनो प्रकार मे ज्ञातसत्ता विजूम्भत होनी है, भेद मे—भेदाभेद म और उसी भाँति अभेदभागी होने से तीन भेद हैं।

याक्यवल्क्य स्मृति के अनुमार—

द्वौ दैवे प्राक् त्रयं पित्र्ये उदगेकैकमेव वा ।

मातामहानामप्येव तत्त्व वा वैश्वदेविकम् ॥

अर्थ—देवकर्म मे दो, विश्वकर्म मे तीन, अ यो को एक-एक ही उदकाञ्जनि होतो है। मातामहो की भी इसी प्रकार से होती है अथवा वैश्वदेविक तन्त्र है।

कात्यायन श्रोत-सूत्र (१।७।१) के अनुसार—

कर्मणा युगपदभाव तन्त्रम् ।

अर्थ—कर्मों का जो युगपत् भाव है वह तन्त्र है।

ऋग्वेद मे १०।७।६ मे तन्त्र का उल्लेख हुआ है—

इमे ये नावडि न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासी न सुतेकराम ।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्र तन्वते अप्रजज्ञया ॥

अर्थ—इस लोक मे पुरुष वेद के जानने वाले ब्राह्मणों और पारलौकिक देवताओं के सहित यज्ञादि कर्मों को नहीं करते। जो भूति नहीं करते और न सोम याग की ही इच्छा करते हैं, वे पाप के चंगुल मे फॅमकर मूर्खों के समान वेवल लोक व्यवहार के द्वारा हल चलाने मे चतुर होते हैं।

यजुर्वेद ३।८।१२ मे तन्त्र का अर्थ सूर्य के अर्थ मे हुआ है—

तन्त्रायिणे नमाद्यावापृथ्वीभ्याम ।

“सूर्य और द्यावा पृथ्वी को नमस्कार है ।”

यहाँ कालचक्र को तन्त्र माना है, तभी सूर्य को तत्रायी शब्द से अभिहित किया गया है—

आश्वनाय श्रोत सूत्र १।१।३ के अनुसार---

दर्शपूरणमासी तु पूर्वं व्याख्यास्याम तन्त्रस्य तन्त्रमनातत्वात् ।

अर्थ—दर्श और १।१।३ गमों की पूर्व मे व्याख्या करेगे क्योंकि तन्त्र का वहाँ पर आम्ना तत्त्व होना है।

वाचस्पत्यम् पृष्ठ ३२२५ मे तन्त्र के अनेको अर्थ इस प्रकार दिए गये हैं—

१ प्रवन्त्र २ राष्ट्र ३ गृह ४ घन ५ कुल ६ हेतु ६ स्वराष्ट्र

चिन्ना द प्राप्ति ६ और ग्री १० मिद्दान ११ परिवार के पालन-पोषण अदिकार्य १२ परिवर्तु इ १३ न तु गाय १४ वेद शास्त्र भेद १५ वयन साप्तन १६ इने इन यन्त्र १७ शिवादि शास्त्र भेद १८ उभयार्थक प्रयोग १९ जन्म २० परन्द्रन्दानुपासन ।

वेद वीर—

तन्त्रे कालचक्र गादि निरन्तर गच्छन्ति तन्त्रायी तस्मै आदित्याय नमाऽम्नु । 'एष व तन्त्रायी य एष तन्त्र्येष होमांल्लोकास्तन्त्र मवानुन चरति ।'

अथात् तन्त्र मे वातचल तिरंतर जाता है, उप तन्त्रायी आदित्य के तिर नमम्नार है यह निरचय ही तन्त्रायी है, जो यह तपता है । यह इन नोकों का तन्त्र वी तह ह अनुमत्रण करता है ।"

कर्त्त्वार्थ के यन्त्रार—

यत्र प्रवान नर्मगा गुग पद्मभाव मह प्रयोग तत्र आरादृप कार छाण अङ्गाना तन्त्र सकृदनुष्ठान भवति । न प्रतिप्रवान पृथक्-पृथक्, यदि मकृतकृत वहना उपकरणि नत्त त्रमि युन्यते यथा वहना मध्ये कृत प्रदीपा ।

अर्थात् 'जहाँ पर प्रवान कर्मों का युगपद्मभाव है, महप्रयोग है वहाँ पर यमाप मे उपकार को अगों का तन्त्र मकृत् अनुष्ठान होता है । प्रतिप्रवान पृथक्-पृथक् नहीं है । यदि एक वार किया हुआ वहनों का उपकार करता है वह तत्र—यह कहा जाता है । जिस प्रकार मे वहनों के मन्य मे किया हुआ प्रदीप है ।

'मत और यातृकाओं का रहस्य' पुस्तक के लेखक ने तत्र की व्याख्या इस प्रकार भी है—

"वन्नुत भावी विश्व की सूक्ष्म त्या-रेखा जहाँ बनती है—तानी जाती है वह सूक्ष्माकृति ममान्त, अमेद स्प वस्तु-तृत्व ही तन्त्र है । अनन्तर वही वस्तु तत्र, जब कुछ पूर्व दशा मे उन्मिपित होता है तत्र भेद और अभेद रूप को प्राप्त करके भावी प्रसार अथवा फैलाव का मध्यावस्थात्मक ठाठ या तन्त्र कहलाया है और भेदात्मक पूरण प्रसार तो तन्त्र है ही इस प्रकार तन्त्र की त्रिवा म्यति ही सुम्भव है ।" ०००

तंत्रे का सिद्धान्ति

शक्ति-तत्त्व को व्याख्या—

ब्रह्म की क्रिया और उसकी सक्रिय अवस्था को शक्ति कहते हैं। ब्रह्म का ब्रह्मत्व उसकी शक्ति है। जड़ का जड़त्व भी उसकी शक्ति है। सत् का सत्पना भी उसकी शक्ति है। ससार में जितने भी जड़ और चेतन पदार्थ दिखाई देते हैं, उनके अस्तित्व में शक्ति ही है। शक्ति के कारण ही वे बने रह सकते हैं। इमलिए शक्ति को विश्वमय और विश्व का आधार माना जाता है। चारों ओर हमें ज्ञाति के ही चमत्कार दिखाई देते हैं, स्त्रष्टि की सारी क्रियाएँ शक्ति के सहारे होती हैं—हमारे शरीर, इद्रियों और मन का सचालन भी शक्ति के कृपा-प्रसाद से होता है। जल, वायु, अग्नि की समस्त क्रियाओं में भी शक्ति श्रोत-प्रोत है। जगत् की छोटी-से-छोटी क्रिया में शक्ति का हाथ है। उसकी आज्ञा के बिना एक पत्ता भी हिल नहीं सकता। ब्रह्म में जो सत्, चित् और आनन्द आदि के गुण पाए जाते हैं, उसका मूल-स्रोत भी शक्ति ही है। ब्रह्म तो निविकार है, वह कुछ नहीं करता, क्रियाशीलता का श्रेय तो शक्ति को ही है। वही सर्वस्व है। उसी के बल पर हम सोचते देखते, बोलते व समस्त कार्य करते हैं। जानने, समझने, सुनने, स्पर्श करने आदि की सारी क्रियाएँ उसी के कारण होती हैं। इस शरीर के सचालन के लिए जिन वस्तुओं की प्रावश्यकता रहती है, उनकी उत्पत्ति भी उसी से होती है, प्राणों का सचार भी वही करती है। आकर्षण शक्ति, विद्युतशक्ति और चिन्तन शक्ति आदि सभी को शक्ति का साकार

रूप कहा जा सकता है। चारों ओर शक्ति का ही खेन है, प्रह्लाद इसके बिना कुछ भी करने में अमर्य है। जिव शक्ति के बिना गत बन जात है। श्री अङ्गात्म रामायण में सीआजी ने हनुमानजी से कहा है कि भगवान् गम तो कुछ नहीं करते, अवतार की समस्त लालाएँ तो मैंन ही की हैं।

ईश्वर ने यह सकलता किया कि 'एकोऽहं वहृःगाम्'—मैं एक हूँ, वहृन हो जाऊँ—प्रह्लाद के इसी सकलता अथवा इच्छा को आद्याशक्ति व महाविद्या की सज्जा दी जाती है। इसी को आदशक्ति, आदिपाया, महेश्वरी, परमेश्वरी, मूल प्रकृति, जगदीश्वरी, परगाक्ति, माया, महामाया, कुण्डलिनी कहा जाता है। कानी, नवदुर्गा, नवशक्ति, महाकानी, महालक्ष्मी, महामरस्वती भी उस शक्ति के द्वी व्यवन रूप हैं।

मूल प्रकृति अव्यक्त रूप में रहती हैं जो इप सपार का मूल मानी जाती हैं। इसमें चेन्न शक्ति अव्यक्त रूप में ही निवास करती है। वह जब शरीर के शक्ति-केन्द्रों में प्रवेश करती है, तो उसके भिन्न-भिन्न रूप हो जाते हैं। मूलाधार चक्र से आकर वह 'डाकिनी', श्व विष्णुन चक्र के 'राकिनी', मणिगुरु चक्र में 'लाकिनी', अनाहत चक्र में 'काकिनी' और विशुद्ध चक्र में 'शाकिनी' का रूप ग्रहण करती है।

शक्ति के व्यक्त होने के माध्यम हैं, प्रकृति के तीन गुण—सत्, रज और तम। वह पृथ्वी, जन, वायु, तेज और आकाश को अपना साधन बनाती है। इन पाँच तत्त्वों में जब मन, बुद्धि और अहकार सम्मिलित हो जाते हैं, तब वह जड़ अथवा प्रकृति कहलाती है। यह छोटे स्तर की है। ऊँचे स्तर की परा-प्रकृति है, जिसे आत्मा रूप और क्षेत्रज्ञ कहते हैं, यह चैन्य प्रकृति है। यही सपार के अणु अणु में व्याप्त है, जीवधारियों के जीवन की आधारशिला यही है।

एक विद्वान् ने इसे बड़े सु दर रूप में व्यक्त किया है—

"भारतीय दर्शन में शक्ति का स्वल्प वहृन ही दिव्य, वहृन ही उदात्त है। शक्ति ही विश्व का मृजन करती है, शक्ति ही उसका

सचालन करती है और शक्ति ही सहार करती है। शक्ति ही सृष्टि का आदि कारण है। शक्ति ही वह परम तत्त्व है, जिसमें इम मिथ्या जगत की उत्पत्ति हुई है। जड़ प्रकृति के पूर्व भी शक्ति थी और शक्ति की इच्छा से ही भौतिक जगत की सृष्टि हुई। इसलिए शक्ति-शशन में न तो ईश्वरवाद है, न दबी देवता है और न है पञ्चमकार ही। यह तो विशुद्ध अद्वैतवाद है जिसमें आत्मा को प्रकृति के परे माना गया है।”

शक्ति का वास्तविक रूप—

विद्या शक्ति को हिन्दू धर्म में जगज्जननी स्वीकार करके दुर्गा काली, भवानी आदि अलग अलग रूपों और नामों में पूजा जाता है। वही पार्वती हैं। इन्हे हिमालय की पत्नी मनका भी पुत्री कहा जाता है। वैदिक ऋषि निघण्डु में ‘मेना’ और ‘मेनका’ का अथ ‘वाणी’ और ‘पर्वत’, ‘गिरि’ का अथ ‘मेघ’ बताया गया है। माता वच्चे का पालन-पोषण दूध से करती है। जग-माता जलहरी दूध से प्राणियों की तृप्ति करती है। इस काय में मेघ भी सहायता दता है। वह विता की भूमिका का अभिनय करता है। पार्वती और गिरिजा शब्दों के प्रचलन का भी यही अभिप्राय है। निष्ठन में हिमालय का भी मेघ कहा गया है ‘हिमेन उदरकन’ (नि० अ० ६)।

दुर्गा दुर्गति का नाश करने वाली बताई जाती है। यह विना शक्ति के सम्भव नहीं। इसीलिए शक्ति-मग्नाट सिंह को उनका वाइन माना गया दें। वह स्वयं शक्तिष्पाता है, वह शक्ति को अपन नियन्त्रण में रखनी है, उभी तो आमुरी शक्तियों के विनाश की सामर्थ्य रखती हैं। मात्रारेडेय पुराण के अनुमार जब वह राक्षसों के माथ युद्ध करती हैं, तो मद्यपान करती है। मद्य का अथ अहङ्कार है। वह अहङ्कार शून्य होकर सघष करती है। अहङ्कार शक्ति के लिए घुन और तीव्रक ता काम करता है। शक्ति के निकट अहङ्कार कैसे आने का मात्रम् कर सकता है? शक्ति वी म्यरता तभी रह सकती है जब अहङ्कार पर विजय प्राप्त

कर ली जाती है। अत अहकार स्पी मदिंा का पान करके ही वह युद्ध में विजय-धारप करनी हृई गधनों का मदमर्दन करती है।

शक्ति तो मर्वद्यापक है। जड और चेतन हर वस्तु में वह सूधम न्य में विद्यमान है। भी दिशाएँ उनका निवास है। इन दिशाओं को वस्त्र की यजा दी जाती है। इसीनिए उनका 'दिगम्बर' नाम भी पड़ा।

'सौन्दर्यलहरी' (३५) में कहा गया है "भाग व्यक्त जगत शर्थात् पचतत्वों का निमित यह शरीर, इन्द्रिय, मन, त्रुटि और अहकार शिव की प्रवान अद्वैती भगवती जगदम्बा के ही रूप हैं। इन्हे शक्ति के चमत्कार के अनिन्त और क्या कहा जा सकता है?"

मूलाधार चक्र में स्थित माढ तीन लपेटे लेकर मर्दांग में मुझ कुण्डलिनी विद्यमान है, जो परमात्मा की शक्ति कही जाती है। इसके जागरण से ही शक्ति और मिद्धियों के द्वारा खुलते हैं, ब्रह्मविद्या की अनुभूत होती है, मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। म्वामी शकराचर्या ने इस सम्बन्ध में कहा है—

शक्ति कुण्डलिनोति विश्वजननव्यापारवद्वोद्यमा ।

ज्ञात्वे य न पुनर्विगन्ति जननागर्भेऽर्भकत्वनरा ॥

"कुण्डलिनी शक्ति ही इस प्रकार जगत की सृष्टि के व्यापार में परिश्रम कर रही है—ऐमा जानकर मनुष्य माना के गर्भ में वाल-भाव को पुन प्राप्त नहीं होते।"

अत शक्ति का आह्वान ही पार्वती-दुर्गा का वास्तविक पूजन माना गया है।

शब-शक्ति दोनों से सृष्टि-रचना का सम्पादन—

शिव का महत्व शक्ति में युक्त होने में ही है, इसका सुन्दर विवेचन भगवान शकराचर्य ने 'सौन्दर्यलहरी' के आदिम श्लोक में किया है—

शिव शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्त ग्रभवितुम् ।

न च देव न खलु कुशल स्पन्दितुमपि ॥

अर्थात् “शक्ति से युक्त शिव सामर्थ्य वाले होते हैं, और यदि शक्ति से रहित होते हैं, तो स्पन्दन के योग्य भी नहीं रहते ।”

शिव और शक्ति दोनों अभेद हैं, दोनों एक हैं । गोरखनाथ ने ‘मिथ्या सिद्धात पद्धति’ में कहा है —

शिवास्याम्यन्तरे शक्ति शक्तेरम्यन्तरे शिव ।

अन्तर नैव जानीयात् चन्द्रचन्द्रिक्योरिव ॥

“शिव के अन्दर शक्ति है और शक्ति के अन्दर शिव हैं । जिस तरह चन्द्रमा और चाँदनी में कोई भेद नहीं प्रतीत होता, उसी तरह शिव और शक्ति में भी कोई भेद नहीं है ।”

यदि सूय और उनकी किरणों में कोई अन्तर नहीं तो शिव और शक्ति में भेद की कल्पना कैसे की जा सकती है ?

योग वशिष्ठ के निवारण प्रकरण में कहा गया है कि जिस तरह वायु और उसका स्पन्दन, अग्नि और उसकी तपश दोनों एक ही हैं, उसी तरह चिति अर्थात् ब्रह्म और स्पन्द-शक्ति अर्थात् माया दोनों एक ही हैं । शक्ति और शक्तिमान में मदा अभेद रहा है बिना शक्तिन के शक्तिमान का वर्णन कैसे किया जा सकता है ? जिस तरह घन, वल और वुद्धि होने से ही घनवान, वलवान और वुद्धिमान बनता है, उसी तरह शक्ति होने से शक्तिवान बनता है । दोनों में एक्य है ।

शिव को अग्नि और शक्ति को सोम की मज्जा दी गई है । सोम शब्द उमा से ही वना है—‘उमया सहित सोम’ ।

वृहज्जावालोपनिषद् द्वाह्यण (२) में कहा है—

अग्नोषोमात्मक विश्वमित्याग्निराचक्षते ।

रीढ़ी घोराया तैजसी तनूः ।

सोम शक्त्यमृतमय शक्तिकरी तनूः ।

अमृत यत्प्रतिष्ठा सा तेजो विद्याकला स्वयम् ॥
 स्थूलसूक्ष्मेषु भूतेषु स एव रसतेजसि (सी) ॥१॥
 द्विविधा तेजसो वृत्तिं सूर्यात्मा चानलात्मिका ।
 तथैव रसशक्तिश्च सामन्माचान (नि)लात्मिका ॥२॥
 चैद्युदादिमय तेजो मधुरादिमयो रस ।
 तेजो रमविभेदस्तु वृत्तमेतच्चराचरम् ॥३॥
 अग्नेरमृतनिष्पत्तिरमृतेनाग्निरेघते ।
 अतएव ह्वि क्लृप्तमग्नीषोमात्मक जगत् ॥४॥
 ऊर्ध्वशक्तिमय(य)सोम अघो(ध)शक्तिमयोऽनल ।
 ताम्या मम्पुटितस्तस्याच्छश्वाद्विश्वर्मिद जगत् ॥५॥
 अग्ने(ग्नि) रुद्धं भवतेषा(ष)यावत्साम्य परामृतम् ।
 यावदग्न्यात्मक सौम्यममृत विसृजत्यध । ६ ॥
 अतएव हि कालाग्निरधस्ताच्छक्षिरुद्धर्वगा ।
 यावदादहनश्चीर्ध्वमधस्तात्पवन भवेत् ॥७॥
 आघारशक्तयावधृत कालाग्निरयमूहवेग ।
 तथैव निम्नग सोम शिवशक्तिपदास्पद ॥८॥
 शिवश्चोर्ध्वमय शक्तिरुद्धर्वशक्तिमय शिव ।
 तदित्थ शिवशक्तिम्या नाव्यामिह किचन ॥९॥

इसका भाव यह है कि 'अग्नि और सोम इस समस्त जगत के आत्मा हैं । इसे अग्नि रूप भी कहा जाता है । धोर तेज (अग्नि) रुद्र का शरीर है । सोम अमृतमय शक्ति प्रदाता हैं । वह सबकी प्रतिष्ठा हैं । विद्या और कला में तेज (अग्नि) विद्यमान है । सोम और अग्नि का स्थूल व सूक्ष्म सब भूतों में निवास है । तेज दो तरह का है—सूर्य और अग्नि । सोम भी दो प्रकार का है—रस (अप) और अनिल (वायु) । तेज के विद्युत आरि और रस के मधुर आदि अनेको भेद हैं । इन दोनों से ही जगत् की सृष्टि हुई है । अग्नि से ही अमृत (सोम) की उत्पत्ति होती है और सोम से अग्नि की वृद्धि । प्रतः अग्नि और सोम के सम्म-

लित यज्ञ से ही यह ससार बना है। अग्नि जब ऊपर को जाती है तो सोम-रूप ग्रहण कर लेती है। इन दोनों के परस्पर सम्पुट में सदैव यह जगत् स्थिर है। सोम रूप में परिवर्तित होने तक अग्नि ऊपर को ही जाती रहती है। सोम जब तक अग्नि रूप न ग्रहण कर ले तब तक नीचे की ओर प्रवृत्त रहता है। अत कालाग्नि रूपी लद्ध नीचे और शक्ति उनके ऊपर निवास करती है। फिर अग्नि ऊपर व पवन सोम नीचे हो जाता है। ऊर्ध्वगामी अग्नि की आधारशक्ति सोम है। नीचे आत हुए सोम को शिव की शक्ति कहते हैं। वह भी शिव पर आधारित है। दोनों एक-दूसरे का आधार हैं। शिव शक्तिमय हैं और शक्ति शिवमय हैं। ऐसा कोई स्थान दृष्टिगोचर नहीं होना, जहाँ पर दोनों उपस्थित न हो।”

श्री देवी-भागवत में स्वय देवी ने कहा है—

सदैकत्व न भेदोऽस्ति सर्वदेव ममास्य च ।
यौऽसौ साहमह यासौ भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात् ॥

“मैं और ब्रह्म दोनों में सदैव से एकत्व है, कभी भी भेद नहीं है। जो वह है, सो मैं हूँ और जो मैं हूँ, सो वह है। वास्तव में भेद नहीं है, वह भ्राति से कल्पित है।”

श्री र० कृष्णाम्बामी अथवर ने कहा है—“निश्चल और निक्रिय तत्व जगत्पिता के रूप में तथा गतिशील सक्रिय तत्व जगत्माना के रूप में वर्णित किया जाता है।”

म० म० श्री गोपीनाथ कविराज ने शिव और शक्ति का दाशनिक निरूपण इस प्रकार किया है—

“आगम शाल्मो मे सावारण दृष्टि से परम शिव की अवस्था ही पूर्णता की परिचायक चरम अवस्था मानी गई है। दूसरी अवस्था में शिव और शक्ति का सामरस्य या साम्य प्रकृट होता है। शिव-भाव अभिव्यक्त-प्रकाश का भाव है, यही वह परम प्रकाश है, जिसके आश्रय

से सब कुछ प्रकाशित होता है एवं कुछ भी न रहने पर जो म्वप्रकाश होने से निरन्तर अपने में ही स्वयं प्रकाशमान रहता है। इस प्रकाश की जो आत्म-विश्वानि अर्थात् अहस्त से विमर्शन है, वही अक्षित है। अक्षित के स्फुरण से ही विश्व का उदय होता है। केवल इतना ही नहीं, विश्व की विद्यति और लय भी शक्ति के स्फुरण से ही होते हैं। इसलिए शक्ति की उन्मेपावस्था में इस समग्र प्रकाश के अन्दर विश्व का आभास दीख़ पड़ता है।”

‘भारत की मस्कृति साधना’ पुस्तक में डा० रामजी उपाध्याय का विवेचन इस प्रकार है—

“शिव और शक्ति के सम्बन्ध का दार्जनिक निष्पत्ति किया गया है। सृष्टि के पहले शिव और शक्ति ही थी। शिव प्रकाश रूप में शक्ति के विमर्श रूप में प्रतिष्ठित होकर विन्दु-स्वरूप बन जाते हैं। शक्ति भी शिव में प्रवेश करती है। तभी विन्दु का विकास होकर नाद बनता है। नाद और विन्दु के संयोग से काम की उत्पत्ति होती है। काम का श्वेत और रक्त-विन्दुओं से मध्यके होने पर कला की उत्पत्ति होती है। काम और कला के संयोग में त्रिपुर सुन्दरी-स्वरूप कामकला निष्पत्ति होती है। इसी में अखिल विश्वात्मक सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है और पद एवं पदार्थ उत्पन्न होते हैं।”

शिव और शक्ति श्रवण-अलग कोई भी सृष्टि की रचना करने में अमर्य है, क्योंकि उनमें किया का आभाव है। ईश्वर के मानाश में जप प्रकृति में स्पन्दन होता है, तभी सृष्टि का निर्माण होता है। प्रकृति और परमात्मा के संयोग से ही यह कार्य हो पाता है। भगवान् कृष्ण ने भी गीता में कहा है—‘हे श्रजुन! मेरी शक्तिरूपी योनि गर्भाधान का स्थान है और मैं उम्मीदों में चेतन रूप वीजों की स्थापना करता हूँ। इन दोनों के संयोग से ही जगत् की उत्पत्ति होती है। अनेक प्रकार की योनियों में जितने शरीर के धाकार वाले पदार्थ उत्पन्न होते हैं,

यहाँ भी शिव और शक्ति दोनों का निवास है। हर मानव भे इस दिव्य सत्ता और शक्ति के दर्शन किए जा सकते हैं। जैसे शक्ति के मुप्त रहने से शिव में भी कुछ करने की सामर्थ्य नहीं रहती, वैसे ही मानव पिंड में शक्ति के निष्ठिक्य बने रहने पर शिव के दर्शन की आशा धूलि में मिल जानी है। भौतिक जीवन की चकाचौध से यह शक्ति सोई रहती है। जिस तरह भस्म अग्नि को दबाए रहती है, उस तरह भौतिक जीवन वी कामनाएँ और भोग मानव जीवन में व्याप्त शक्ति को दबाए रखती हैं, यह उमे उठने का अवसर ही नहीं देती। वह तो शिव से युक्त होने को व्याकुल रहती है, परन्तु माया जाल मे फँसकर हम उस पवित्र मिलन मे बाधाएँ उपस्थित करते रहते हैं। तत्र कहते हैं हैं कि आवरणों को दूर करो और सोई हुई शक्ति को अपना काम करने दो। तत्र यह आश्वासन देते हैं कि शिव और शक्ति को अपने अन्तर मे सोज निकालना सम्भव है। दोनों का मिलन तो स्वाभाविक है। केवल बाधाओं को दूर करना मात्र है। शक्ति की ज्वालाएँ हमारे अन्दर घघक रही हैं। ऊपर जमी भस्म को दूर करने से हर कोई इसका स्वयं अनुभव कर सकता है। जो शक्ति विश्व का सुजन और निर्माण करती है, वही शक्ति मानव-देह मे विद्यमान है। आवश्यकता है केवल अनुभवात्मक जागरण की। तत्र ने ऐसे मार्गों का निर्देशन किया है जिससे यह जागरण सम्भव हो सके। जब वन्द मार्ग खुल जाते हैं, तो उसे ही श्रज्ञानजन्य वन्धनों से मुक्ति, मोक्ष और आनन्दमय स्थिति की सज्जा दी जानी है। यही तत्र-साधना का उद्देश्य है।

• • •

तंत्रिक भाव

भावना शक्तियो का भण्डार होती है। भावना से ही शक्तियो का उदय होता है। इसलिए जो जैसी भावना करता है वह वैमी ही शक्तियो को प्राप्त करता है, वैमा ही बन जाता है। स्थूल की गति का कारण सूक्ष्म है—शरीर स्थूल है भावना सूक्ष्म। जैसी भावना होगी, वैसे ही काय में शरीर प्रवृत्त रहेगा। भावना का निर्मल, पवित्र, प्रबल और परमार्थमय होना ही आध्यात्मिक क्षेत्र में ऊँचा उठने का अथवा स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति करने का विन्ध है। वह व्यक्तिगत रूप में ही नहीं, बरन् हर क्षेत्र, हर कार्य में प्रबल और पवित्र भावना सफलता लाने में समर्थ होती है। भावना सोई हुई शक्तियो को जगा देती है। उनमें गति उत्पन्न करती है। भावना से फलोभूत होने का तात्पर्य शक्तियों का गतिवान् होना ही है।

भावना पारममणि है। लोहे को सोना बनाती है। इस विषय में कुछ विचारको के अनुभव देखिये—

चाल्स डिक्केन कहते हैं—“जिस मनुष्य की जैसी आत्मिक भावनायें होती, उसकी वाह्य रूपरेखा वैमी ही बन जायेगी।” वक्सटन का कथन है—“विश्वासो के आवाग पर जीवन का स्थूल रूप तैयार होता है।” महर्षि वशिष्ठ का मत—“वीज की जाति का ही पोधा उगता है और सञ्ज्ल्यो की जाति की परिस्थितियाँ पैदा होती हैं—आत्मा जैसी-जैसी भावना करती है, वह शीघ्र वैसी ही हो जाती है और

ओर उसी प्रकार शक्ति से पूर्ण हो जाती है।' हम देखते हैं कि जिसकी भावना भीतर से भलाई, मच्चाई प्रेम, महानुभूति, करुणाशील, वात्सल्य और सद्भावों से ओत-प्रोत होती है वह सदा सुखो रहता है, वयोकि प्रतिक्रिया से उसमें दैवी गुणों का वाहृन्य हो जाता है।

जो सदा स्वार्थ ईर्ष्या, धाकेवाजी, लोभ, छल, कपट, काम, कृष, अहङ्कार, दूसरा वो हानि पहुँचान के भाव रखता है, उसमें यह दुरुण दिनों दिन बढ़ने जाते हैं और पाप अत्याचार की ओर उसकी प्रवृत्ति भी बढ़ती जाती है, जिसके परिणामस्वरूप वह नाना प्रकार के कष्ट उठाता है। मुख-दुख, उत्तात-अवननि, बन्ध-मोक्ष हमारी भावनाओं पर आवागित है जो अपने को अयोग्य असमर्थ, अभागा व अशक्त मानता है वह वैमा ही बन जाता है। इसके विपरीत जो अपने को योग्य, समर्थ, भाग्यवान और शक्तिवान समझता है, वह भी वैमा ही बनता जाता है। अपने आपको नीच या महान, सुखी या दुखी, सावारण या असाधारण, पवित्र या अपवित्र, सदाचारी या दुगचारी, पापी या पुण्यात्मा, चतुर या मूर्ख, निर्वन या शक्तिवान, भाग्यहीन या भाग्यवान बनाना भावना के ही सेल हैं, जो जैवी भावना करता है वह वैमा ही बन जाता है।

महात्मा गांधी ने कहा है—“अपने को निर्वल समझने वाला ही निर्वल है।” जीवन-रेखा को लिखना भावना के अधिकार में है। भाग्य को बनाना भावना-शक्ति के हाथ में है। वह इसको जिवर चाहे मोड़ लेनी है। होमियोपथिक विज्ञान के जन्मदाता डा० हैनीमैन ने अपनी पुस्तक, आग्निन् आफ मैडीमन’ में लिखा है “कि भावनाओं से रोग उत्पन्न भी किये जा सकते हैं प्रोत्र अच्छे भी।” यदि किसी को आप विद्वास दिलाते रहे कि वह निर्वल होना जा रहा है, तो वस्तुत थोड़े दिनों में वह निर्वल होता चला जायगा। यदि किसी को उसके स्वास्थ्य निवर्तने का आश्वासन दिलायें तो उसका स्वास्थ्य और निखरेगा। किसी को निवल, असमर्थ और नालायक कहना पाप है अथवा शक्तिवान बनाना या प्रशमा करना (खुशामद नहीं) और योग्य बताना पुण्य।

मार यह है कि शक्ति महान् है। इस भावना-शक्ति ने मीरा को दिए हुए विष को अमृत में बदल दिया था। उसी भावना शक्ति न घना भक्त ने पत्थर को भगवान बनाया था। यह भावना शक्ति ही थी कि “रुक्मिणी ने एक तुलमी दल से तौना प्रमु गिरधर को।” नुदामा के कच्चे चावलों में भावना का समावेश होने से उनमें इनकी मिठाय आ गई थी कि भगवान कृष्ण ने उनको बड़े चाव में खाया था। शब्दों के भावनामय वेरो का क्या ठिकाना है।

भावना में भावना का होना आवश्यक है, अन्यथा पूर्ण लाभ की आशा नहीं की जा सकती

न काप्ठे विद्यनो देवो न पापाणे न मृन्मयो ।
भावे हि विद्यने देवस्तमादभावस्तु कारणम् ॥

“काप्ठ पापाण और मिट्टी की मूर्तियों से दवना नहीं होते, वे तो मानसिक भावों से ही रहते हैं और वही उनका कारण है।”

जान्म भी भावना की महत्ता का प्रतिपादन करते हैं—
भावेन लभते सर्वं भावेन देव दर्शनम् ।
भावेन परमं ज्ञानं तस्माद भावावलम्बनम् ॥

—सुद्रयामल

“भाव से ही सब कुछ प्राप्त होता है, भावना की दृष्टा से ही दव-दर्शन होते हैं, भावना से ही ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिए भावना का ही अवलम्बन करना चाहिए।

यादृग्मी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृग्मो ।

“जिसकी जंसी भावना होती है, उसे वैसी हो सिद्धि मिला करती है।”

वटुजायात् तथा होमात् कामं क्लेशादिविस्तरे ।
न भावेन विना देवं यन्त्रमन्त्रा फलप्रदा ॥

—भावचूडामणि

“वहुत जप और हवन करने से काम-क्लेश की ही वृद्धि होती है। द्विना सच्चे भाव के यन्त्र, मन्त्र और देवता कोई फलदायक नहीं होता।”

सदा सुखदायिनी विभाति शुद्ध भावना,
सदैव दुःखदायिनी भवेच्च दुष्ट भावना ।
न निष्फला भवेद्यत कदापि काऽपि भावना,
यथा मतिस्तथा गतिर्वदन्ति वेदवादिन ॥

“शुद्ध भावना सदैव सुख प्रदायक होती है, उसी प्रकार दुष्ट भावना का फल अवश्य दुःखदायी निकनता है। किसी की भावना कभी भी निष्फल नहीं जाती। वेदवादियों के कथनानुसार जिसकी जैसी मति होती है, वैसी गति को वह प्राप्त होता है।”

कि न्यासविस्तरेणीव कि भूतशुद्धिविस्तरै ।
कि वृथा पूजने नैव यदि भावो न जायते ॥
फला भावश्च नियत भावाभावात् प्रजायते ।

—कन्नावती तन्त्र

“न्यास के विस्तार और शुद्धि से वृथा प्रयोजन है और पूजन आदि से भी वृथा फायदा है, यदि हृदय में मच्ची भावना मौजूद नहीं है। फन तो कर्म के अनुसार ही मिलेगा।”

तज्जपस्तदय भावनम् ।

—भोगसूत्र

“जप एव जपमन्त्र से जिस पदार्थ का वोध हो, उसकी भावना (ध्यान) करना, यही सिद्धि का मार्ग है।”

शास्त्र का कथन है—

भावस्तु मनसो धम् ।

अर्थात् “भाव मन का धर्म है।

मन में ही इसकी उत्पत्ति होती है और मन में ही इसका लय होता है। अत मन के विषय को शब्दों में ध्ययन करना कठिन होता है। इसे प्रनुभव ही किया जा सकता है—

यथेक्षुगुडमाधुर्य रसना ज्ञायते प्रभो ।
तदा भावो महादेव मनसा परिभाव्यते ॥

अथर्वि “जिस प्रकार से गुड का मीठापन जिह्वा को ही ज्ञात हो सकता है, उसी प्रकार भाव भी मन को ही ज्ञात होना सम्भव है ।”

मन का विषय होने पर ही इसमें श्रावार शक्ति का अनुभव किया गया है । तत्र शक्ति-विकास की वैज्ञानिक प्रगतिलालिए विधि-विधान में इसका उपयोग किया जाना है । ‘ज्ञानार्णवं तन्त्रं’ में अन्तर्याग के विधान में इसके प्रयोग की विधि का निर्देश इस प्रकार दिया गया है—

मूलाधारादाब्रह्मविल विलसन्ती बिसतन्तुतनीयसी
विद्युत्पुञ्जपिञ्जरा विवस्वदयुतभास्वत्रकाजा परशशतसुधा-
मयूखशीतलतेजोदण्डरूपा परचिंति भावयेदिति । अथ हृदि श्रावक
विभाव्य तत्र तामेव स्वोकृतप्रागुक्तरूपा श्रीदेवी व्यात्वा वक्ष्य-
माणै गन्धादिताम्बूलान्ते षडुपचारन्मत्रै उपचर्यं ता पुनस्ते-
जोरूपेण परिणता परमशिवज्योतिरभिन्नप्रकाशात्मिका विगदाद-
विश्वकारणा सर्वाविभासिका स्वात्माभिन्ना परिचिंति सुषुम्नापथेन
उद्भूमथ्य विनिभिन्नविधिविलविलसदमलशशतदलक्षमलाद्वहन्ना-
सापुटेन निर्गता त्रिखण्डामुद्रामण्डतशिखण्डे कुसुमगर्भिते अङ्गलौ
समानीय ऐं ही ही श्री ही श्री सो श्रीललिताया अमृतचंतन्यमूर्नि
कल्पयामि तम इति मन्त्रमुच्चारयन् निजलीलाऽङ्गोकृतलिनि-
वपुष विचिन्त्य—ऐं ही श्री हृस्त्र हृस्त्रली हृस्त्री ।

महापद्मवनान्त स्थे कारणतन्दविग्रहे ।

सर्वभूतहिते मातरेह्ये हि परमेश्वरि ॥

इति मन्त्रेण विन्दुषीठगतनिविशेषब्रह्म तस्मात्श्रीमत्रामेश्वरगाके
परदेवतामावाहयेत् ॥

अथ नित्याऽस्तदिकमणिमाऽन्तं श्रीकामेश्वराङ्कोपवेशन
विना श्रीदेवीसमानाङ्कतिवेषभूषणायुधशक्तिचक्र ओघत्रयगुरुमण्डल
च वक्ष्यमाणेषु आवरणेषु निजस्वामित्यभिमुखोपविष्टमवमृश्य
मूलेन आवाहनस्थापनसन्तिरोधनसम्मुखीकरणाव-
गुण्ठनवन्दनधेनुयोनिमुद्रा प्रदर्शयस्तदखिल भावयेत् ॥

अर्थात् 'मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक विलमित विष तन्तु के समान
वारीक, विद्युत् के समूह के सहश, दस हजार सूर्यों के प्रकाश वाली
मैकड़ों सुधा किरणों से शीतल तेजमयों, परिचिति की भावना करे।
हृदय में श्रीचक्र की भावना कर उसमें पहले बतलाये हुए स्वरूप वाली
श्रीदेवी का ध्यान कर गन्धादि ताम्बूलपयन्त छ उपचारों के मन्त्रों द्वारा
उपचारण कर पुन तेजोरूप से परिणित, परम शिव को ज्योति से
अभिन्न प्रकाशात्मक तथा अपने से भी अभिन्न उन परिचिनि को सुपुस्ता
मार्ग से उत्पन्न कराकर नासापुट से निकली हुई को पुष्पगर्भिर अञ्जलि
लाकर "ए ही श्री ही श्री सौ श्रीललिताया अमृत चैतन्य मूर्ति
कल्पयामि नम" इस मन्त्र का उच्चारण करे और निज लीला से
सुन्दर शरीर स्वीकार करने वाली का ध्यान कर ऐ ही हूस्त्रे हू
स्कलरी हूस्त्रो" — महापद्मवनान्त स्ये कारणानन्द विघ्रहे, सर्वहिते-
मातृरेह्ये हि परमेश्वरि" इन मन्त्रों से बिन्दुपीठगत कामेश्वराक में पर-
देवता का आवाहन करना चाहिए, साथ ही निज स्वामिती के परिचारक
वृन्द को भी श्रीदेवी के सम्मुख उपविष्ट हैं—ऐसी भावना करे तथा
सस्थापनादि समस्त मुद्राएँ भी करती चाहिए ।"

यह वासनारूप श्रीदेवी के साथ पारस्परिक अभेदात्मक पूजा
का विधान महान् फलप्रद होता है। इसे श्री गुरु-मुख से भलीभाँति
जान लेना चाहिए ।"

अथ श्री परदेवताया चतुष्षष्टयुपचारानाचरेत् । तेषु
ग्रशक्ताना भावनया सामान्याधर्मोदकात् किञ्चित्किं चिदम्बा-

चरणाम्बुजे अपग्रुद्धयात्रान्तरं निविषेत् । पुण्यवत्तान्वा
समपयेत्, भूपावनोरणाभ्यज्ञनपमुख्यान्द्रियमपि मण्डपान्तरं पन
भावनीयम् मज्जनादिपु तया दशनात्, श्रीविष्णवाच् । ग्रनथो
मण्डपादिशब्दम् मन्त्रावयवत्केन प्रवेशान यम्भवति, ग्रनुक्तत्वात् ।
मज्जनमण्डपप्रवेशादिपु मन्यमार्गं पाठ च सृष्टुरुदुक्षाम्बृतिभ्य
भावयितुमुच्चितम् । श्री चक्रादपरोहणमपि उन्नत्रानोहणकथ-
नात् अभ्यगातिपुयवनिराभावत् च । उपचारमन्त्रग्रन्थेर
तु यत्रादौ त्रितारी ततु चतुर्थ्यन्तं लिनेति पद ग्रथामुक न लयामि
नम इति । ललिता कामेश्वरी त्रिपुरमुन्दरी इति देवतानाम-
पयिषेपु सत्स्वपिभूत्रकारेण ललितापदग्रहणान् ललितापदप्रयोग,
काय । यथा ॥

अथर्व “धी परदेवता के ये चाँपठ उपचार हैं, इनसे अस्थर्वन
करे । यदि इनके करने में असमयता हो तो केवल भावना से ही
सामान्य अध्योदिक में ग्रन्थाके चरणाम्बुज पे अपग्रुद्ध करने की दुर्द्धि
लेकर पात्रान्तर में डाल देवे अथवा समस्त उपचारों के बदले
पुष्पाक्षन मण्डित कर देवे, भूपावरोहण और अभ्यग इन दोनों उपचारों
को भी मण्डप के दूपरे भाग में ही भावित करना उचित है । अभ्यगादि
उपचारों के लिए यवनिका की भी भावना करनी चाहिए । प्रत्येक
उपचार के समर्पण करने में—‘ऐ ही श्री ललिनायै पाद्य कल्पयामि’
इसी क्रम से बोलना चाहिए । यद्यपि ललिना—कामेश्वर तथा त्रिपुर-
मुन्दरी आदि अनेक नाम हैं, तो भी “ललिता” इसी नाम का प्रयोग
करना चाहिए क्योंकि सूत्रकार ने यही ग्रहण किया है । आदि में तीनों
बीज अर्थात् त्रितारी बोलकर चतुर्थ्यन्ति ललिता—यह फिर ‘अमुक
कल्पयामि’ द्वारा अर्पण करे । मज्जन मण्डप में प्रवेशादि करने के मार्ग
में कोमल वस्त्र की आस्तृति की भावना भी करनी चाहिए ।

करपात्री स्वामी ने पूजा के विभिन्न अङ्गों में भावना के समावेश करने का निर्देश दिया है । यथा—

“नामरूपात्मक जगत् में सच्चिदानन्द की भावना ही अम्बा को पाद्यसमर्पण है । सूक्ष्म जगत् में ब्रह्म भावना ही अर्धसमर्पण है । भावनाओं में ब्रह्म-भावना ही आचमन है । मवत्र सत्त्वादि गुणों में चिदानन्द भावना ही स्नान है । चिद्रूपा कामेश्वरी में वृत्यविपयता का चिन्तन करना ही प्रोञ्चन है । निरजनत्व, अजरत्व, अशोकत्व, अमृतत्व आदि की भावना ही विविध आभूषणों का अपण है । आकाश में चिन्मात्रत्व की भावना करनी पुष्पसमर्पण है । तेज में चिन्मात्रत्व की भावना दीप-समर्पण है । अमृतत्व भावना नैवेद्यार्पण है ।”

आधुनिक विज्ञान ने भी भावना की महानता को स्वीकार किया है और इसे आधुनिक रूप देकर अनेकों प्रकार के प्रयोगों में सफलता प्राप्त की है । पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने प्राथना में इसका उपयोग किया है और आशाजनक लाभ उठाए हैं ।

नोबल पुरस्कार विजेता प्रमिद्ध वैज्ञानिक डा० छलेक्षिसम केरेल ने अपनी पुस्तक ‘मैन दी अननोन’ में लिखा है—भावना से कुछ ही क्षणों में मुँह के घाव, शरीर के अन्य घाव, कैसर, मूत्राशय के रोग और यक्षमा आदि के रोगियों के यह ‘रोग मिट गए हैं । कोढ़ के रोगी स्वस्थ हुए हैं । कैनेहा निवासी डा० सी० अलवर्ट ई० विलफ भावना के माध्यम से ही चिकित्सा फूरते थे । ‘थियालाजिया जर्मनकी’ पुस्तक के अनुसार विश्वास रखकर ईश्वर से भावनापूर्वक प्रार्थना करने पर बड़ी से-बड़ी तथा भयङ्कर बीमानी स मनुष्य छूट जाता है ।

वैज्ञानिक पद्धति—

भावना से ग्राहण व अन्य प्रकार के लाभ उठाने की भी एक वैज्ञानिक पद्धति है । अभाव की पूर्ति के लिए गिडगिडाना उचित नहीं है । उससे से आत्महीनता की भावना उत्पन्न होती है और आशाजनक

लाभ भी नहीं होता है। भावना के समय प्रशुभ के स्थान पर गृभ के, रोग के स्थान पर निरोगता क, अभाव के स्थान पर वैभव और ऐश्वर्य के सकेत मन को देने चाहिए। जिस इष्ट की पूर्ति करन की इच्छा है उसे अपने भावना-नेत्रोंमें पूरा होता देखे। यह सकेत जितना तीव्र और सुदृढ़ विश्वासपर आधारित होगा, मफनता उतनी ही शीघ्रता से प्राप्त होगी।

ग्रलबट विल्फ ने अपनी पुस्तक 'लेमन्स इन लिविंग' में लिखा है—“परमात्मा से हमें यह कामना नहीं करनी चाहिए कि वह हमें स्वास्थ्य प्रदान करें। उमका ढग यह होना चाहिए कि कल के लिए उन्होंने आज मुझे पूर्ण स्वस्थ कर दिया।” श्री गिवेका वीथर्ड ने अपनी पुस्तक 'एवरी मैंस सच' में इस विषय का स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए लिखा है—“शक्ति की धारा का विपरीत शुभ दिशा में प्रवाहित करने के लिए आवश्यक है कि जिस परिणाम को हम उपमित्य देखना चाहते हैं, उस परिमिति को हम निर्मित करें और अपनी चिता क विपरीत भाव का चिन्नन करें।”

धन के अभाव को दूर करने के लिए यह नहीं कहना चाहिए कि मैं अत्यन्त मकट में हूँ उसे दूर करो। वरन् मानस नेत्रों से अपन प्रभु के सर्व-समर्थ, शक्तिशाली और महान् ऐश्वर्यों के रूप को निहारना चाहिए और भावना करनी चाहिए कि उनके उत्तराधिकारी और पुत्र होने के नाते इन ऐश्वर्यों पर हमारा स्वाभाविक अधिकार है, अतः इस अधिकार को मान्यता देने हुए प्रभु स्वयं हमारे गिर्जे स्थान की पूर्ति कर रहे हैं, हमारे भडारों को भर रहे हैं और हम भी ऐश्वर्यशाली हो रहे हैं। इस शुभ भावना से शक्ति का प्रवाह हमारी और परिवर्तित होगा, यह निश्चन है।

सकेत द्वारा आत्म-कल्याण—

आत्म-कल्याण के लिए भावना करते समय इसी क्रिया का अनुकरण करना चाहिए कि मैं शरीर नहीं आत्मा हूँ, निर्वल नहीं शक्तिशाली हूँ, मैं स्वस्थ और प्रसन्न हूँ, मुझे कोई चिता और परेश नी

नहीं है, मेरा जीवन आनन्दमय है, मामारिक विपत्तियों और कठिनाइयों का मुझ पर कोई प्रभाव नहीं होता। क्रोध, लोभ, आसुरी शक्तियाँ मुझ पर आक्रमण करती हैं, परन्तु वह अपने प्रयत्नों में असफल रहती हैं। मैं प्रगति-पथ पर निरन्तर बढ़ता चला जा रहा हूँ, मुझे रोकने की सामग्र्य किसी में नहीं है। मेरा शरीर सीमित नहीं है, असीम है। सागी सृष्टि मुझमें समाई हुई है और हर प्राणी में मेरा निवास है, मैं सबमें हूँ और सब मुझमें हैं। मेरों आत्मा में प्रवणड तेज है। जो भी पाप और अवगुण मुझे छष्ट करने आते हैं, वह इम अग्नि में जलकर भस्म हो जाते हैं और मैं सूर्य की तरह चमक रहा हूँ। मेरे चारों ओर प्रकाश-ही-प्रकाश है, मेरे अज्ञान की समस्त ग्रन्थियाँ दूट गई हैं और मैं निरन्तर मत्य-शिव-सुन्दर के दर्शन करता हूँ व आनन्द के समुद्र में गोते लगाता हूँ, मैं परिवार का पालन-पोषण करते हुए भी उससे अलिङ्ग हूँ, ममार में रहते हुए भी उससे अलग हूँ, शरीर में रहने हुए भी जीवन-मुक्त हूँ। मैं सब ओर अपने को ही बिखरा हुआ पाता हूँ। यहाँ मेरे अतिरिक्त कोई ही ही नहीं, सब ओर मुझे अपने ही दर्शन होते हैं।” इस प्रकार की भावना से साधक शक्ति का पुज बन जाता है और आत्म-कल्याण के पथ पर बढ़ता ही जाता है। मनोविज्ञान के अनुमार इस प्रकार की भावना एक प्रकार का आत्म-सकेन या ‘आटो सजेस्शन’ है।

नई सृष्टि की रचना—

भावना में शुभ सकेतो द्वारा अभीष्ट लाभ की सिद्धि में कुछ भी सन्देह की गु जायश नहीं है। यह प्रमाणित व अनुभव-मिद्द मिद्दान्त व पद्धति है। ईश्वर ने सकल्प किया कि मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ। इस सकल्प के परिणामस्वरूप हम इतनी विशाल सृष्टि की रचना का विस्तार देख रहे हैं। हम भी उस ईश्वर के अश हैं। हम में भी चिन्तन द्वारा निर्माण करने की शक्ति विद्यमान है। हम जैसा चिन्तन करते हैं, वाह्य-सासार में उसके अनुरूप ही आकृतियाँ व मूर्तियाँ बनने लगती हैं अर्थात्

हम भावना के प्रयोग में मन को जैसे सकेत करते हैं, हमारा बाहरी सासार भी वैसे ही बनता चला जाता है और हम उसी सचि में ढलते जाते हैं। ये निर्माण-कार्य हमारा सकेत ही करते हैं।

इन शुभ सकेतों का सोधा प्रभाव हमारे गुप्त मन पर पड़ता है। गुप्त मन ईश्वरप्रदत्त शक्ति का भडार है, देवी शक्तियों का वह मूल स्रोत है। ईश्वर से उन्नराविकार में मिली समस्त शक्तियाँ वहीं सोई पड़ी हैं। उन्हें प्राप्त करने के लिए उन्हें जगाना होगा। इसका उपाप शुभ मकेत ही है। यह हमारे गुप्त मन का नव-निर्माण करते हैं और हमारे चारों ओर का स मार वैसा ही बनता चला जाता है। इसी इच्छा की पूर्ति और सिद्धि करते हैं। भावना का यह मनोवैज्ञानिक आधार है।

अत भावना एक ऐसी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिससे गुप्त मन सतेज होता है, अन्दर से बाहर की ओर एक आध्यात्मिक प्रवाह चलता है, शक्तियों का सृजन होता है, बिखरी शक्तियाँ एकाग्र होकर दिव्यताओं च महानाताओं का नव-निर्माण करती है, जिनसे इच्छानुसार लौकिक व पारलौकिक लाभ प्राप्त होते हैं।

तत्त्व में तीन प्रकार के भाव व्यक्त किये गये हैं—

१ पशु-भाव, २ वीर-भाव, ३. दिव्य भाव।

पशु-भाव—

जीवात्मा या क्षेत्रज्ञ का नाम ही पशु है। जावाल्युपनिषद् (११-१५) में कहा है—‘अह कार से युक्त पशुणति ही स सारी जीव होकर पशु हो जाता है। पैष्पलादि ने फिर जावालि से जिज्ञासा की कि पशु कौन है? उन्होंने उत्तर दिया—जीव को ही पशु कहा जाता है।’ शिव-पुराण ने भी जीव को पशु स्वीकार किया है। वायु स हिता (पूर्व भाग) में कहा गया है कि “ब्रह्मा से स्थावर तक सबकी स ज्ञा-

पशु है। यह पाशों से बेधता और सुख-दुःख भोगता है। इसलिए पशु कहा गया है।

शिव पुराण (वायु सहिता पूर्व भाग) में कहा है—“अक्षर का नाम है पशु, वही जीव है तथा ब्रह्मज्ञान से पाश प्रकृति का अरण होने से उसे धर कहा गया है।”

पशु—पशु गतु से बना है, जिसका अर्थ है—वाँधना। जो पाशों से बंधा है, वही पशु कहनाता है—

पाशनच्च पशव ।

जीव भी पाशों से बंधा रहता है। इसलिए उसे पशु कहते हैं।

गार यह कि तामिक प्रवृत्ति के व्यक्ति को पशु कहा जाता है, जो अपनी इच्छाओं और वासनाओं के नियन्त्रण में रहना है। गीता में इसके परिणामों पर अच्छा प्रकाश डाला है—

“हमको काम अथात् विषय चाहिए और इस काम की तृतीयों में विघ्न त्रोन म उम काम से ही कोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध से ग्रविवेक होता है, अविवेक से स्मृति-भ्रश, स्मृति भ्रश से बुद्धिनाश, बुद्धिनाश म पुरुष का सर्वस्व नाश हो जाता है।” आगे किरण कहा है “विषयों में स चार अर्थात् व्यवहार करने वाले इन्द्रियों के पीछे-पीछे मन जो जाने लगता है, वही पुरुष की बुद्धि को ऐसे हरण किया करता है, जैसे कि पानी में नौका को वायु खीचती है।”

गीता के मत से तो मधीं विकारों और वन्धनों का मूल कारण यहीं विषय-वासनाये हैं। यहीं पाशविक वन्धन हैं। इससे छुटकारा पाये बिना पशु सजा में मुक्ति मिलना सम्भव नहीं है।

कुलार्णव तत्त्व में आठ प्रकार के पाशों का वर्णन आता है, जो इस प्रकार हैं—

दया, सोह, भय, लज्जा, वृणा, कुल, शील और वर्ण।

६२ पाठः तक का वग्नन तन्त्रो म अता है, परन्तु वह इसी के भेद दिवाट नहै।

म्-पा-त्तु तन्त्रा ने तीन प्रकार के पाठों का ही वग्नन आता है—मन, चन और मूर्या। इनमें पर ही प्रमुख है। मन के निवृत्त न न हान तक पशुच्च दूर नहीं हो सकता।

अविद्या, आवरण और मृत्यु आदि मन के ही नाम हैं।

मन-नवृत न के निष-वायस्त्व आगम म दीक्षा की उत्तम माध्यन वत्तादा गया है—

दाक्षेष्मोचन्त्यृच्च शंख धाम नयन्तर्पि ।

प्रथाहृ “रीढ़ा ही मन का निवृत्त कर्ता है और उपर की ताप शिद्दनोक वा न जाता है।”

अत इस मन के पाठ का बाटना आवश्यक है, क्योंकि इसके रूप हुए पूण विवेक की जागृति सम्भव नहीं है।

कर्म व वन्धन में निवृत्त होना भी आवश्यक है। कोई भी ध्यक्ति कर्म के बिना जीवित नहीं रह सकता। पग-पग पर उसे कर्म का नडाग लेना पड़ता है। यह तीन प्रकार के हान है—तामसिक, राजमिक और मात्तिक। चीव की प्रगति का मापदण्ड यही है कि वह तामसिक कर्मों ने छुटकारा प्राप्त करता हुआ क्रमशः राजमिक और मात्तिक कर्मों की आर प्रवृत्त होता है। मात्तिकता की वृद्धि ती उन्नति के चिन्ह माने जाते हैं। परन्तु कर्म-वन्धन में निवृत्त होने के लिए गीता म भगवान ने उनमें निर्देश दिए हैं—

कमज वुद्वियुक्ता हि फल त्यक्त्वा भनीपिणा ।

जन्मवन्ध विनिर्मुक्ता. पद गच्छत्यनामवम् ।

—२१५१

गर्थाद् “नमन्वय वुद्वि ने युक्त जो ज्ञानी पुरुष कर्मफल का त्याग करने हैं, वे जन्म के वन्धन में मुक्त होकर परमेश्वर के हृष्व विरहित पद को जा पहुँचने हैं।”

योगस्थ कुरु कर्मणि सग त्यक्त्वा धनजय ।

—२१४८

“हे धनञ्जय ! आसक्ति छोड़कर और कर्म की सिद्धि हो या असिद्धि दोनों को समान ही मानकर, योगस्थ होकर के कर्म कर ।”

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

—२१४५

“हे अर्जुन ! (कर्मकारात्मक) वेद (इस रीति से) त्रैगुण्य की वातो से ओत-प्रोत है । इसलिए तू त्रिगुणों से अतीत, नित्यसत्त्वस्थ और सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से अलिप्त हो एव योग-क्षेम आदि स्वार्थों में न पड़कर आत्मनिष्ठ हो ।”

तीसरा पाश माया नाम का है, जो माया तत्त्व से भिन्न है ।

जो आत्मा इन तीन पाशों से बँधी हुई है, उसे ‘सकल’ कहते हैं । जिसका माया-मल क्षीण हो चुका है, उसे ‘प्रलयाकल’ और जिसके कर्म और माया नाम के दोनों मल नष्ट हो जाते हैं, उसे ‘विज्ञानाकल’ कहा जाता है ।

पशु-भाव में तामसिकता व्यापक रूप से विद्यमान रहती है । आत्मस्थ और विवारो की जड़ना उसकी विशेषतायें मानी जाती है । तत्र-दार्शनिक भास्कराचार्य के मत से ‘यह बहिमुर्खी होते हैं और वस्तुओं के आन्तरिक सत्य को न देखकर बाहरी रूप को ही देखते हैं ।’ इन पर अविद्या का आवरण चढ़ा रहता है और अद्वैत का कुछ भी ज्ञान नहीं होता ।

कुबिंजका तत्र में कहा है—“जो पशु-भाव से सम्बन्ध रखते हैं, वह पशु ही होते हैं । पशु मत्र का स्पर्श नहीं करता, रात्रि को मत्र का जप नहीं करता । तत्र और बलि के सम्बन्ध में जिसे सन्देह रहता है, मत्रों को जो केवल अक्षर मानता है, गुरु में जिसका विश्वास नहीं होता,

देवता को जो केवल पत्थर मानता है, जो दूसरों की निन्दा करता है—ऐसा पशु सबसे बुग ध्यक्ति है।”

सप्तर-मोह में जो चारों आर से फँपा रहता है, उसे ‘अधम’ पशु कहते हैं। जो अपने पशुत्व को अनुभव करता है और जिसकी मत्कर्मों की ओर प्रेरणा और प्रवृत्ति होने लगती है, उसे ‘उत्तम पशु’ कहा जाता है।

बीर भाव—

जिनकी प्रकृति में चचलता, उग्रता और राजमिकता रहती है, वह ‘बीर भाव’ की सज्जा में आते हैं। शहिंसक, परमार्थी, जितेन्द्रिय, सुख-दुःख में समझान रखने वाला और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्तमर आदि पर विजय प्राप्त करने वाला साधक ही बीर कहलाता है। एक विद्वान् के अनुमार ‘जो मानव अद्वैत ज्ञान रूपी अमृत हृद की कणिका मात्र का भी आम्बादान कर अज्ञान रज्जु के काटने म कुछ मात्रा में भी कृतकाय होते हैं, वे बीर कहलाते हैं।’ सर जान बुडरफ के अनुसार ‘बीर वह है, जो काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि से मुक्त हैं और तम व रज से परे है।’

बीर मात्रक दो प्रकार के होते हैं—१ सभाव बीर, और २ विभाव बीर। एक में सात्त्विकता और दूसरे में राजसिकता रहती है। जिन्हे तत्र के अर्थों और तत्त्वज्ञान की उपलब्धि हो गई है परन्तु विषय-वासनाये पूरी तरह क्षीण नहीं हो पाई है, उन्हे ‘मभार’ बीर कहते हैं। जिसमें पशु भाव की समाप्ति तो हो चुकी है परन्तु ‘सभाव-बीर’ की तरह तत्त्वज्ञान का उदय नहीं हो पाया है, वे ‘विभाव बीर’ कहलाते हैं।

पचमकारों के उपयोग का अधिकार केवल बीर साधक को ही दिया गया है, जिसकी इन्द्रियां अपने नियन्त्रण में रहती हैं, जो विषय-

वासनाओं से मुक्त होता है, उन्नेजन कारण उपस्थिति बोन पर भी जिसके मन में लेशमात्र भी दिकार उत्पन्न नहीं होते।

वीर-भाव, पशु-भाव में ऊँचा है परन्तु दिव्य-भाव में नीचा है।

दिव्य भाव —

सात्त्विक प्रकृति के साधक 'दिव्य भाव' वाले कहलाते हैं। इनके हृष्टिकोण में मन्तुलन, बुद्धि में निर्मलता, स्वभाव में गम्भीरता और सूक्ष्मता रहती है। महानिर्वाण तत्त्व के प्रथम उल्लास में स्पष्ट कहा गया है—

दिव्यश्च देवताप्रायो शुद्धान्त करण सदा ।

द्वन्द्वातीतो वातराग सवभूत सम क्षमो ॥

अर्थात् "जिन मनुष्यों का अन्त करण शुद्ध हाता है, वे सदा दिव्य और देवता के ही समान हैं। द्वन्द्वों से परे, राग में रहित, सब प्राणियों में समाव वाले और क्षमाशील होते हैं।"

कुन्जिका तत्र में दिव्य भाव के लक्षणों का विवरण करते हुए कहा गया है—“खो को देखते ही उनके मन में गुरु-भाव का जागरण होता है। नारी जाति को वह शक्ति की प्रतिमा और तुक्ष्यनात्र को शिव का माक्षात् विग्रह समझना है, जिसके मन में, जगत और देवता में भेद-भाव नहीं रहता। जिसके मन में शशु व मित्र एक समान होते हैं, देव-निन्दक के माथ वह एक क्षण भी वात नहीं करना चाहता, वेद, शास्त्र, देवता और गुरु में जिसका दृढ़ विश्वास रहना है।”

जिन साधकों में द्वैतभाव की समाप्ति हो जानी है और जा मध्यने इष्टदेव के साथ एकत्व स्थापित करने में यसरे हा गान हैं, वही 'दिव्य-भाव' सम्पन्न कहलाते हैं। निर्वाण तत्र के अनुष्ठार—दिव्यभावयुताना तु तत्त्वज्ञान सदा भवेन' अर्थात् दिव्यभाव वालों को तत्त्वज्ञान की उपलब्धि होती है।

दिव्य भाव तीन प्रकार के होते हैं—

त्रिविधि दिव्यभावञ्च वेदागमविवेकजम् ।
वेदार्थमध्यम प्रोक्त मध्यमञ्चागमोद्भवम् ।
उत्तम सकल प्राक्त विवेकोत्त्वास सम्भवम् ॥

—रुद्रयामल ११

“केवल वेद पाठ करने के बाद जो दिव्य भाव उत्पन्न हो जाता है, वह श्रवण है । आगम शास्त्र का अध्ययन-मनन करने पर जो दिव्य भाव पैदा होता है, वह मध्यम है और माध्यन करते-करते विवेक उत्पन्न होकर जो दिव्य भाव प्रकट होता है, वह उत्तम है ।”

इस प्रकार मेरे तत्रों मेरीन प्रकार के भावों का वर्णन है— पशु भाव, वीर-भाव और दिव्य भाव । ये तीन तम, रज और सत का प्रतिनिवित्त करते हैं । माध्यक की सफलता इसी में है कि वह तम से रज की ओर और रज से सत की ओर प्रवृत्त हो, यही पशु भाव से मुक्त होकर वीर भाव ग्रहण करना और वीर भाव से ऊँचा उठकर दिव्य भाव की सीमा में प्रवेश करना है । रुद्रयामल तत्र मेरे कहाँ भी गया है—

आदौ भाव पशु कृत्वा पठचात् कुर्यादिवश्यकम् ।
वीर भावो महाभाव सर्वभावोत्तमोत्तम ॥
तत्पञ्चाच्छ्वेयस स्थान दिव्यभावो महाफल ॥

“श्रादि मेरे पशु भाव को ग्रहण करके ग्रवश्य वीर भाव को धारण करे और तत्पञ्चात् दिव्य भाव को ग्रहण करे । उत्तम बार भाव का श्रेयस्कर म्यान दिव्य भाव महाफल है ।”

इस प्रकार की क्रमण उन्नति ही तत्र का उद्देश्य है । जिस भाव को जो अपनाना चाहना है, उसे अपने भावना-ऐत्र का वातावरण उसी के अनुरूप बनाना पड़ता है । जिस भाव को वह दृष्टापूर्वक ग्रहण करेगा, वह वैमा ही बनता चला जाएगा ।

तात्त्विक आचार

भारतीय स्थृति में आचार का विशेष महत्व है। यहाँ सदाचार को ब्राह्मणत्व का कारण माना जाता है—

न योनि नापि सस्कारो न श्रुतं न च सन्ततिं ।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम् ॥

—महाभारत, वनपर्व ३१३।१०८

“ब्राह्मणत्व का कारण न जन्म है, न सस्कार, न वेदाध्ययन और न कुल। उसका कारण केवल सदाचार है।”

तभी आचार के आधार परत्र वर्णों में परिवर्तन हो जाता है। ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि जब क्षत्रियों और शूद्रों ने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया। शास्त्र भी इसकी साक्षी हैं—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैव शूद्रताम् ।
क्षत्रियात् जातमेव तु विद्याद् वैश्यात् तथैव च ॥

—मनुस्मृति १०।६५

“आचार के कारण शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। यही वात क्षत्रिय और वैश्य के सम्बन्ध में है।”

आचारहीन की निन्दा भी की गई है—

आचारहीन न पुनर्नित वेदा ।

—वसिष्ठ स्मृति ६।३

“आचारहीन पुरुष को वेद पवित्र नहीं करते।”

तन्त्र-शास्त्रो मे आचारो की विशेष व्यवस्था है। यहाँ सभ्य आचारो का वर्णन आता है। उनके नाम इम प्रकार हैं—वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। इन आचारो का वर्णन महानिर्बालि, कुलार्णव, नित्या, आचारभेद, समयाचार, विश्वाचार, मर्वोल्लास महाचीनाचार आदि तत्रो मे आता है। 'कुलार्णव' के द्वितीय उल्लास मे कहा है—

सर्वैम्यश्चोत्तमा वेदा वेदेभ्यो वैष्णव परम् ।

वैष्णवादुत्तम शैव शैवाद्दक्षिणमुत्तमम् ॥

दक्षिणादुत्तम वाय वामात् सिद्धान्त मुत्तमम् ।

सिद्धान्तादुत्तम कौल कौलात् परतर नाहि ॥

अर्थात् "सबसे उत्तम वेद हैं। वेदो से उत्तम परम वैष्णव हैं। वैष्णव से उत्तम शैव हैं। शैव से दक्षिण उत्तम है। दक्षिण मार्ग से उत्तम वाम है और वाम सिद्धान्त से कौल उत्तम होता है।"

उपरोक्त सभ्य आचारो मे से पहले चार पशुभाव से सम्बन्धिन हैं, वामाचार और सिद्धान्ताचार बीर भाव से और कौनाचार दिव्य भाव से जुड़ा हुआ है।

योगवशिष्ठ रामायण (उत्पत्ति प्रकरण, ११८) मे सप्त ज्ञान-भूमिकाओ का वर्णन आता है—१ विविदिपा, २ विचारणा, ३. तनु-मानसा, ४ सत्त्वापति, ५ अससक्ति, ६ पदार्थभाविनी ७ तुरीया।

तन्त्र के आचार और योगवशिष्ठ की ज्ञान-भूमिकाएँ एक-दूसरे से मिलती-जुलती हैं। अन्तर केवल इतना है कि तन्त्र मे ज्ञान को अपेक्षा भक्ति को प्रायमिकता दी गई है और योग वशिष्ठ मे ज्ञान की प्रमुखता प्रदान की गई है।

तत्र-आचारो का विस्तृत वर्णन विश्वमार तत्र' के २४ पटल मे आता है। प्रथम वेदाचार के लक्षण इस प्रकार हैं—

वेदाचार—

इसका उद्देश्य साधक की बाह्य ज़िद्दि है। उसके लिये उसे वेद-विहित कर्मों की ज्ञानकारी रखनी पड़ती है। वेद का अध्ययन करके वेद के आदेशों को मानस-पट्टन पर बैठाना पड़ता है। वेद भारतीय स्कृति का शिरमीर शास्त्र है। उनमें जीवन के उत्थान के लिए सभी सूत्र और सिद्धान्तों का निर्देश किया गया है। जिन लोगों की यह धारणा है कि तन्त्रों में वेद-विरोधी वार्ते भरी पड़ी हैं, उनके लिए व्यवहारिक रूप में यह अच्छा उत्तर है कि साधना में ही वेद के अनुकूल आचरण करने का आदेश दिया गया है। साधना का आरम्भ ही वेद में वर्णित आदेशों पर निर्भर करता है। इसमें उत्तम प्रमाण और व्यापिल सकता है कि वेद के विना तन्त्र की साधना ही नहीं चल सकती। इससे सिद्ध है कि तन्त्र वेदों का सम्मान करते हैं, उनके अनुकूल हैं और उन्हें अपना पथ-प्रदर्शक मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि जो वेद-ज्ञान से शून्य है, वह तन्त्र-साधना में परिपक्व नहीं हो सकता।

वेद की आज्ञा है—

आनुब्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु समना।

—अथर्व० ३।३०।२

“माता-पिता के आज्ञाकारी तथा प्रिय बनो।”

न स्तेय मद्धि।

—अथर्व० १४।१।५७

“चोरी का घन न खाओ।”

प्र पतेत पापि लक्ष्मि।

—अथर्व० ७।१।५१

“पाप की कमाई छोड़ दो।”

उपप्रयत्नो अध्वर।

—ऋग्वेद १।७।४।१

“वह काय करो, जिससे दूसरो को कट न हो।”

- अर्पण्तु सर्वं यत् पापम् । —ग्रथवं० १०।१।१०
 ‘मनु प्रकार के दुष्कर्मों से बचो ।’
- आपेहि मनस्येतऽपकाम परश्चर । —ग्रथवं० २०।६।६।२४
 “मानसिक पापों का परित्याग करो ।”
- इदमहमनृतात् सत्यवुपैमि । —यजु० १।५
 “असत्य को त्याग कर सत्य ही ग्रहण करना चाहिये ।”
- पिपेश नाक स्तूभिर्दनूना, । —ऋग्वेद १।६।८।१०
 “म यमी मनुष्य स्वर्ग को मी जीत लेता है ।”
- प्रसुव यज्ञम् । —यजु० ३०
 “मत्कर्म ही किया करो ।”
- न्रहृम्य, कृणुता प्रियम् । —ग्रथवं० १२।२।२।३४
 “वृजुगों से शिष्टाचार बरतो ।”
- देव्याय कर्मणे शुन्ध्यध्वम् । —यजु० १।१३
 “पवित्र बनो और शुभ कर्म करो ।”
- अन्यो अन्यं मभि हर्यत । —ग्रथवं० ३।३०।१
 “एक-दूसरे से प्यार करो ।”
- विश्वा द्वेषासि प्रमुमुरध्यस्यत् । —यजु० २।१३
 “स सार मे किसी से द्वेष मत करो ।”
- धूयास मधुसद्दश । —यजु० ३७
 “मधुरता की मूर्तिमान प्रतिमा बनो ।”
- भद्र कर्णेभि शृणुयाम । —यजु० ३०
 “कानों से अच्छे विचार ही मुनो ।”
- साय प्रात् सौमनसो वो अस्तु । —ग्रथवं० ३।३०।७
 ‘प्रात्’-साय आत्म-चिन्तन करना चाहिए ।”

पुनन्तु मा देवजना पुनन्तु मनसा बिय ।

पुनन्तु विश्वा भूतानि जानतवेद, पुनीत मा ॥

—यजु० ११।३६

“देवताओं के अनुगामी पुरुष मुझे पवित्र करे । मन से सुसगत बुद्धि मुझे पवित्र करे । सम्पूर्ण प्राणिगण और पृथ्वी जल, अग्नि, वायु तथा आकाश आदि पञ्चभूत मुझे पवित्र करें । परमेश्वर भी मुझे पवित्र करें ।”

वेद की इन जीवन-निर्माण की शिक्षाओं और आदेशों का वेदाचार का साधक पूर्ण निष्ठा के साथ पालन करता है तभी वह अगले वैष्णवाचार के लिए उपयुक्त पात्र बनता है ।

नियमानुसार वेदाचार के साधक को ब्राह्म-मुहूर्त में उठकर गुरुदेव को प्रणाम करने के उपरान्त सहस्रार पद्म में ध्यान करना चाहिए और पञ्चोपयार से पूजन करना चाहिए । परमकला कुण्डलिनी शक्ति के ध्यान के पूर्व वाग्भव (ऐ) का जप करने का विधान है । सध्या अथवा रात्रि को देव-पूजन आवश्यक है । उसे स यम का पालन करना पड़ता है । स्त्री-समागम का पूर्ण निषेध तो नहीं है, परन्तु ऋतुकाल में ही उसकी प्राज्ञा है । इसके प्रतिरिक्त नियम का उल्लंघन माना जाता है ।

तन्मो पर निराधार आरोप लगाने वालों के लिए प्रथम आचार का वर्णन ही पर्याप्त है । इसमें विदित है कि तन्म-माधक को कितने स यम से रहना पड़ता है । उसे तो अद्वैत खिद्दि के लक्ष्य तक पहुंचना है । यदि यह विविध प्रकार के अमयमों से अपनी शक्तियों को धीण करता रहा तो मार्ग ग्रन्ति हो जाएगा और लक्ष्य-मिद्दि में बाधा पड़ेगी । साधक को आत्मोत्थान के लिए जो उच्च साधनायें करनी हैं, उनकी नीव को ढूँढ़ करने वाला यही आचार है ।

वैष्णवाचार—

जब वेदाचार में साधक परिपक्व हो जाता है, तो उसका वैष्णवाचार में प्रवेश होता है। इसमें भी वेदाचार के समस्त नियमों का उसे पालन करना ही पड़ता है। इसके अतिरिक्त भगवान् विष्णु की पूजा-अर्चना भी इसमें सम्मिलित है। इसमें विश्व के अणु-अणु में विष्णु के सर्वध्यापक होने की भावना करनी पड़ती है। वास्तव में विष्णु सर्वध्यापक शक्ति है, जो पृथ्वी, अन्तरिक्ष, धोलोक, भूलोक, भुवर्लोक और स्वलोक में भी दृढ़ है। विष्णु तीन पगों में सारी सृष्टि को धेर लेते हैं। त्रिविक्रम तो वह प्रमिद्ध होते हैं। उनकी जगमगाहट तीनों लोकों के अणु अणु में दृश्योचर होती है। प्राणीप्राण में वह समाया हुआ है। विष्णु तीन पगों में सारी सृष्टि को नाप लेते हैं। यह चलना उनकी गति, क्रियाशीलता और सतकता की ओर इगित करता है। वह सदा जागरूक रहते हैं।

विष्णु वामन थे। वामन छोटा था, बोना था। परन्तु तीनों लोकों में, सारी सृष्टि में, फैल गया। अणु महान हो गया। इस हमारे छोटे-मेरे शरीर-पिंड वामा में ही सारा ब्रह्माएड समाया हुआ है। यह पिंड—ब्रह्माड का मध्यस्थ म स्करण है।” इसी में वह विराट निहित है। इस पिंड और ब्रह्माड, वामन और विष्णु में कोई अन्तर नहीं है, दोनों एक हैं। वैष्णवाचार साधक विराट-दण्डन करता है। वह आत्मा को सब भूतों में और सब भूतों को आत्मा में देखता है। सच्चा विष्णु-भक्त मनुष्य के भ्रतिरिक्त पशु, पक्षी और वनस्पति लनाओं में भी अपने इष्टदेव को व्याप्त अनुभव करता है। वह विश्व की हर वस्तु में उस एक मूल तत्त्व को समाया हुआ व्याप्त मानता है।

विष्णु शेष शब्द्या पर विश्राम करते हैं। इस रूपक में शेष अनन्त का प्रतीक है। जिसका कभी अन्त न हो, उसे अनन्त कहते हैं। शेष के पजार फण माने गये हैं। सहस्र अनन्त का ही प्रतीक है। अनन्त

येप सूर्य और आकाश दोनोंको भी कहते हैं। आकाशका हम अन्त नहीं पा सकते इसलिए उसे अनन्त कहते हैं। विष्णु का आधार यही अनन्त है।

विष्णु की नाभि में कमल उत्पन्न हुआ। कमलसे ब्रह्माजी आविभूत हुए। उन्हें सृष्टि रचना का आदेश दिया गया। ब्रह्मा ने अपनी असमर्थता प्रकट की। तब उन्हे तप करने के लिए कहा गया और वह समर्थ हुए। यह भी एक अटल नियम है—तप से सृजन होता है, शक्ति का विकास होता है। विष्णु साधक इसी नियम का पालन करता है।

“यज्ञो नै विष्णु” यज्ञ को विष्णु की सज्जा दी जाती है। वेद में यज्ञ को विश्व ब्रह्माण्ड को नियन्त्रण में रखने वाला कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में यज्ञ की अग्नि को ही विष्णु कहा गया है। “अग्निर्भौ देवानाम् वयो विष्णु परम। तद—तरेव सर्वा अन्या देवता।” ऋग्वेद (२।१।३) में कहा है” हे अग्ने ! तुम विष्णु रूप हो। ऋग्वेद (४।५।१।३) अग्नि के चार सींग बताए गए हैं जिनका अर्थ चार दिशाएँ अथवा चार वेद माना जाता है। विष्णु की भी चार भुजाएँ दिखाई जाती हैं। इनका अभिप्राय भी यही लिया जाता है कि विष्णु विश्व व्यापी वेद है। विष्णु का वाहन गरुड है। भागवत १२।१।१६ में तीनों वेदों को गरुड कहा गया है। उसे हो यज्ञ-रूप विष्णु वाहनकरते हैं। देवमयी रूप गरुड ही यज्ञ स्वरूप भगवान के वाहन हैं। ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद से ही यज्ञ की भमासि मानी जाती है। अत वेदात्मा ही गरुड है और भगवान विष्णु उन पर विराजते हैं।

विष्णु का वर्ण श्याम है। काले रंग की यह विशेषता है कि उस पर कोई भी दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता और जब काला रंग किसी वस्तु पर चढ़ जाता है तो वह उत्तरता भी नहीं। इसमें सभी तरह के रंग मध्य जाते हैं और यह सब पर ग्रपना प्रभुत्व रखता है। भगवान के गुण जिन्हें प्राकृतिक नियम भी कहा जाता है, काले रंग की तरह ही हैं जो बदल नहीं सकते। अनेकों परिवर्तन होने पर भी प्राकृतिक नियमों या

भगवान के गुणों में अन्तर नहीं आ सकता। साधक को भी ऐसा ही बनना होगा।

विष्णु पुराण (१२२।७१) के अनुसार अपने दोग से पदन को भी पराजित करने वाला अत्यन्त चबल दत्त श्री विष्णु भगवान के करकमलों में मिथि चक्र का रूप धारण करता है।"

विष्णु के हाथ में कमल समार " रहते हुए उससे श्रलिस रहने की प्रेरणा देते हैं। शख ज्ञान, पसारका प्रतीक है (विष्णु पुराण १२२।६६) इस जगत के निम्नेप निर्गुण और निर्मल आत्मा को अथवि शुद्ध शेषज्ञ स्वरूप को भगवान विष्णु कोष्टुभ मणि के रूपमें धारण करते हैं। विष्णु पुराण (१२।६८)। वैज्यन्तीमाला का अभिप्राय पचमहाभूतों से है (१२।६२) श्री वत्स का चिन प्रकृति का प्रतिरूप है (१२२।६६)। भागवत १।१।१ के अनुसार वह प्रणव को यज्ञोपवीत रूप में धारण करते हैं। उनका शारङ्ग धनुष-अहकार है (विष्णु पुराण १।२२।६०)। पाँच ज्ञानेन्द्रियों वाले रूप से भगवान विष्णु के आयुधों में विराजती हैं (१२२।६३)। खड़ग अदिद्यामय कोश से आच्छादित विद्यामय ज्ञान ही है। (१२२।६४) इनके पति विष्णु त्याग और बलिदान की पवित्र भावनाओं से ओत प्रोत हैं।

वैष्णवाचार साधक को विष्णु के इन गुणों को व्यान में रखना होगा और उन्हें अपने व्यावहारिक जीवन में उतारना होगा। प्रेरणा के साधक के लिए जो तात्रोक्त नियम बनाये गये हैं। उनके अनुसार भी उसे अश्लील वार्ता, मासाहार, निन्दा चुगली, हिमा प्रादि से दूर रहना पड़ता है। रात्रि पूजन, भी उसके लिए निषिद्ध है।

शैवाचारः—

इपम गिछने सब आचारों का पालन तो करना ही पड़ता है। इस आचार में प्रविष्ट साधक की पशुवध की भी मना ही है वह अपने गुरु से जिज्ञासा की निवृत्ति का अधिकारी है। गुरु भी उसके अधिकार के अनुसार उसे ज्ञान प्रदान करते हैं।

इस आचार की विशेषता यह है कि सदैव सभी कार्यों में शिव के तात्त्विक स्वरूप की भावना करनी होती है। शिव श्वेत वर्ण के हैं। श्वेत रग ईश्वर की सज्जा है। यही प्राणी का अन्तिम लक्ष्य है। सब-रग मिलने पर ही यह बन पाता है। एक भी इनसे अलग हो जाय उसे सफेदी में अन्तर आ जाना है अत सब प्राणी वाह्य दृष्टि से ही अलग अलग दृष्टिगोचर होते हैं। वास्तव में सब एक इकाई हैं। श्वेत रग की तब उत्पत्ति हो पाती है, जब सब रग क्रियाशील होते हैं। शिव को प्रत्यक्ष करने के लिए क्रियाशीलता आवश्यक है। शास्त्रों में इसी को तप सज्जा दी गई है। श्वेतरग में स्वाभाविकता है। शिव का रूप भी स्वाभाविक है कृत्रिमता उन से दूर रहती है। श्वेतरग ज्ञान का प्रतीक है। शकर की श्वेत भूमि में हम ज्ञान आह्वान करते हैं। श्वेत रग सात्त्विकता का प्रतिनिधित्व करता है। श्वेतरग अद्वैत के लिए प्रेरित करता है। शिव सर्व व्यापी देव हैं। उन्हें अणु-अणु में व्यापक जानना ही सच्चा ज्ञान है। प्राणीमात्र में समाया हुआ मानना और तत्त्वत व्यवहार ही उनकी सच्ची उपासना है और सारे जगत से अभिन्नता का अनुभव करना ही शिव के श्वेत वर्ण की प्रेरणा है।

‘अयव शिरोपनिषद्’ में शिवने स्वय कहा है मैं एक हूँ मैं भूत भविष्य और वर्तमान काल में हूँ। मेरे अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है। जो अन्तर के भी अन्तर में है, जो सब दिशाओं में प्रविष्ट है वह मैं हूँ। मैं ही नित्य और अनित्य हूँ, मैं ही व्यक्त और अव्यक्त हूँ, मैं ही ब्रह्म और अब्रह्म हूँ। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊध्व, अधो दिशारूप प्रनिदिशा रूप, पुमान अपुमान, स्त्री मैं ही हूँ। मुझे सब में व्याप्त जानो। मुझे जानने वाला सब वेदों को जानता है और अग सहित वेदों को जाना है।”

गिव के गले में सर्प लटके रहते हैं। सप तमोगुण, व ऋषि का प्रतीक है। वह उहे अपने नियत्रण में रखत हैं। इनके रहते हुए इनसे अप्रभावित रहते हैं। सप सहारक शक्ति है। वह काल का प्रतीक है।

काल किमी को नहीं छोड़ा, परन्तु जो सावक शरीर-भाव से ऊपर उठ गये हो, वह इसमें अल्पि रहते हैं। शिवके तो गले में काल लटका रहता है, परन्तु उन्हें स्पर्श करने का माहम नहीं कर सकता। सर्प मनुष्य जाति का शत्रु है। शिव शत्रुओं को भी गले लगाते हैं और उनकी हिमा वृत्ति तो बदल दते हैं।

शिव की जट घों में गगा पवित्रना और गान्ति की प्रतीक है। शिव का उग्र व महारक-रूप प्रसिद्ध है। उग्रना तो ममितण्ड में रहती है, वही गगा प्रवाहित होनी है। यही उनकी विशेषता है। विष और अमृत दोनों ईश्वर के शरीर में ही रहते हैं। विष के रहते हुए भी उनकी जटाओं में मम्तक में अमृत की धारा प्रवाहित होनी रहती है।

शिव का त्रिनेत्र विवेक और नीर क्षीर मात्तिवक दुद्धि का प्रतीक है। जब तम मिर उठाता है, वह उग्र रूप धारणा कर उसे जला डालते हैं। शिव को जब समस्याओं का ममाधान करना पड़ता है तो वह विचरित नहीं होने, गातिपूत्रक उन्ह सुनकाते हैं। उनके सिर पर अर्द्ध चन्द्र इस तथ्य का प्रतीक है कि शिव की शात गङ्गा में कभी ज्वार-भाटा नहीं आता। आदेश रूपी लहरें शिव रूपी समुद्र में उत्पन्न हो ही नहीं सकती।

श कर शरीर पर भस्म लपेटे रहते हैं। भस्म को जगत् का मूल तत्त्व माना गया है। वे सब जगत् को भस्म कर अन्त में उसकी भस्म को शरीर पर लगा लेते हैं। भस्म नाश का चिन्ह है, यह जगत के सहार का प्रतीक है। यह विश्व की निस्मारता का प्रतीक है। यह विश्व की निस्मारता का वोच कराती है, शिव को भी नश्वरता और अनित्यता का वा स्मरण दिनाती है। इमीलिए वह स्वयं इमशान में निवास करते हैं, जहाँ नाश की लीला हर समय प्रत्यक्ष दिखाई देनी रहती है। वह इसे भूलते नहीं।

मुराढ भी वह इसी लिए धारणा करते हैं। यह उनका आभू-पण है जो मृतकावस्था का वोच कराता है।

शङ्कर त्रिशूलधारी हैं। त्रिशूल शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक त्रिविध शक्तियों का प्रतीक है। त्रिशूलधारी में आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों शूलों को नष्ट करने की शक्ति होती हैं।

शिव व्याघ्र-चर्म ओढे रहते हैं। शेर सबसे शक्तिशाली पशु है। उसे मारकर वह अपना ओढ़ना बनाते हैं। शिव काल व सहार के प्रतीक हैं। बड़ी-से-बड़ी शक्ति उनसे बच नहीं सकती। इसका यह भी भाव है कि वह शक्ति के स्रोत व नियन्त्रक हैं।

शिव के घास हाथों में मृग, परशु, वर और अभय रहते हैं। मृग यज्ञ का प्रतीक है। परशु सहार करता है। वर से अभिप्राय है कि वह सर्वशक्तिमान और सवसमर्थ है। अभय मुद्रा में भक्तों को भयों से बचाने का आश्वासन देते हैं।

शिव का वाहन वृषभ है, जो धर्म का रूप है। उसे कामनाओं और इच्छाओं की वर्पा करने वाला कहते हैं। वह धम, अर्थ, काम और मोक्ष का प्रतीक भी माना जाता है। अथववेद ४। १। १०८ में वृषभ को पृथ्वी का पोपक, धारक, उत्पादक, प्रकाशक, प्रेरक, विजेता और फलदाता की उपाधियों से विभूषित करते हुए अन्त में ब्रह्म और विराट के समान बताया गया है।

शैवाचार साधक को शिव के इस रूप को लम्भना आवश्यक है। यहीं शिव की मच्छी उपासना है। इस आचार में वह विशिष्टना तभी प्राप्त कर सकेगा जब शिव के व्यक्तित्व में प्राप्त शिक्षाओं व प्रे-णाओं को व्यवहारिक जीवन में उतारता है।

दक्षिणाचार—

दक्षिण शब्द का अर्थ है—ग्रनुकून। ग्रनुकूल आचार दो ही दक्षिणाचार कहा गया है। पहले के नीन आचारों में जो माधक ने

ज्ञानार्जन किया है, उन्हें हृष करने के लिए ही यह आचार बनाया गया। उसकी सावना सर्वप्रथम दक्षिणामूर्ति ऋषि ने की थी, इसलिये इसका नाम उनके आधार पर पड़ गया। उसके अनुसार शिवानय, शमशान, चौराहे या किसी किर्जन म्यान मे महाशहूपाला जप करना चाहिए और देवी का पूजन करना चाहिए।

वाम्बव में ईश्वर का कोई लिंग नहीं है। श्वेताश्वनरोपनिषद् (४३) मे कहा है “तू स्त्री है, पुरुष भी तू ही है, तू भी कुमार और कमारी है।”

त्वं स्त्रो त्वं मुमानमि त्वं कुमार उत वा कुमारी।

अब कुछ लोग ईश्वर को पुरुष-रूप मे और कुछ स्त्री-रूप मे पूजते हैं दोनों ही रूप उपदेश हैं। कोई छोटा-बड़ा नहीं है। जिस तरह दवनायों और अवनारों की उपासना प्रचलित है उपा तरह दर्दी की पूजा भी व्यापक रूप रूप मे होती है। नारीमात्र मे ईश्वर का व्यापक जानना ही उसका मूल उद्देश्य है। नारी के प्रति मातृत्व सावना के विम्बार के लिए इस पूजन का प्रबलत हृश्चा है। इसमे नमाज मे नैनिक्षण्य की विचारवारा की स्थापना हाती है, नारी जाति के प्रति सम्मान का भावना जाग्रत होती है। उसे केवल भोग की सामग्री ही नहीं, वरन् एक शक्ति के रूप म वढ़ावा मिलता है। आवृनिक काल मे तो यह उपासना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि यदि लोग नारी का गत्त मूल्याकृत करने लगे हैं। इस भ्रष्ट दृष्टिकोण को परिवर्तन करना आवश्यक है। वह तभी भम्भव है जब नारों को उच्च आमन पर अवमिथ्यन किया जायगा। दक्षिणाचार का यही उद्देश्य है।

समत्त्वयात्मक पद्धति—

इन चार आचारों को ‘पञ्चाचार’ कहते हैं। यह पञ्च-भाव के अन्तर्गत आते हैं।

उपरोक्त चार आचारों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि तत्र वा हृष्टिकोण समन्वयात्मक है। सर्वप्रथम वह भारतीय स्कृति के मूलाधार वेद-ज्ञान के प्रति सम्मान की भावना जाग्रत करता है और उनकी शिक्षाओं के अनुमार जीवन निर्माण करने का सकल्प करने का नियम बनाता है। विभिन्न प्रकार के सम्प्रदायों में आपसी खीचतान की समझा का भी समाधान कर दिया गया है। हर साधक को विशु वा और फिर शिव की उपासना करनी होगी और उनके तत्त्वज्ञान को सच्चे श्रथों में समझना होगा। फिर देवी की उपासना का भी विधान बनाया गया है। तत्र में सर्वदेव पूजा को प्रोत्साहन दिया है। वह सभी के प्रति सम्मान की शिक्षा देता है। किसी के प्रति ऊँच-नीच की भावना को इसमें स्थान नहीं है। आरम्भिक साधक के लिए यह आवश्यक है अन्यथा वह भटक जाता है और अपने हृष्टिदेव के अतिरिक्त शेष सब देवी देवताओं को हीन समझना है। यह विचारधारा उसकी आतिथिक प्रणति में वापरक मिथ्य होती है। तत्र-साधना साधक को एक व्यापक हृष्टिकोण देती है, जिससे म कुर्चित भावना का उसके अन्त करण में लेशमात्र भी प्रवेश न हो। यह एक मनोर्वज्ञानिक प्रक्रिया है, जो तत्र की महान् विशेषता का ही प्रदर्शित करती है।

वामाचार—

दक्षिणाचार की परिधि का अतिक्रमण करके साधक का वामाचार में प्रवेश होना है। इसके लक्षणों में—दिन में ब्रह्मचर्य का पालन, गत्रि को पञ्चतत्त्वों के माध्यम से भगवती की पूजा और वक्रानुष्ठान करके मन्त्र, जाप आदि सम्बिलित है। इसे अत्यन्त गुप्त माना जाता है। कहा भी है—

प्रकाशात् मिद्दिहानि, स्माद्वामाचारगता प्रिये ।

अतो वामपथ देवि गोपयेन्मातृजारवत् ॥

अर्थात् “हे प्रिये! वामाचार गति में प्रकाश से मिद्दि भी हानि

होनी है । इसलिए हे देवि । मातृभार की भाँति वाम पक्ष को गुप्त वृ
रखना च हिए ।”

इसे अत्यन्त कठिन और योगियों के लिए भी अगम्य बनाया
गया है—

वामो मार्गं परमगहनो योगिनामप्यगम्य ।

वाममार्ग विजितेन्द्रिय के लिए ही प्रशम्न है, इन्द्रिय-लोलुप के
लिए वाममार्ग में गति असम्भव है । शिव ने कहा भी है—

लोलुपो नरकं व्रजेत् ।

“लोलुप नरक को जाना है ।”

वाममार्ग का अधिकार उच्च भौतिक स्तर के मावकों को ही
दिया गया है—

परद्रवयेषु योऽन्धश्च परस्त्रोषु नपु सक् ।

परापवादे यो मूकं सर्वदा विजितेन्द्रिय ॥

तन्यैव व्राह्मणस्वात्र वामे स्याद्विकारिता ।

— मेरु तन्त्र

अर्थात् “जो पर-द्रव्य के लिए अन्धा है, पर-स्त्री के लिए नपु सक
है, जो पर-निन्दा के लिए गू गा है और जो इन्द्रियों को सदा वश में
रखना है, ऐसा व्राह्मण वाममार्ग का अधिकारी होता है ।”

तन्त्राणामतिगृद्धत्वातद्भावोऽप्यतिगोपित ।

व्राह्मणो वेदशास्त्रायंतत्वज्ञो वुद्धिमान् वशी ॥

गृद्धतन्त्रार्थं भावस्थं निर्मथ्योद्धरणे क्षम ।

वाम मार्गोऽविकारी स्यादितरो दुख भाग् भवेत् ॥

— भावचूडामणि

अर्थात् “तन्त्र अत्यन्त गहन हैं, इसलिए उनका माव भी गुप्त है ।
वाममार्ग का अधिकारी वही हो सकता है, जो वेद-शास्त्रों का तत्त्वज्ञ,

बुद्धिमान् साधक गूढ तन्त्रार्थ भाव का मरण करके उनका नद्दार कर नके । इसके अतिरिक्त दूसरे दुन्ह के ही भागी होगे ।”

अथ मर्वोत्तमो धर्मं शिवात्क, सर्वं सिद्धिद ।
जितेन्द्रियस्य सुलभो नान्यस्यानन्तजन्मभि ॥

—पुरश्चर्याग्र

अर्थात् “सर्वोत्तम और सर्वसिद्धिदाता शिवोत्त वाममार्ग जिते निद्रिय के लिए ही सुनभ है । अनेको जन्म ग्रहण करने पर भी यह लोनुा क लिए सुलभ नहीं है ।”

उपरोक्त उदाहरणो से विदित होगा कि वाममार्ग से सम्बंध मे जो लोक मे धारणाये हैं कि यह व्यभिचार को प्रोत्साहन देने वाला भाग है, कुछ भी सार नहीं है । शाळ का विधान तो यही है, परन्तु यदि कुछ स्वार्थी व्यक्ति योड़ा-सा सहारा मिलन पर उनका दुरुपयोग करत है, तो उससे शाळ और उसके प्रतिपादित मार्ग को दोषी नहीं ठहराया जा सकता । ऋग्विधान मे ही कहा है—

अस्य वामस्य सूक्तं तु जपेच्चान्यत्र वा जले ।

व्रह्यहत्यादिकदग्धवा विष्णुलोक स गच्छति ॥

अर्थात् ‘इस वाम के सूक्त को अन्य स्थान मे अथवा जल मे जपना चाहिए । वह पुरुष व्रह्यहत्या आदि महापाप को दग्ध तरके विष्णुलोक को चला जाता है ।’

वामाचार का अर्थ व्यभिचार नहीं है, प्रतिकूलाचार है । अनी तक दक्षिणाचार तक जिन चार आवागो की वह साधना करता रहा है, वह न सार मे रहकर ही होन रहे थे । पव इस आचार से उम मासांगिक त प्रनो को खोलना पड़ता है, इनमिंग उसे प्रतिकूलाचार अथवा वामाचार कहते हैं । निश्च मे वाम का अर्थ इस प्रकार लिखा है—

श्राव्ये अनेन अनेद्य अनवद्य अतभिशाप उपथ्य
सुनीय पाक वाम त्रयुनमिति दग्ध प्रशस्यनामानि ।

अर्थात् उपरोक्त दस नाम प्रशस्य अर्थात् श्रेष्ठ के वाचक हैं ।

युगाचार्य ने प्रज्ञावान को ही प्रशम्य कहा है—

य एव ऽि प्रज्ञावन्तस्त एवहि प्रशम्य भवन्ति ।

इसमें प्रशस्य का अथ प्रज्ञावान किया गया है। ऐसे ही योगी का नाम वाम है ।

अब वाम-पथ उत्तम मार्ग का निर्देशक है, न कि भ्रष्ट-पथ की ओर ले जाने वाला, जैसी कि लोक-मानस में भावनायें व्याप्त हैं। अन्य मार्गों की अपेक्षा नो यह कठिन मार्ग है, क्योंकि इसमें जितेन्द्रियता एक आवश्यक शर्त है ।

सिद्धान्ताचार—

वामाचार में परिपक्व होने पर साधक ग्रगली कक्षा—सिद्धान्ताचार में प्रविष्ट होता है। इसमें वह रुद्राक्ष और अम्बिगाला धारण करता है और भैरव-वेश भी धारण करता है। अब तक माधक अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों प्रकार की साधनायें कर चुका है। इस आचार में प्रविष्ट होने पर साधक के मन की चलता क्षीण होने लगती है और वह आत्मिक आनन्द का रसास्वादन करने की स्थिति में आ जाता है। तन्त्र में कहा है— ।

देव पूजारतो नित्य तथा विष्णुपरो दिवा ।

नक्त द्रव्यादिक सर्वं यथालाभेन चोत्तमम् ।

विविवत् क्रियते भक्त्या म सर्वं च फल लभेत् ॥

अर्थात् “देवों की पूजा में रत तथा दिन में विष्णु परायण को नित्य ही तथा रात्रि में ही यथालाभ मत्र द्रव्य आदि का सम्राह करे यही उत्तम है। जो इस प्रकार भक्ति-भाव क्रियापूर्वक करता है, वह सब फल प्राप्त किया करता है ।”

वामाचार और सिद्धान्ताचार वीर-भाव के अन्तर्गत आते हैं ।

कुलाचार—

सिद्धान्ताचार में सिद्धि प्राप्त हो जाने पर कुलाचार में प्रविष्ट

होती है। यह तन्त्र का अन्तिम आचार है। इसलिए अत्यन्त कठिन है—

कौलो धर्म परम गहनो योगिनामप्यगम्य ।

अर्थात् “कौल धर्म अत्यन्त गहन है, जो योगियों के लिये भी गहन है।”

आत्मिक भूमिका में यह स्थिति अत्यन्त उच्च मानी जाती है, जबकि विकार उत्पन्न करने वाली व पतन की ओर ले जाने वाली कोई भी वस्तु उसका स्पश तक नहीं कर सकती।

कहा भी है—

अहो पीत महद्द्रव्य मोहयेत्तिदशानपि ।

तन्मद्य कौलिक पीत्वा विकार नाप्नुयात्तु य ।

मदङ्घयानैकपरो भूयात् स भक्त स च कोऽलक ॥

—परानन्द मत (गायकवाड श्रीरियण्टल सोरीज पृष्ठ १७)

अर्थात् “इसलिए पिया हुआ महद्द्रव्य देवो को भी मोह उत्पन्न कर देता है। उस मद्य को पीकर यदि विकार को प्राप्त नहीं होता है और मेरे ध्यान में तत्पर रहना है वह भक्त है और कौलिक है।”

इसलिए जिसे कौल धर्म का अधिकार नहीं है, वह यदि इसे अपनाता है, तो वह इस्यास्पद ही लगेगा।

कुलधर्ममजानन् य. ससारान्मोक्षमिच्छति ।

पारावारमपार स पाणिभ्या तत्तु मिच्छति ॥

—कुलाणव २।४७

अर्थात् “कुल-धर्म को न जानते हुए जो ससार में मोक्ष की इच्छा करता है, वह अपार पारावार को हाथों से ही तैरने की इच्छा किया करता है।”

वास्तविकता यह है कि कौल धर्म उच्च स्थिति का वाचक है, परन्तु ऋष्टाचारियों ने उसे ब्रदनाम कर दिया है, और तीन के नम्मगों की ओर यदि हम ध्यान दें, तो स्थिति स्पष्ट हो

अगम्यागमनश्चैव धूर्तमुन्मत्तवञ्चकम् ।

ग्रनृत पापगोष्टी च वर्जयेत् कौलिकोत्तमे ॥

अर्थात् “अगम्यागमन, धूर्त, उन्मत्त, चुगल, भूठ, पाप वार्ता औ उत्तम कौल द्वोड दे ।”

जौवर्वेषणवदौगकिंगाणपत्यादिकै क्रमात् ।

मंत्रेविशुद्धाचित्तस्य कौलज्ञान प्रकाशते ॥

अर्थात् “शिव, वैष्णव, शक्ति, सौर गाणतत्य आदि मिद्धातो के मन्त्रो द्वारा चित्त की शुद्धि हो लेने के पश्चात् कौलज्ञान (व्रह्मज्ञान) भी प्राप्ति होती है ।”

शक्तिश्च शक्तिमद्भूपाद व्यतिरेक न वाञ्छति ।

तादात्म्यनयोर्नित्य वान्हदहिकयोरिव ॥

शक्तिश्च शक्तिमतोर्यद्वदभेद सर्वदा स्थित ।

अतस्तद्वर्मधर्मित्वात् पराशक्ति परात्मन ॥

न वन्हेदहिका शक्ति व्यतिरिक्ता विभाव्यते ।

केवल ज्ञानमत्ताय प्रारम्भोऽया प्रवेशने ॥

शक्ति यवस्थाप्रविष्टस्य निविभागेन भावना ।

तदसौ शिवरूप स्याच्छैवीमुखमिहोच्यते ॥

— अभिनवगुप्ताचार्य

अर्थात् “शक्ति और शक्तिमान के रूप में जो व्यतिरेक नहीं चाहता है, उन दोनों का वान्ह और दाहिक की भाँति नित्य ही तादात्म्य होता है । शक्ति और शक्तिमान का सर्वदा जिस प्रकार से अभेद स्थित है, अतएव तद्वर्म और धर्मो होने से परमात्मा की पराशक्ति है । वहिं की दाह करने वाली शक्ति व्यतिरिक्त अवभासित नहीं हुआ करती है । केवल ज्ञान की सत्ता में प्रवेश करने में ही यह प्रारम्भ है । शक्ति की अवस्था में प्रविष्ट हुए की भावना तो निविभाजन होती है । उस समय

मेरे यह शिवरूप ही होता है। अतएव यहाँ पर शंखी मुख भी कहा जाता है।”

तन्त्र दार्शनिक भास्करराय ने ‘कुल’ शब्द के अर्थ कि ए है। ‘कलामृतैकरसिका’ के “सीभाष्य-भास्कर” भाष्य मे वह लिखते हैं—

कुल सजातीय समूह । स च एक विज्ञान विषयत्वरूप-साजात्यापत्र-ज्ञातृज्ञेय ज्ञानरूप त्रयात्मक । तत सा त्रिपुटो-कुलम् ।

अर्थात् “कुल सजातीय समूह है और वह एक विज्ञान विषयत्वरूप साजात्यापत्र-ज्ञातृज्ञेय ज्ञानरूप त्रयात्मक है।” इसी मे त्रिपुट कुल है।”

इस अर्थ मे कालिदास रचित ‘चिदगगन नन्दिका’ ना प्रमाण भी दिया गया है—

मेयमातृमितिलक्षणं कुलं प्रात्नतो न्रजति यत्र विश्रमम् ।

अर्थात् “जिस साधक की अद्वैत भावना पूर्ण और विशुद्ध हो चुकी है, वही सच्चे रूप मे कौल पद का अधिकारी है।”

तभी तो विश्वमार तन्त्र मे कहा है—

कर्द्मे चन्दने देवि पुत्रो शत्रौ प्रियाप्रिये ।

शमशाने भवने देवि तथैव तृणकाङ्चने ॥

न भेदो यस्य देवेशि स एव कौलिकोत्तम ।

विन्तयेदात्मनाऽत्मन सर्वत्र समदृष्टिमान् ॥

“श्रेष्ठ कौल वही है जिसको कर्दम और चन्दन मे, पुत्र और शत्रु मे, शमशान और भवन मे, काङ्चन तथा तृण मे कोई भेदज्ञान नहीं रह जाता और सब वस्तुओं मे साम्यभाव उत्पन्न हो जाता है। वह सब भूतों मे अपने आत्मा का और अपने आत्मा मे सब भूतों का दर्जन करता है।”

कुल शब्द के अर्थ से कौल का अथ और म्पट हो जाएगा—
कु पृथ्वो तत्व लीयते यत्र तत्कुल—आचार चक्र' तत्स-
म्बन्धाल्लक्षणया सुपमणामार्गेऽपि ।

“पृथ्वी तत्व जिसमें लीन हो जाता है, उसे कुल और आचार
चक्र कहते हैं और उसके मम्बन्ध में सुपमणामार्गको कुल कहा जाता है ।”

अथ, म्यिन रक्त सहस्रदलकमनमपि कुल, तत्कर्णि-
काया कुन देविदलेपु कुलगत्त्य सन्तीति स्वच्छन्द तन्त्रेऽस्य
विम्तर! ।

“ब्रह्मरन्ध्र रक्तवर्ण के महसूदल कमन को भी कहा जाता है ।
उसकी कर्णिका के ऊपर कुनदेविदलों में कुलगत्तियाँ निवास करती हैं,
जिसको विम्तून रूप ने स्वच्छन्द तत्र में वर्णित किया गग है ।”

कुल गत्ति दिति प्रोक्त्योकुल गिव उच्यते ।

कुलेऽकुलस्य सम्बन्ध कौल मित्यभिधीयते ॥

अर्थात् “कुल शब्द गत्ति का वाचक है और अकुल शब्द नित्र
का वोचक है । कुल और अकुल के मम्बन्ध को कौल कहते हैं ।”

भद्रिष्य पुगण मे आचार को कुल कहा है—

“आचार कुल मुच्यते”

अर्थात् “आचार ही कुल कहा जाता है ।”

विश्वकोष के अनुसार—

जनपदे ग्रहे सजातीयगणे गोत्रे देहेऽपि कुल कथितम् ।

“देश, घर मजातीय पुष्प, गोत्र और शरीर को भी कुल कहा
जाता है ।”

कुलार्णव तत्र के अनुमार—

अन्यस्तु सकला विद्या प्रकटा गणिका इव ।

इय तु शाम्भवी तिद्या गुप्ता कुलवृद्धू रिव ॥

अर्थात् “अन्य तो सभी विद्याये गणिका की भाँति प्रस्तृ हैं ।

यह ना शाम्भवी विद्या है, जो एक कुलवृद्धू की भाँति गुप्त होती है ।”

चिन्तामणिस्तव मे कहा है—
 कुलाङ्गनैषाऽप्यथ राजवीथि ।
 प्रविश्य सङ्केतगृहान्तरेषु ॥
 विश्रम्य विश्रम्य वरेण पूर्वा ।
 सगम्य सगम्य रस प्रसूते ॥
 कुल नाम पातिव्रत्यादिगुणराशीलोऽवश ॥

अर्थात् “यह एक कुलाग्ना है अथवा यह राजवीथी है, जिसमें प्रवेश करके स केतगृहो के अन्दर विश्राम कर-करके पुरुष वर के साथ सङ्क्रम प्राप्त कर-करके रस का प्रसव करता है। कुल का अर्थ है— पातिव्रत्य आदि गुणराशि के स्वभाव वाला वश ।”

कुल गोत्रमिति ख्यात तच्च शक्तिशिवोऽद्वम् ।

यो न भोक्षमिति ज्ञान कौलिक, परिकीर्तिर्वत ॥

अर्थात् “कुल नाम गोत्र का है। गोत्र शिव-शक्ति से उत्पन्न है। कौल वह कहलाते हैं जो शिव-शक्ति में अभेद मानता है।”

अत कुलाचार उच्चकोटि की साधना है। इसकी आलोचना करना तात्त्विक ज्ञान के अभाव का परिचायक है।

यह सप्ताचार निश्चय ही नैतिक व आध्यात्मिक घरातल पर स्थित हैं। इसके नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करने वाला साधक क्रमशः प्रगति-पथ पर बढ़ना जाता है और अन्तिम सीढ़ी तक पहुँच सकता है, इसमें कुछ भी स शय नहीं है।

• • •

तात्त्विक-पूजा का रहस्य

परिभाषा—

तत्र एक व्यवस्थित उपासना प्रणाली है जिसके माध्यम से मानव-जीवन के उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है। साधारणत तो तन्त्र को जादू और चमत्कार दिखाने वाली पद्धति ही समझा जाता है। इससे भौतिक उपलब्धियाँ भी होती हैं। परन्तु तन्त्र-उपासना का वास्तविक लक्ष्य तो अद्वैत भावना का विकास है। उत्तम उपासना का यही अर्थ समझा जाता है। उपासना के शास्त्रों में विभिन्न नाम आते हैं—पूजा, वन्दना, अर्चना, भजन, आराधना आदि।

तत्र के अनुसार सच्ची पूजा वह है जो पुनर्जन्म को समाप्त करती है। जन्म और मुत्यु के चक्र को रोकती है और सम्पूर्ण फल प्रदान करती है। अर्चना इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह अभीष्ट फल देने वाली है। तात्त्विक शास्त्रियों के अनुसार “समर्प्त ज्ञेय पदार्थों की चिदभूमि में विश्राति ही पूजा कहलाती है। ऋजुविमर्शनी के इस लक्षण के साथ ही गुह को अपने आत्मरूप में भावना करना ही पूजा है अथवा निविकल्पक महाकाल में आदरपूर्वक लय होना ही पूजा है।”

तात्त्विक पूजा का अभिप्राय किसी देवी देवता से सम्बन्धित नहीं है वरन् उस ईश्वर की पूजा का निर्देश दिया जाता है जो समस्त जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय की पूरण सामर्थ्य रखता है। इसे ही भगवती, परज्ञाता, भगवान और परामाया आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया जाता है।

तन्त्र का मिद्धात यह है कि शिव और शक्ति के संयोग से सृष्टि की रचना होती है। शिव शक्ति के बिना शब्द बन जाते हैं। शक्ति में क्रियाशीलना है। तात्रिक भाषा में इसे 'विमर्श' नाम दिया जाता है। शिव प्रकाश स्वरूप है क्योंकि सारा ससार उनसे प्रकाशित होता है, परंतु विमर्श के अभाव में वह स्वयं प्रकाश नहीं हो सकते। प्रकाश और विमर्श दोनों अभिन्न रूप से रहते हैं। बिना शक्ति की उपासना के कुछ भी करना सम्भव नहीं है—

शक्त्या बिना परे शिवे नाम धाम न विद्यते ।

जब शक्ति की उपेक्षा की जाती है तो परम शिव में नाम आदि भावों का सम्बन्ध टूट जाता है। वास्तव में पूजा इस विमर्श शक्ति की ही हुम्पा करती है जो ईश्वर की स्वरूपभूता कहलाती है इसी को ईश्वर की पूजा कहत है।

प्रकार—

तात्रिक भावनाप्रो के अनुसार पूजा के भी चार अलग-अलग प्रकार हैं। यह अनुभव करना कि जीवात्मा और परमात्मा एक हैं, हर वस्तु ब्रह्ममय है, इस सृष्टि में ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, ब्रह्म-भाव कहलाता है। यह साधक की उच्चतम स्थिति है। जप और प्रायना, स्तवन उससे भी नीचे वाली श्रेणी की पूजा है। हृदय में योग-साधना के माध्यम से इष्ट देवता का अदृट ध्यान निम्न श्रेणी की किन्तु मध्यम है, जोधी पूजा पूजा बाह्य-जगतमें हृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थों की है। साधक और देवता पर जप पूजा करने और ग्रहण करनेका भाव विद्यमान रहता है तो स्वर्विद्वं रूप से इससे द्वैत भावना का ही पोषण होता है। ब्रह्मभाव के अतिरिक्त यभी मिथ्यतियो में द्वैत-भावना रहती है। जिमने अद्वैत तत्त्व का अनुभव कर लिया है और जो जानता है कि सब कुछ ब्रह्म ही है, जब साधना करने वाले और जिसकी पूजा की जा रही है, इसका कोई भाव नहीं होता और न ही जप, तप, पूजा, व्रत, ध्यान, धारण आदि योगागों का ही ध्यान रहता है, तभी पूजा की

अतिम विद्युति मानी जाती है । जब तक यह स्थिति न आए, समझना चाहिए कि श्रमी पूजा ग्रूपी है और प्रयत्न करना शेष है ।

‘चिदगगनचक्रिका’ नामक आगम ग्रन्थ में चार प्रकार की पूजा विधान बताया गया है—१ चार, २ राव, ३ चरु, ४ मुद्रा । ‘राव’ ही इस प्रमुख है । आत्मशक्ति के माथात्कार को ही राव’ कहा जाता है । चार आचार से, चरु हृष्ण से और मुद्रा से सम्बन्धित है । टीक भी है कि रसिक साधक को पहले बाह्य उपकरणों का सहारा लेना पड़ता है फिर धारे-धीरे वह आगे बढ़ता है । उन्नति की कमीटी यही है कि उसे फिर बाह्यपूजा की अपेक्षा नहीं रहती । साधक के लिए आत्मिक पूजा के द्वारा युल जाते हैं । तत्र की भाषा में बहिर्याग में अन्तर्याग की ओर पग बढ़ाता है । बहिर्याग के मुख्यत पाँच अङ्ग हैं—जप, होम, तपग, मार्जन और ब्रह्मयोजना । अतयाग वे भी पाँच अङ्ग हैं—पटल, पद्धति, वम, स्तोत्र और नामसहस्र । पटल का अभिप्राय है—पट्टक्रो और सहस्रदल कमल में देवी के स्वरूप की भावना करना । उस मन्त्र पटल में पाँच या मोलह उपचारों से हृदयादि पीठ में देवी पूजन पद्धति कहनाता है । इष्ट मन्त्र के अन्तरों में स्थून शरीर पर कवच बनाना, देवी के विभिन्न नामों में शरीर की सुरक्षा की भावना करना वर्म कहलाता है । स्मृति जागृत रखन के लिए देवी के रहस्यमय स्नोत्रों का स्नेहन और उनके महस्त नामों में से विशेष गुणपरक नामों का ध्यान करके आत्मिक रूप से प्रणाम करना होता है ।

अन्तर्याग की व्याख्या इस प्रकार से की गई है—

पृथिव्यात्मकगन्ध स्यादाकाशात्मकपुष्पकम् ।

घूपो वाय्वात्मक प्रोक्तो दोपो वन्हयात्मक पर ॥

रसात्मक च नैवेद्य पूजा पञ्चोपचारिका ।

“पृथ्वी तत्व को गन्ध, आकाश तत्व को फूल, वायु तत्व को धप, तेजस्तत्व को दीप, रसात्मक जल तत्व को नैवेद्य के रूप में भावना करके पञ्चोपचार पूजा की जाती है । इसे ही अन्तर्याग कहते हैं ।”

समझने की सुविधा के लिए तन्त्र में तीन प्रकार की पूजा मानी जाती है—उत्तम, मध्यम और अधम, जिसे ‘परा’, ‘परापरा’ और ‘अपरा’ भी कहा जाता है। इन तीन के ग्रतिरिक्त एक ग्रव्याघम पूजा भी है। तात्रिक शालियों का विचार है कि भौतिक युग में लोक-मानस का आत्मिक स्तर इतना गिर गया है कि साधारण व्यक्तियों को तन्त्र की अवृम पूजा का भी अविकार नहीं है।

तन्त्र की परम पूजा का स्पष्टीकरण करते हुए ‘सकत पद्धति’ में कहा गया है—

त पूजा बाह्यपूष्पादिद्रव्यैर्या प्रथिनाऽनिशम् ।

स्वे महिम्न्यद्वये धाम्नि सा पूजा या परा स्थिति ॥

बाह्य पूष्पादि द्रव्यों से जो पूजा की जाती है, वह श्रेष्ठ पूजा नहीं है। विश्व में इसी का विस्तार है परन्तु जब अपनी स्वरूप-महिमा में साधक की स्थिति दृढ़ हो जाती है तभी वह परा पूजा कहनाने योग्य है, क्योंकि इसमें द्वैतभाव का अभाव हो जाता है और अद्वैत भावना की स्थापना। इस अद्वैत भाव का विकास ही परा-पूजा कहलानी है। मध्यम पूजा शिव के साथ अभेद की अनुभूति नहीं होती। परन्तु वह इसके द्वार पर अवश्य खड़ा होता है क्योंकि उसे यह ज्ञान हो जाना है कि जड़ पदार्थों का अद्वैत में लय हो रहा है। समय पाकर मध्यम श्रेणी का साधक परा-पूजा का प्रधिकारीत्व जाता है, जैसे कि वह अघम पूजा में मध्यम में आया था। आरम्भ में तो साधक को साधारण पूजा का ही सहारा लेना पड़ता है। साधारण पूजा में बाह्य उपकरणों का प्रयोग होता है। तन्त्र में ६४ उपचार, १८ उपचार, १८ उपचार, १० उपचार किर ५ उपचारों से पूजा का विवान बनाया गया है।

इन उपचारों की सक्षिप्त सूची इस प्रकार है—

६४ उपचार—

पाद्यम्, अधर्यम्, ग्रासनम्, मुग्निवृत्तिनाभ्यङ्गम्, मञ्जनशालाप्रवेशनम्,

मज्जनमणिपीठोपवेशनम् दिव्यमन्तीयम्, उद्वर्तनम्, उष्णोदक्षस्तानम्, कनक-कलशमिथुनसर्वीर्यभिषेकम् औनदख्यपरिमार्जनम्, अवणदुकूलपरिधानम्, अनगदुकूलोत्तीर्यम् आलेपमण्डपवेशनम्, आलेपमणिपीठोपवेशनम्, चन्दनागुहकुंकुममृगमदकर्पूर च मूरीरोचना दिव्यगन्धसर्वागानुलेपनम्, वेशभागम्य कालागुलवृत्तमन्तिकामालतीजाती चम्पकाशोऽशतपत्रपूर्णकुहरी पुन्नाग-कङ्कारयृथीमर्वन्तुकमुममालाभूपणम्, भूपणमण्डपधवेशनम्, भूपणमणि-पीठोपवेशनम् नवरत्नमुकुटम् चन्द्रशकलम्, सीमन्तमिन्दूरम्, तिलकरत्नम्, कालाञ्जनम्, र्णगालीयुगलम्, नायाभरणम् अधर्ण्यावकम् ग्रथनभूपणम्, कनकचित्रपदकम् महापदकम्, मुक्तावलीम्, एकावलीम्, देवाच्छन्दकम्, केयूरयुगलचतुष्टम्, वलयावलीम् ऊपिकावलीम्, काच्चीदामक्टिसूत्रम्, गोमास्त्राभरणम् पादकटकयुगम् रत्नतूरुपम् पादागुलीयकम्, एककरेपाशम्, अन्यकरेपाशकुणम्, इतरकरेपु पुराङ्गेशुचापम्, अपग्करेपुष्पवाणान्, श्रीवन्माणिक्यगणदुक्षम् स्वमानवेगास्त्रावर्णोदेवताभि मह मिहासन-रोहणम् वामेश्वरपर्यङ्कोपवेशनम्, अमृताशनम्, आचमनीयन्, कपूर-वटिकाम्, आनन्दोल्लासविलासहासनम्, मगलारात्रिकम्, श्वेतच्छवम्, चामरयुगम्, दर्पणम्, तानवृत्तम्, गन्धम्, पुष्पम् घूपम्, दीपम्, नैवेद्यम्, पानम्, पुनराचमनीयम् = ६४

१८ उपचार—

अष्टादशोपचार ये हैं—आमन, स्वागत पाद्य अर्ध्य, आचमनीय, स्नानीय, वस्त्र, यजोपवान्, भूगण, गन्ध, पुष्प, घूप, दीप, अन्न, दर्पण, मालय, अनुलेपन और नमस्कार = , ८

१९ उपचार—

पोडशोपचार ये हैं—पाद्य, अर्ध्य, आचमनीय, स्नानीय, वस्त्र, आभूपण, गन्ध, पुष्प, घूप, दीप, नैवेद्य, आचमनीय, ताम्बूल, स्तवपाठ, तपण और नमस्कार । = १६

१० उपचार—

दशोपचार ये हैं—

पाणि, अर्ध्य, आचमनीय, मधुपर्क, आचमनीय, गन्ध, पुष्प, धूप,
दीप और नैवेद्य = १०

५ उपचार—

पञ्चोपचार ये हैं—

गन्ध, पुष्प धूप, दीप और नैवेद्य = ५

पूजा का रहस्य—

पूजा के विभिन्न प्रकारों और माध्यमों का तात्रिक शास्त्रियों ने
इस प्रकार निरूपण किया है—

आवाहन—ईश्वर सर्वव्यापी है। इसलिए उसका आवाहन
ब्यर्थ है, यह धारणा निमूल है। यह तो साधना की सुविधा के लिए
किया जाता है। इससे विश्वास की ढंगता होती है। साधक यह धारणा
करता है कि उसका इष्टदेव सामने उपस्थित है। आरम्भिक साधना में
यह प्रावश्यक है।

आसन द्वदय में पवित्र भाव से इष्टदेव की प्रतिष्ठापना
करना।

पाद्य—पञ्च तत्त्वों से निर्मित जगत में उत्तम भल को ईश्वर
से एकात्मक भावना रूपी जन्म से प्रक्षालन करना।

स्नान—जल से पञ्चभौतिक शरीर को पवित्र करना स्नान
कहलाता है। सत्-चित्-आनन्दरूपी ब्रह्म से अपनी प्रन्नतमा को पवित्र
करना आध्यात्मिक स्नान है।

नैवेद्य—मै ग्रन्ताश की भावना है।

आचमन—वाणी, मन और अन्तरात्मा में पवित्रता अनुभव
करने तथा भविष्य में इन तीनों को अतिक पवित्र बनाने की भावना के
साथ तीन बार आचमन किया जाता है। पहले आचमन के माथे वाणी

को स्नान कराके पवित्र किया माना जाता है। दूमे से मन को और तीसरे से श्रात्मा को। अपनी बाह्य और आत्मिक पवित्रता देव-उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक है। इस तथ्य को अपने आपको स्मरण दिलाने के लिए तीन प्राचमन किए जाते हैं। जल ब्रह्म का रूप है, उसमें एकीकरण का भाव है—प्राचमन।

प्रदक्षिणा—जो विचार और भाव-साधना तथा अध्ययनकाल में प्राप्त हुए हैं, उन्हें क्रियारूप में परिणत करने के लिए कदम बढ़ाना प्रदक्षिणा का उद्देश्य है। धर्म, अर्थ, काम मोक्ष ती चतुर्विध जीवन-साधना के लिए चार परिक्रमा की जाती हैं।

गन्ध—दुर्भाग्य की सम्भावना को नष्ट करने और धर्म का ज्ञान प्रदान करने के कारण गन्ध नाम लड़ा।

अक्षत—अक्षत अन्त का साधन है, पापों की निवृत्ति करते हैं और परम सत्य से परिवर्य करते हैं।

पुष्प—घन, सम्पत्ति, पुरुष की वृद्धि करने और पापों के समूह को नष्ट करने के कारण पुष्प कहलाते हैं।

धूप—धूप बदबू को दूर करती है और परमानन्द पदान करती है।

दीप—दीर्घि, श्रज्ञानता, गहरे अन्वकार को दूर करके परम सत्य—परातत्व को प्रकाशित करता है।

बलि—बलि का अभिप्राय पापों और दुष्प्रवृत्तियों का नाश है।

पान—पान पाशों को खोलता है, नरक से बचाता है और पवित्र भावों का उदय करता है।

अर्ध्य—घन की वृद्धि करने और पाप की निवृत्ति करने के कारण अर्ध्य कहलाता है।

प्रसाद—प्रकाश के रूप में ग्रान-द प्रदान करने और परम मत्य के दर्शन करने के कारण प्रसाद कहलाता है। तत्त्व में अद्वैतभाव के ग्रहण की गुह्यप्रमाद कहते हैं—

स्वप्रकाशवपुषा गुरु, शिवो,
य प्रसीदाति पदार्थमस्तके ।
तत्प्रसादमिह तत्वशोधन
प्राप्य मोदमुपयानि भावुक ॥

स्वप्रकाश रूपी शिव गुरु जब पदार्थ मस्तक में प्रसन्न होते हैं, तभी सत्त्वों की शुद्धि हो जाती है और स्वाभाविक रूप से परमानन्द की प्राप्ति होती है ।

गुरु-प्रसाद की महिमा का वरण करते हुए कहा गया है—

ईश्वराराधनविद्या स्वधर्मचिरणात्सताम् ।
ईशप्रसादस्तद्रूप सुलभश्चात्र सदगुरु ॥

अर्थात् “ईश्वर की प्राराधना करने की बुद्धि से सत्पुरुषों को अपने गम का प्राचण करने से उसी स्वरूप वाला ईश्वर का प्रसाद होता है, इसकी पाति के लिए सदगुरु की सुलभता होनी चाहिए ।”

सदगुरो स्म्रप्सादेऽस्य प्रतिबन्धक्षयस्तत् ।
दुभीवनातिरस्काराद्विज्ञान मुक्तिद क्षणात् ॥

अर्थात् “सदगुरु के भलीर्गाति प्रसाद के होने पर इसके प्रतिबन्धों का क्षय हो जाया करता है । बुरी भावनाओं के तिरस्कार से क्षणमात्र में मुक्ति के प्रदान करने वाला विज्ञान प्राप्त होता है ।”

प्रणाम—चित्त को विषय-वासनाओं से दूर करके ब्रह्म में लीन करने वी किया को प्रणाम कहते हैं ।

विसर्जन—पूजा की गमाति पर इष्टदेव का भावनापूर्ण विसर्जन किया जाता है, क्योंकि सबपथम आवाहन भी किया गया था । जब पूजा सम्बन्धी कोई काम करना शेष नहीं रहता, तभी विसर्जन होता है । ब्राह्मात्मिक भाषा में इसे ज्ञान का स्तर मानते हैं । पूर्ण सन्तोष होने पर ही यह भावना उत्पन्न होती है कि अब कोई कायं करना शेष नहीं रहा है । साधना की सफलता का भी यह चिन्ह है ।

मानस-पूजन —

बाह्य पदार्थों और उपचारों से जब मावना में परिपक्वता होने लगती है तो इन पदार्थों के माध्यम की अपेक्षा नहीं रहती, इनकी मानसिक रूप से भावना ही पर्याप्त रहती है। श्री पूर्व आगम शास्त्र में कहा है—

द्रवद्रव्यसमायोगात् स्नपनं तस्य जायते ।

गन्धं पुष्टादिगन्धस्य ग्रहणं यजनं स्मृतम् ॥

षड् रसास्वादनं तस्य नैवेद्याय प्रजायते ।

यमेत्रोच्चारयेद् वर्णं स जप परिकोर्तिन ॥

अर्थात् “द्रव पदार्थ के स्पर्श को स्नान कहते हैं। गन्ध-पुष्टादि की गन्ध ग्रहण करना अचंता कहलाती है। पड़ुरभों का ग्रास्वादन नैवेद्य है और वर्णों का उच्चारण जप कहा जाता है।”

भावोपनिषद् (३) में मानस-पूजन का विस्तृत निष्पण है—

सलिलं सोहित्यकारणं सत्त्वं कर्तव्यमकर्तव्यनिति
भावनायुक्तं उपचारं । आस्ति नास्तीति कर्तव्यता उपाचरं ।
बाह्याभ्यन्तं करणाना रूपग्रहणं प्रोग्रताऽस्तिवत्यावाहनम् । तस्य
बाह्याभ्यन्तं कारणानामेकरूपविषयं ग्रहणमासनम् । रक्तशुक्ल-
पद्मकीकरणं पाद्यम् । उज्ज्वलदामोदानन्दामनं दानमध्यमं म्बच्छ
स्वत्—सिद्धनित्याचमनीयम् । चिच्चन्द्रमयासर्वाङ्गस्त्रवणा
स्नानम् । चिदग्निस्वरूपपरमानन्दशक्तिस्फुरणं वस्त्रम् । प्रत्येक
सप्तविंशतिवाभिन्नं वेनेच्छाज्ञानक्रियाऽत्मब्रह्मग्रन्थ्यभद्रमतन्तुब्रह्म-
नाडी ब्रह्मसूत्रम् । स्वव्यतिरिक्तवस्तुमङ्गहिनस्मरणं विभूषणम् ।
स्वच्छस्वपरिपूरणं नुस्मरणं गन्धं । समस्तविषयाणा मनस
स्थैर्येणानुसंधानं कुमुमम् । तेषामेव सवदा स्त्रीकरणं धूपं ।
पवनावच्छन्नो धर्वज्वलनसच्चिदुल्काऽकाशदेहो दीपं । समस्त-
यातोपातवज्यं नैवेद्यम् । मवस्थात्रवैकरणं ताम्बूलम् ।

मूलाधारादाब्रह्मगन्धर्यत ब्रह्मारन्धादामूला धारपर्यन्त गतागत-
रूपेणप्रादक्षिण्यम् । तुर्यविस्था नमस्कार । देहशून्यप्रमातृतानि-
मज्जन बलिहरणम् । सत्त्वममित कतव्यमवर्तमौदासीन्यनित्यात्म-
विलापन होम । स्वयं तत्पादुका तिमज्जन परिपूर्णध्यानम् ।

अथोत् ॥ मन्त्रिन नथा गरुमन्त्रात्मक देवताओं का एकीकरण रुद्र
जो सत्त्व ही कतव्य है, इस भावना से युक्त ही इसका उपचार (पूजा) है ।
ब्रह्म ही है, ब्रह्म स भिन्न कुछ नहीं है, यह जो कतव्यता है, यह भी
उपचार है । ब्रह्म तथा आभ्यन्तर के कारणों की रूप ग्रहण की योग्यता
ही यही आवाहन है । उसका बाह्य तथा आभ्यन्तर कारणों का एक रूप
विषयों का ग्रहण करना ही प्रासन है । केवल कुम्भक से सुषुम्ना प्रवेश
के गतन्त्र मूलाधार तथा भौंहों के मध्य में स्थित प्रत्येक और परनाम
के लाल तथा सफेद पदों का एकीकरण ही पावा है । अपने शिष्यों को
यह उपदेश करना कि ब्रह्माभिन्न सरोजबल दामोशनन्द रूप से स्थिति
हमेशा करनी चाहिए, यह अध्य है । स्वयं स्वच्छ तथा स्वत सिद्ध ही
माचमनीय है । चिदरूप चन्द्रमयी के सर्वाङ्गों का स्मरण ही स्नान है ।
चिद अग्नि स्वरूप परम हिमक शक्ति का स्फुरण ही (प्रकाशित होना)
वस्थ है । इच्छा आदि नीन शक्तियों के त्रिगुणात्मक होने से प्रत्येक के
जो २७ भेद तथा इच्छाज्ञान तथा क्रिया-शक्ति स्वरूप ब्रह्मग्रन्थि, मन्द्रस्स
नाड़ी सुपुम्ना, यही ब्रह्मसूत्र है क्योंकि यही ब्रह्म की चौतिका है । अपने
से भिन्न वन्तु का स्मरण न करना ही आभूपण है । स्वच्छ स्वरूप जो
ब्रह्म उससे कुछ भिन्न नहीं है यही स्मरण करना गध है । सब विषयों
का मन की स्थिरता से अनुपान ही फूल है और उन्हीं को स्वीकार
करना ही धूप है । वाय्वा न (वायु युक्त) योग के समय प्राण अपान
की एकता से सुपुम्ना में सत, चित्, आनन्द उल्कारूप जो (प्रकाश है)
आकाश देह है, वही दीप है । अपने से भिन्न सभी विषयों में मन की
गति का जाना आना रुक जाना (न लाना) ही नैवेद्य है । तीनों अव-
स्थाओं का एकीकरण ही पान है । मूलाधार वार-वार गतागत करना

(आना-जाना) ही प्रदक्षिणा है । चतुर्थी श्रवणस्था में विधित रहना ही नमस्कार है । देह की जड़ता में द्वूषना (अर्थात् आत्मा को चैतन्य मानकर, देह को जड़ मानकर स्थित रहना ही) वलि है । अपनी आत्मा सत्त्व स्वस्त्रप है, यह निश्चित करते वर्तव्य, अक्तव्य, उदासीनता, नित्यात्मक, विलापन (आत्म-चिन्तनासक्ति) ही यज्ञ-होम हैं तथा उम परब्रह्म का पाटुकाओं में दूधे रहना ही पवित्रपूर्ण ध्यान हैं । साराश यह हुआ कि जैस पूजा के लिए धूप, दीप, तंवेद्य, दक्षिणा, नमस्कार, प्रदक्षिणादि अपक्षित होती है, वैसे ही परब्रह्म की प्राप्ति के लिये ऊपर बताइ गई वस्तुओं का सावन कर लेना ही तद् तद् धूप, दीप आदि हैं । इन्हीं से वह ब्रह्म हृष्टिगोचर हो जाता है ।”

भगवान् शङ्कुराचार्य “शिवमनास पूजा स्तोत्र” से भी यही ध्वनि निकलती है—

आत्मा त्वं गिरजा मति, सहचरा, प्राणा शरीर गृह ।

पूजा ते विषयोप भोगरचना निद्रा समाधिस्थित ॥

स चार पदया प्रदक्षिणाविधि स्तोत्राणि सर्वा गिरो ।

यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिल शम्भो तवाराघनम् ॥

शिव को सम्बाधित करते हुए कहा गया है कि “तुम्ही मेरी आत्मा हो, गिरजा वुद्धि है, प्राण सहचर हैं, मेरा शरीर तुम्हारा घर है । विषय-भोग के लिए मेरे इन्द्रिय-व्यापार ही पूजा है, निद्रा समाधि-स्थिति है । मेरे नद-सचर तुम्हारी प्रदक्षिणा और बोलना तुम्हारा स्तोत्र है । मेरे समस्त कम तुम्हारी आग्राघना है ।”

भक्ति-सुवा (प्रथम खण्ड) में स्वामी श्री हरिहरानन्द सरस्वती ने मानस पूजा का विवेचन इस प्रकार किया है—

“नामरूपात्मक जगत् में सच्चिदानन्द की भावना ही श्रम्भा को पाद्यमर्पण है । सूक्ष्म जगत् में ब्रह्म-भावना ही श्रध्यसमर्पण है । भावनाओं में ब्रह्म-भावना ही आचमन है । सर्वंत्र सत्त्वादि गुणों में

निदानन्द भावना ही स्नान है। चिटहृषा कामेश्वरी मे वृत्तिप्रियता का विन्तन करना ही प्रोत्स्थन है। निरञ्जन तत्त्व, अजरत्त्व, अशोकत्त्व, अमृतत्त्व आदि की भावना ही विद्यि गाभूषणों का अपण है। स्वशरीर षट्क पार्विवप्रपञ्च मे विन्मान भावना ही गत्वसमर्पण है। आकाश मे निमात्त्व की भावना करनी पुणा-गमर्पण है। वायु की चिन्मात्र भावना रूप-गमर्पण है, तेज मे चिन्मात्रत्व की भावना दीपसमर्पण है। अमृतत्त्व की भावना नैवेद्यार्पण है। विश्व मे सच्चिदानन्द भावना करनी ही ताम्बून समर्पण है। वाणियो का व्रह्म मे उपसहार ही रत्नति है। वृत्तिप्रिय के जडत्व का निराफुरण ही आरात्तिक्षय है। वृत्तियो को व्रह्म मे लग करना ही प्रणाम है।"

प्रादर्श पूजन का एक श्री रूप शास्त्र मे प्रस्तुत किया गया है—
 शिवशक्तिपरा पूजा योगेन्द्रवं समाचरेत् ।
 मन्त्रोदकर्विना सव्या पूजाहोमविना जपन् ।
 उपाचारविनायाग योगो नित्यं समाचरेत् ॥
 यमादि नियमे पुष्पं आत्मेकादशभि परं ।
 दग्धिक्षु तथा मध्ये यजेत् परमेश्वरम् ॥
 ध्यानिना हि वपु सूक्ष्मं भवेप्रत्यक्षमैश्वरम् ।
 ध्यान यज्ञरतास्तस्मात् देवान् पापाणमृण्मयान् ।
 नायन्त प्रजिपद्यन्ते शिवयाथात्म्यवेदनात् ॥

अर्थात् "जो साधक योग के माध्यम से शिव शक्ति की पूजा करते हैं, उनकी विना मन्त्र और जल के मध्या होती है, उनका जप विना पूजा और होम के होता है। उनका नित्ययज्ञ विना सामग्री के होता है। उनके निषा पाँच यम, पाँच नियम और ग्यारहवाँ मन पुण्य रूप होते हैं, जिनमे दगो ईशान्नो और दग्धीर के मध्य मे ईश्वर का पूजन भरते हैं। इस तरह मे पूजाश्वर या शाम्भवा दग्धे वाले गांवों के समक्ष परमेश्वर का ज्योतिमय गूढ़म शरीर प्रस्तु होता है। ध्यान यज्ञ मे रत्न धक्क जिसे शिव के ज्योतिमय रूप के दर्शन हो जाते हैं, उहे पापाण

ओर मृत्तिका के बने देवताओं की पूजा करने की आवश्यकता नहीं रहती।”

मूर्ति-पूजा का यहाँ खण्डन किया गया हो, ऐसी बात नहीं है। यहाँ तो उपासना के स्तर का विवेचन किया गया है कि जब साधक ऊर्जा भूमिकाओं में प्रवेश करता है, तो उसे आरम्भिक साधनाओं के माध्यमों को छोड़ देना पड़ता है। तन्त्र ने भी इस विचारधारा का ममर्थन किया है और कहा है कि आरम्भ में तो पूजा के लिए वाह्य उपचारों की अपेक्षा रहती है, परन्तु जब साधक प्रगति-पथ पर प्राप्त होता है तो यह माध्यम स्वतं छूट जाते हैं। वह स्वयं इसकी आवश्यकता अनुभव नहीं करता। पहले तो वह पापाण या मृत्तिका निर्मित मूर्ति को ही ईश्वर समझना या परन्तु जब उसकी भावना विकसित होती है, तो वह प्रत्येक मानव पिंड में पशु-पक्षी और कीट-पतंग में तथा फिर सृष्टि के अगु अगु में अपने इष्टदेव के दर्शन करता है। उसमें श्रद्धैर्त भाव की जाग्रत्ति होती है। यही तत्र परापूजा अर्थात् उत्तम पूजा कहलाती है, जिसकी ओर बढ़ने के लिए सभी तन्त्र साधनाओं का विवान बनाया गया है।

• • •

पंचमकार रहस्य

तन्त्र-ग्रन्थो मे पचमकारो की बहुत चर्चा आती है । उनके लम्बे-
चौडे माहात्म्य भी वर्णित किए गए हैं । आध्यात्मिक मकारो की प्रशसा
करते हुए कहा गया है—

मद्य मासञ्च मीनञ्च मुद्रा मैथुनमेव च ।

मकार पञ्चक प्राहूर्योगिना मुक्ति दायकम् ॥

अर्थात् “मद्य, मास, मीन, मुद्रा और मैथुन—यह पाँच आध्या-
त्मिक मकार ही योगीजनो को मोक्ष प्रदान करने वाले हैं ।”

साधारण यह समझा जाता है कि मद्य, मास, मीन और
मैथुन आदि का प्रत्यक्ष प्रयोग का विधि-विवान है । इसीलिए तन्त्र के
विधि-विधानो पर सर्वाविक आक्रोश प्रकट किया जाता है और इसे निम्न
वर्ग की साधन-प्रणाली घोषित किया जाता है । स्पष्ट है कि मद्य, मास
का उपयोग करने वाले तामसिक अथवा राजसिक प्रकृति के ही व्यक्ति
हो सकते हैं, सात्त्विक प्रकृति के व्यक्ति उनका उपयोग तो ग्रलग रहा,
उनका नाम सुनना भी पसन्द नहीं करते । लोक मे भी आध्यात्मिक
दृष्टि से शराबी और मांमाहारियो को हेय दृष्टि से देखा जाता है क्योंकि
निश्चय ही इनका उपयोग तमोगुण की वृद्धि करता है । आध्यात्म-
शास्त्रो मे सर्वत्र इनकी तिन्दा की गई है और इनके त्याग के आदेश दिए
गए हैं ।

मुरापान मे व्यक्ति इनना मन्त्राघूर्य हो जाना है कि विष्णु पुराण मे

अवतारी पुरुष बलरामजी द्वारा कथावाचक सूनुजी की हत्या का उल्लेख मिलता है, जबकि वह मद्यपान किए हुए थे। ऐसे महान् व्यक्तियों से जब इतने अन्यायपूर्ण कार्य हो जाते हैं, तो साधारण व्यक्तियों में तो और भी जघन्य कार्य होने सम्भव हैं। विष्णु पुराण में हो कहा है कि स्यमन्तक मणि को अपने पास रखने वाले का जीवन पवित्र होना आवश्यक है। श्रीकृष्ण ने स्वय कहा है—

आर्यवलभद्रेणापि मदिरापानाद्यशेषोपभोगपरित्याग कार्य
(४११३।१५७)

“अर्थात् “यदि आर्य बलरामजी इसे अपने पास रखते हैं, तो उन्हे अपने मदिरापान आदि सभी भोगों को छोड़ना पड़ेगा।”

महाभारत में स्पष्ट रूप से निषेद किया गया है—

सुरा मत्सया मघु मास मासव कृशरीदनम् ।

धूर्तं प्रवर्तित ह्येतत्रे तद्वेदेषु कल्पितम् ॥१०

मानान्मोहाच्च लोभाच्च लोलेयमेतत्प्रकल्पितम् ।

विष्णु भेवाभिजनान्तिसर्व यज्ञेषु ब्राह्मण ॥११

पायसै सुमनोर्मिवश्च तस्यपि भजन स्मृतम् ।

यज्ञियाश्वैव ये वृक्षा वेदेषु परिकल्पिता ॥१२

—महाभारत शाति०

“सुरा, मत्स्य, शराव, मौस, आसव आदि सब ध्यवहार घूनों का चलाया हुआ है। उसका वेदो में कोई प्रमाण नहीं है। मान, मोह, लोभ और जिह्वा की लोलुपता के कारण यह बनाया गया है। वास्तव में सच्चे ब्राह्मण सभी यज्ञों में उस कण-कण में व्याप्त प्रभु का ही भजन-पूजन करते हैं और वेदों में दिये हुए आदेश के अनुमार यज्ञ में काम आने वाली वृक्षों की समिधाओं का उपयोग करते हैं।”

शराव और मौस में रुचि रखने वालों को दैत्य की सज्जा दी गई है—

मवुमास प्रिया देत्प्राम्नाम गत्वाद्वन्ति च ।

—इष्टपुराण, प्रथम ६

नारद ने एक स्थान पर रहा है—“तिस भग्न में मौम गार मन्त्र में इन का विचार है, वह भग्न केवल भग्न के लिए होता है ।”

विष्णुपुराण में इनमें दूर रहने वालों की मूरि-भूरि प्रगति की गई है—“जो जीवनपर्यन्त रिक्षी प्रकार का मौम नहीं पाता, उसे स्वर्ग में विपुन स्थान प्राप्त होता है । यदि वह मौम पाता है तो सारे जाप, होम, नियम, तीव्रमान वर्ष्य हैं ।”

यास्थो में मौमाहार पर दोपागोपण रुरते हुए उसके त्याग की प्रवल प्रेरणाये दी गई है—

“मौम ने हिमा की प्रवृत्ति बढ़नी है, अधम की वृद्धि होती है, दुख की उत्पत्ति होनी है । इसलिए मौमका त्याग करना ही उपश्रुक्त है ।
—शातिपर्व

चूंकि मौस से धार्मिक, मानसिक, वीद्धिक और आत्मिक उन्नति में बाधा पड़नी है, इसलिए अपने जीवन-क्रम को शातिपूवक चलाने का उपदेश करते हुए भीष्म युविपुर से कहते हैं—

य इच्छेन पुरुषोत्यन्तमात्मान निरुपद्रवम् ।

स वर्जयेत मामाति प्राणनामहि सर्वथा ॥

—महा० अनुशासन पर्व

“जो मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा शाति से चलाना चाहे, उसके लिए आवश्यक है कि वह मौस-भक्षण कभी न करे ।”

मौस भक्षण रसनाका विषय है । एक बार या लेने में वह सहज में ही नहीं ढूट पाता, इसलिए पहले से ही सावधान करते हुए भीष्म पितामह कहते हैं—

दुष्करहि रसज्ञाने मासस्य परिवर्जनम् ।

चतुर्वृत्तमिद श्रेष्ठ सर्वप्राणाय भयप्रदम् ॥

“माँस के रस के स्वाद में आसक्ति हो जाने पर माँस का छूटना कठिन है। माँ-भक्षण करने वाला कभी भी श्रेष्ठ अर्हिसा व्रत का पालन नहीं कर सकता ।”

अनुमष्टा विशसिता नीहन्ता क्रयविक्रयी ।
सस्कृत्योपहर्ता चरवादश्चेती धातक ॥

—मनु० ५।५१

“पशु-वध के लिए सम्मति देने वाला, माँस को काटने, पशु आदि को मारने, वनका मारने के लिए लेने और बेचने, माँस के पकाने, परसने और खाने वाले यह आठ मनुष्य धातक हैं ।”

नाकृत्वा प्राणिना हिंसा मासमुत्पद्यते बवचित् ।
न च प्राणिवध स्वर्गंयस्तस्यान्मास विवर्जयेत् ॥

“प्राणियों के वध के बिना माँस प्राप्त नहीं हो सकता, प्राणों की हिंसा से स्वर्ग उपलब्ध नहीं होता, इसलिए मास का त्याग करना चाहिए ।”

शास्त्रो मेर्माँस न खाने वालों की प्रशसा इन शब्दों में की गई है—

वष वर्षेऽमेघने यो यजेन शत समा ।
मासानि चन खादेयस्तयो पुण्यफल समम् ॥

—मनु० ४।५३

“माँस-भक्षण न करने वाले और सौ वर्ष तक अश्वमेघ यज्ञ करने वाले को समान फल की प्राप्ति होती है ।”

याज्ञवल्क्य स्मृति में माँस न खाने वाले की प्रशसा की है।
यथा—

मव्वी-कामानवप्तोति तयमेघफल तदा ।
गृहेषि निवसन्त्वद्वो मुनि मास विवर्जनात् ॥

—आचार्य प्रकरण ७, इलोक १८०

“विद्वान् सभी इच्छाश्रो तथा अश्वमेव के फल को पाता है, वह गृहस्थ मुनि है, जो मांस-भक्षण नहीं करता।”

मैथुन काम-वासना की तृप्ति का साधन है। उससे काम का वेग बढ़ता है, जो आध्यात्म-मार्ग की महान् वाधा है। गीताकार ने तो काम से सवस्व-नाश की घोषणा की है—

ध्यायतो विषयान्तु स मगस्तेपूपजायते ।
सगात्सञ्चायते काम कामात्कोघोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भूवति सम्मोह सम्मोहात्सृतिविभ्रम ।
सृतिभ्रशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
रागद्वेषवियुक्तेस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन ।
आत्मवश्यैविधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

—गीता २१६२-६४

अर्थात् “विषयों का चिन्तन करने से इनमें सग बढ़ता है। सग से वासना की उत्पत्ति होती है कि हमें काम चाहिए। जब काम की तृप्ति नहीं हो पाती है, तो क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से समोह अर्थात् अविवेक होता है, समोह से सृति भ्रशा, सृति भ्रशा से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से सवंस्वनाश हो जाता है।”

इन्द्रियाणा हि चरता यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञा वायुनर्विमिवाम्भसि ॥

—गीता २१६७

अर्थात् “विषयों में सचार अर्थात् व्यवहार करने वाले इन्द्रियों के पीछे पीछे मन जो जाने लगता है, वही व्यक्ति की बुद्धि को ऐसे हरण करता है जैसे कि जल में नाव को वायु खीचती है।”

शास्त्र सुरा, मांस और मैथुन आदि का विरोध करते हैं। तत्त्व वेदादि शास्त्रों के अनुकूल हैं, विरोधी नहीं। जो आध्यात्मिक विचारधारा इन शास्त्रों में वर्णित की गई है, उनकी साधन-प्रणाली का प्रति-

पादन तन्त्रो मे किया गया है। सभी शास्त्र एक स्तर से मध्य, माँस और मयुन आदि को आत्मिक उत्थान मे बावक समझते हैं, तो तन्त्र उनके प्रत्यक्ष प्रयोग की आज्ञा कैसे दे सकते हैं? वास्तव मे तन्त्रो की भाषा साकेतिक है, उन्हे उसी रूप मे अमझना उपयुक्त रहेगा। तन्त्रो मे इन सकेतो को दो रूपो मे व्यक्त किया गया है—अनुकल्प और दिव्य। उनका विचार सभी मकारो मे किया जाएगा।

मध्य—

मध्य का अनुकल्प नारियल का पानी है। 'कुलार्णव तन्त्र' मे नारियल का पानी और दूष दोनो का वर्णन आता है। योगिनी तन्त्र मे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए प्रलग अलग अनुकल्प दिए गये हैं—

तेषा विष्वि शृगुष्वाद्य मत्तस्त्वं कुलनायिके ।

गुड्डिकरसेनैव सुरा तु ब्राह्मणस्य च ॥

अर्थात् “हे कुल-नायिके ! उसकी विष्वि का अवण करो। गुड्ड और अदरक का रस मिलाने से ब्राह्मण की सुरा बनती है।”

नारिकेलोदक कास्ये क्षत्रियस्य वरानने ।

वैश्यस्य माक्षिक प्रोक्त कास्यस्थ वरवर्णणि ॥

अर्थात् “कासी के पात्र मे नारियल का जल क्षणिय की और कौसी के पात्र मे मधु वैश्य की सुरा कही गई है।”

जहाँ सुरा का विधान है, वहाँ पूजा मे इन वस्तुओं का प्रयोग अभीष्ट है। सुरा के दिव्य रूप का प्रभिप्राय इस प्रकार है।

अन्तर्योग मे कुण्डलिनी शक्ति को ही सुरा कहते हैं—

न मध्य माधवी मध्य शक्तिरसोद्भवम् ।

सामरस्यामृतोल्लास मयुन तत्सदाशिवम् ॥

‘मध्य से मदिरा का तोत्पर्य नही है वरन् शिव-शक्ति के सयोग

से जो महाव् अमृतत्व उत्पन्न है, वही वास्तविक शक्तिप्रदायक रस है।’

व्योम पक्जानिष्पन्द सुधापानरतो भवेत् ।
मद्यपानमिदं प्रोक्तगितरे मद्यायिन ॥

“ब्रह्मारन्धा सास टल से जो सवित होता है, उसां पान करना ही मद्यपान है । इसने अतिरिक्त पीने वाला मद्यप है ।”

ब्रह्मास्थानं सरोजपात्रलसिता ब्रह्माण्डतृप्तिप्रदा ।

या शुभ्राशुक्ला सुधाविगलिता सा पानयोग्या सुरा ।
सा हाला पिवतामनर्थं फलदा श्रीदिव्यभावाश्रिता ।
यामित्या मुनय परार्थकुशला निवरणमुक्ति गता ॥

—तत्त्वतत्त्व प्रकाश

“जो सहस्रार कमलहरी पान में भरी है और चन्द्रमा कलासुधा से लवित है वही पीने योग्य सुरा है । इसका प्रभाव ऐसा होता है कि वह सब पकार के अशुभ कर्मों को व्यथ कर देती है । इसीके प्रभावसे परमार्थ शुशल मुनियों ने मुक्ति रूपी फल को प्राप्त किया है ।”

यदुक्तं परम ब्रह्म निविकारं निरजनम् ।

तस्मिन् प्रमदनज्ञानं तन्मद्यं परिकीर्तितम् ॥

“निविकार, निरजन, परम्यता के विषय में योग-साधना हारा जो प्रमदन-ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको मद्य कहते हैं ।”

मार्कंगात्रे पुराण मे लिया है कि देवी जब युद्ध मे रत रहती थी, तो सुरा का पान करती थी । यही मद्य का अभिप्राय अभिमान और उन्मत्त आचरण से है । देवी इससे घून्य होकर सघर्ष मे फूटती थी । नारद भवितसूप मे ईश्वर का यही गुण बताया गया है—

ईश्वरस्याभिमानद्वेषत्वाद्वैन्यप्रियत्वाच्च ।

वह दीनों का बन्धु और अभिमान का द्वेषी है । अहकारी को भीना मे अज्ञानी छहा गया है—

तत्रैव सति कर्त्तारमात्मानं केवल तु य ।

पश्यत्यकुरुद्वित्वान्नं स पश्यति दुर्मति ॥ १८॥१६

अर्थात् “जो सस्कृत-तुद्धि न होते के कारण यह समझे कि मैं अकेला ही कर्ता हूँ, ममभना चाहिए कि वह दुर्मति कुछ नहीं जानता।”

इसलिए भगवान् परामश देते हैं कि—

मच्चित्तं सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।

अथ चेत्वमहकारान्तं श्रोष्यसि विनक्ष्यसि ॥

१८।५६

“यदि तू मुझमें चित्त रखेगा, तो मेरी कृपा से सकटी को पार कर नेगा। परन्तु अहकार के वशीभूत होकर मेरी ओर ध्यान न देगा, तो नाश को प्राप्त होगा।”

प्रश्नोपनिषद् ३।१।४ में लिखा है कि ईश्वर को जानने वाले में अहकार का अभाव रहता है—

प्राणो ह्येप य सर्वभूतैर्विभाति

विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी ।

“यह परमेश्वर ही प्राण है, जो सब प्राणियों के द्वारा प्रकाशित हो रहा है। इसको जानने वाला ज्ञानी अभिमानपूर्वक बढ़-बढ़कर वातें, करने वाला नहीं होता।”

अत तन्त्र-साधक को देवी की तरह इसी सुरा का पान करना चाहिए, तभी उसकी आत्मा शक्तिशाली होगी और वह आत्म-साक्षात्कार के योग्य हो सकेगा। यदि इम सुरा का पान नहीं किया जाता अर्थात् अहकार का नाश नहीं किया जाता तो सौ कल्पों में भी ईश्वर-दर्शन करना असम्भव है।

मांस—

मांस का ग्रनुकल्प है लवण, अदर्क, लहसुन, तिल और गेहूँ की वाणें। योगिनी तन्त्र में कहा है—

मास मत्स्यन्तु सर्वेषां लवणाद्रकं मोरितम् ।

अथर्वा 'मरुरा मौरि प्रोग मत्स्य लभण तया अदरक वताया गया है ।'

कुनार्णव तन्म से भी मौरि के त्यान पर लभण, अदरक गेहूं गा लहगुन से पूजा दिग्दाया गया है । मौरि के लिए दिव्य रूप है— समस्त वस्तुप्रो शो अन्तर्यामी ईश्वर शो मर्मित करना ।

—कौलिकाचन तन्म

मौमाहार का प्रतीकात्मक स्पष्टीकरण करते हुए श. लो मे कहा है—

माशव्दाद्रपना ज्ञेया तत्त्वान् रमनाप्रिये ।
सदा यो भक्षयेददेवि स एव मास साधक ॥

"हे रमनाप्रिये । मा रमना—शब्द का नामान्तर है, वाक्य उक्ता अश है । जो सदा सर्वदा उस वाक्य की भवना करता है अथर्वा जो वारु सप्तम करके मौत रहता है, वही वाऽत्व मे मौर-साधक है ।"

पुण्यापृष्ठ पशु हत्वा ज्ञान खड़गे योगवित् ।
परे लय नयेत् चित्तम् मासाशी स निगद्यते ॥

"पुण्य पापरूपी पशु को ज्ञानरूपी खड़ग से मारकर जो योगी मन को ब्रह्म से तीन करता है, वही मज्जा मौमाशी (मौसाहारी) है ।"

काम क्रोध सुलोभमोहाशुक्षाशिछन्वा विवेकासिना ।
मासनिर्विषय परमात्मसुखद खादन्ति तेषा बुधा ॥
ते विज्ञान परा घरातल सुगस्ते पुण्यवन्तो नरा ।
नाश्नीयात्पशुमासमात्मविमतेहिमापर सज्जन ॥

—तत्त्वतत्त्व प्रकाश

"काम, क्रोध लोभ, मोह आदि पशुप्रो को विवेक रूपी तलवार से मारकर उसको भक्षण करे और इपरो को मुख पहुंचावे, वही सच्चा बुद्धिमान है । ऐसे ही ज्ञाना और पुण्यर्थीन जन पृथ्वी के देवता कहे जाते हैं । ऐसे सज्जन कभी पशु मौरि का प्रशोग करके पापी नहीं बनते ।"

पशु वश से मांस की प्राप्ति होनी है। माँम-लोलुपो ने उपासन के अतिरिक्त हवन-यज्ञों में भी अर्थका अनर्थ करके पशु-वश करना आरभ किया था उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उपनिषद् के अनुमार—

काम क्रोध लोभादय पशव ।

अर्थात् “काम, क्रोध, लोभ, मोह—यह पशु हैं इन्हीं को मारकर यज्ञ में हवन करना चाहिए ।”

‘महानिर्वाण तत्त्व’ में भी इसी ग्राथय का इनोक आया है—

काम क्रोध सुलोभ मोह पशु काच्छित्वा विवेकासिना ।

मास निविपय परात्म सुखद भुज्जति तेपा बुधा ॥

—भैरव यामल

अर्थात् ‘विवेकी पुरुष काम क्रोध, लोभ और मोह रूपी पशुओं को विवेकासी तत्त्वार में काटकर दूषणे प्राणियों को सुख देने वाले निर्विषय स्त्रप मास का भजण करते हैं ।’

कामक्रोधी द्वौ पशु इमावेव मनमा वलिमर्पयेत् ।

कामक्रोधी विघ्नकृतौ वलि दत्तवा जप चरेत् ।

“काम और क्रोध रूपी दोनों विघ्नकारी पशुओं का वलिदान करके उपासना करनी चाहिए, यही जाग्रोक्त वलिदान का गहस्य है ।”

अनन्द्वारिक रूप से यह आत्म-शुद्धि की, कुविचारो, पाप तापो, क्षयाय कल्पणों से बचने की शिक्षा है।

गीता में लिखा है कि मन और वृद्धि को अपण करना चाहिए (१२।८) किन्तु विषयाक्त मन वृद्धि की सज्जा पशु है और अपण ही वनि है।

परमायमार में लिखा है कि ‘मायापरिग्रह वशाद् वोवो मनिन पुमान् पश भवति’ अर्थात् माया के कारण मनिन वृद्धि होने से मनुष्य पशुभाव को प्राप्त होता है। नन्त्रमें वहाँ—‘इन्द्रियाणि पश्चन हृत्वा’ अर्थात् इन्द्रिय रूप पशु का वश करे।

एक विद्वान का कहना है कि पशु जगत् में इन्द्रियाँ सर्वोपरि हैं और उन्हीं का मवानन वर्डी प्रवान माध्यत है। किन्तु मनुष्य में जीवात्मा सर्वोपरि है और जीवात्मा तथा इन्द्रियों के मध्य में अन्तरण है। इनके पशु स्वभाव को कामात्मक स्वार्थ के लिए व्यवहृत न कर ईश्वर के अनेक होने के सकल (एकोऽह वहुस्याम्) अर्थात् इन्द्राशक्ति की, जिसी सज्जा महाविद्या है, पूनि रूपी यज्ञ में व्यवहृत होने के लिए महाविद्या को समर्पित करना अर्थात् ईश्वर के दिव्य गुण, शक्ति, मामर्थ आदि को प्रकाशित करने योग्य बनाना ही यथार्थ पशु बलि है। जीवात्मा रूपी होना को सद्गुरुद्वि रूपी सूक्ष्मा में इस पशु-स्वभाव के साथ स याजित कर ब्रह्माग्नि में अपण करना अर्थात् ब्रह्म के निमित्त सृष्टि-हित कार्य में प्रवृत्त करना ही, यज्ञ में इनकी बलि करन है।

तन्त्र के एक प्रसिद्ध लेखक ने अपने एक ग्रन्थ में बहुरे को काम, भैसे को क्रोध, विलाव को लोभ, मेहे को मोह और ऊट को मात्सय कहा है और इन्हीं विकारों के त्याग को पशुबलि कहा है।

यजुर्वेद में ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनसे यह अभिप्राय निकलता है कि अग्नि, वायु और सूर्य ही पशु हैं। यथा—

अग्निं पशुरासोत्तेनायजन्त ।

अर्थात् अग्नि पशु था, उस द्वारा यज्ञ किया।

वायुं पशुरासीत्तेनायजन्त ।

अर्थात् वायु पशु था, उस द्वारा यज्ञ किया।

सूर्यं पशुरासीत्तेनायजन्त ।

अर्थात् सूर्य पशु था, उस द्वारा यज्ञ किया।

एतरेय ब्राह्मण (१।२।१०) में 'पशवो व इवा हृष्णा' इस पृथ्वी को ही पशु कहा गया है। क्या इन सबको काट काटकर होमा जायगा? अन्न से बनी हुई वस्तु तथा (रोटी और पूरी आदि) खाद्य पदार्थों को भी पशु माना गया है।

चरक सहिता मे 'अर्ज' औपवि वा दर्शन है—
अजाना -मौपधि रज पृष्ठति विज्ञायते ।

—चरक सहिता प्र०

वया उपरोक्त वाक्य मे वर्णित अजा वूटी के स्थान पर बकरी तो औपवि बनावेगा ?

महाभारत मे भी अजा का अर्ध औपवि और बीज ही किया गया है—

बीजं यज्ञोपु यष्टिच्य मिर्ति वा वैदिको श्रुति ।

अज सज्जानि बीजानि, द्वाग तो हन्तुमह्य ॥

नप धर्मं सत्ता देवा यत्र वध्येत वै पशु ।

—महाभारत शान्ति ३३७

अर्थात् "बीजो का यज्ञ मे हृतन करना चाहिए, ऐसी ही वेद की श्रुति है । अज सज्जक बीज होते हैं । इसलिए वकरे का हृतन करना चर्चित नहीं, जिस कर्म मे पशु को हत्या होती है, वह सज्जनो का वर्म नहीं ।

वैद्यक ग्राथो मे एनेक पशुवाचक शब्द आते हैं । यथा—

श्रश्व=श्रश्व गन्धा । ऋषभ=श्रृष्टभक कन्द । श्वान=कुकुर-मुत्ता । वराह=वराहीकन्द । काक=काकमाची । अज = अजमोद । मत्स्य=मत्सयाक्षी । लोम=जटामारी । महिष=महिपाक्ष गुगुल । नेप=चकवड, मेपपर्णी । मातुल=घृतूरा । मृग=सहदेवी वूटी । पशु=योथरा । कुमारी—विवकुमारी । रुधिर—केशर । पेश—जटामासी । हृद—दारचीनी ।

पशुवाचक शब्दो के ग्रन्थ प्रकार के भी अर्थ होते हैं—

(१) अज या छाग—दोन या सात वर्ष के पुराने घान, राशि-चक्र मे की नेप राशी ।

(२) घेनु—घाना (अथव १२४ ३२), पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौतोक, दिशाएं आदि (अथव ० ४१३६) ।

(३) गो—तरहुने, यमीवृक्ष (ऋग्वेद १०१३।१०) रस्मि, चन्द्रमा, दूध, चम घनुप का ढोरी आदि (निहक्त अ० २, पा० २, ख० १—३) ।

(४) अश्व—तरहुन के वरा (अथव ० वा० ११, सू० ३ पर्याय १, म० ५) सूर्य, अश्वपर्णि या अमगन्धा ओपवि (यजु० २१।२८), एक नक्षत्र आदि ।

(५) अक्षा—सोम ओपवि आदि (ऋग्वेद १०।२८।११) ।

(६) वृषभ—ओदन (अथव ० ११।१।३५), वादन, ऋषभ ओपवि आदि ।

पुरुष-सूक्त में लिखा है कि 'अवधन्द्र पुरुष पशून्'—अर्थात् ईश्वर को ही पशु मान यज्ञ में समर्पण किया, ईश्वर के अपने को यज्ञ, भथवा वलि करने से ही सृष्टि हुई और ऋषि, देवता आदि ने भी उन्हीं की शक्ति की वलि अथवा प्रयोग कर सृष्टि-यज्ञ किया, यही आदि पशु-वलि हुई ।

यदा पिष्ठान्यथलोमानि भवत्ति ।

यदाय आनयति अथ त्वग्मवाति ।

यदासयोत्थय मास भवति । सतत इव हि तिर्हि ।

भवति सततमिव हि मास यदाशृतोऽथास्थि भवति ।

दारुण इव हि तिर्हि भवति । दारुण मित्थास्थि ।

अथ यदुद्वासयब्रभिधारयति त मज्जान ददाति ।

ऐषो स सम्पद्यदाहु पाच्म पशुरिति ।

— शतपथ १।२।३।६

अथति "अन्न का पिसा हुआ आटा ही रोम (बाल) है । जब उस पिसे हुए आटे से जल मिलाते हैं, तो वह चमड़ा हो जाता है (क्योंकि चमड़े के समान कोमल होता है) जब वह आटा गूँधा जाता

है। जब वह सेंका जाता है, तब वह अस्थि कहलाता है (क्योंकि अस्थि कटी होनी है) जब उमसे धी डाला जाता है, तो उसका नाम मज्जा होता है।

पशुहं वा एप आलम्भते यत्पुरोडश । —शतपथ १,२,३,५
अर्थात् “निश्चय ही पुरोडाश (चावल या जी की पीठी) ही पचु है।”

म यावद्वीयवद्वास्य हृविरेव भृति, य एदमेतद्वेदात्रो सा सम्पदददाहु पाक पशुरिति । —शतपथ १, २, ३, ७

अर्थात् “मव पशुओं के आलम्भन में जितना फल है, निश्चय इस म उतना ही हृवि, धान और जी से होता है। पाँचों पशुओं—गी, अनन, पुस्प, अज और हृवि की श्री इसी हृवि में विद्यमान हैं।”

ऊपर की पक्षियों से स्पष्ट है कि चावल या जी की पीठी ही पशु है। अत यज्ञ में इन्हीं का हवन करना चाहिए, न कि मांस द्वारा पशुओं का वध करके।

ऐसे ही प्रमाण एतरेय ब्राह्मण (२।२।२१) में भी मिलते हैं—

पशुभ्यो वी मेघ उदक्रमहतो व्रीहि वचेवे यवश्च भूतावर्जयाताम् ।

“पशुओं में से हवनीय तत्व पृथकी में चला गया, जो चावल और जी के इस में ऊपर आया है।”

ब्राह्मण ग्रन्थ का यह वाय पशुओं के वलिदान का स्पष्ट निपेध करता है और चावल तथा जी के आटे की ही वलि देने का आदेश देता है।

यान्त्रारो के ऊपरोक्त वचनों में स्पष्ट है कि पशु-वघ, मांसाहार न्रवा पशु-वनि आदि के अलद्वारिक अर्थ हैं, जिन्हे न ममभकर प्रत्यक्ष व्यवहार होते लाएं, जो शथ ना आय और दोर जघाय काय है।

पुराणों में भगवती के साथ राक्षसों का जो युद्ध-वर्णन है, उसमें

॥४॥ ते इनमें भगवं रादसो ने गीता और रथत सूरा जाते हैं। सामना इसीताएँ कृषियों ने यह प्रत्यना कर ली है जिस गीता रथत-गीता राठी है अथवा वह इनमें अनंत से प्रसान्न होती है। यह प्रतीकात्मक पर्यान भयों की ही सदृशा है। यह प्रत्यक्षा गीता में तुलन विधान से पश्ची भी उत्तम तीर्ति ही सप्तरी और न ली ऐसे निर्दयी राधक को भगवं कर सकती है। ॥५॥ तो इसके इस्तु इसमें समाई तुल्य है, कौन-सा ऐसा रथान है, जो यह नहीं है। कौन-सा ग्राणी है जिसमें यह नहीं है।

इतेताइत्वतरोगनिष्ठद का यद्दी गद्धना है —

त्वं सनी त्वं पूमातसि त्वं युगार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वज्ञनसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुख ॥

—४१३

धर्मात् 'तु ली है, युष्म भी तू है, तु भी युगार और कुमारी है, तू युग छोकर आठी के साथे से पाताहा है और तू ही उत्तम होकर सध और युग यापा हो जाता है।'

तीतः पतञ्जो हरितो लोहिताध —

स्तउन्दगर्भं ऋतवः सम्ब्रां ।
ग्रन्तिगत्वं विशुद्धेन वर्तसे,
यतो जातानि भुवनानि विद्वा ॥

—४१४

धर्मात् "ए ही तीत पतञ्ज ८, हरे रंग का छोर लोहित यर्ण के नन पापा है, तू गोप, पर्यु और सस समुद्र है, युग से ही रथ लोह पूलट चुए है। तू भगवं प्रकृति का स्पायी है और समये व्याप्त ही रहा है।"

गदि यह सत्य है जो मौली उपासना के विधान में गीत के प्रत्यक्ष प्रयोग की कभी भी शाखा नहीं पी जा सकती। गदि कोई साधक ऐसा फरसे भी है तो यह शायती के कोण-भाजन ही बनेगे, कगोकि यह

मत्स्य—

तन्त्रो मे मत्स्य का विधान लिखा है। उसका अनुकल्प है लाल मूळी और बैगन आदि। योगिनी तन्त्र के अनुसार—

मास मत्स्यन्तु सर्वेषा ,लवणाद्रकमीरितम् ।

अर्थात् “सबका मौस, मत्स्य (मछली) और लवण आदिक कहा गया है।”

कुलार्णव तन्त्र मे भी जहाँ मत्स्य का विधान है, वहाँ बैगन, मूळी या या पानीफल अपित करने का विधान है। श्री एम० पी० पण्डित ने मत्स्य का प्रतीकात्मक रूप इस प्रकार लिखा है—“ममत्व की भावना मत्-स्य, स्वय से तादात्म्य जिसके फलस्वरूप विश्व के सुख-दुःख दोनो ही समान भोग्य हो जाते हैं।”

मत्स्य और उसका सेवन करने वाले सच्चे मत्स्य-साधक के शास्त्रो मे इस प्रकार लक्षण दिए गए हैं—

मानसादीन्द्रियगण सयाम्यात्मानि योजयेत् ।

समीनाशो भवेद् देवि इतरे प्राणं हिंसका ॥

“मन आदि सारी इन्द्रियों को वश मे करके आत्मा लगाने वाले को ही सीनाशो कहते हैं। दूसरे तो जीव हिंसक हैं।”

अहकारो दम्भो यदपि शुनतामत्सरद्विप ।

षडेतान्मीनान् वै विषयहर जालेन विघृतान् ॥

पचन् सद्विद्याऽग्नो नियमित् कृतिर्धीविरकृति ।

सदा खादेत्सर्वन्नं च जलचराणा षु पिशितुम् ॥

—तन्त्र तत्त्व प्रकाश

“अहकार, दम्भ, मद, पिगुनता, म-म-, द्वे-ष—ये छ मछलियाँ हैं। इन्हों धीमर की तरह विषय-विराट रूपी जाल में पकड़े। उनके सद्विद्या रूपी धग्नि पर पकाकर नियमपूर्वक काम में लाता रहे। इसके

अनिरक्षित जल मे रहने वाली पञ्चनियों को खाना तो सर्वया धर्म विलङ्घ पापकर्म है ।”

यत्समान सर्वभूले सुख दुःख मिद प्रिये ।

इति यत्मात्तिवरुदान तत्पत्स्य परिकीर्तिः ॥

‘मव प्रकार के मुख-दुःखों मे मेरी ही भौति समझाव रखना चाहिए । यह सत्तिवरु ज्ञान ही मत्स्य है ।’

गगायमुनोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौचरत् सदा ।

तौ मत्स्यौ भक्षयेद् यस्तु स भवेन्मत्स्य साधक ॥

“गगा-यमुना के भीनर मदा ही दो मत्स्य विचरण करते रहते हैं । जो व्यक्ति उन दोनों का भक्षण करता है, उसका नाम मत्स्य-साधक है । गगा-यमुना से प्राशय है मानव शरीरम्य इडा और पिगला नाड़ी का । उनमे निरन्तर बहने वाले श्वास प्रश्वास ही दो मत्स्य हैं । जो व्यक्ति प्राणायाम द्वारा इन श्वास-प्रश्वास को रोककर कुम्भक करते हैं, वे ही यथाय मत्स्य-साधक हैं ।”

मनमा चेन्द्रियगण सप्तस्यात्मनि योजयेत् ।

मत्स्याशी स भवेद्वेवि शेषा स्यु प्राणि हिमका ॥

धर्यात् “अपनी समस्त इन्द्रियों के समुदाय का भलीभांति सप्तम करके मन से खूब नियन्त्रित करके फिर आत्मा से योजित करना चाहिए । हे देवि । यह मत्याशी होता है । शेष अन्य प्राणियों के हिमक ही होते हैं ।”

उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि इन्द्रियों का वशीकरण, दोषों तथा दुर्गुणों का त्याग, साध्यभाव तो सिद्धि और योग-साधना मे रत रहना ही मत्स्य का ग्रहण करना है । इस साकेनिक भाषा को न समझ कर प्रत्यक्ष मत्स्य के द्वाग पूजन करना अर्थ का अन्तर होगा और साधना-छेत्र मे एक कुप्रवृत्ति को वढ़ावा देना होगा ।

'मत्स्य' शब्द वडा महरूपूर्ण है। इसके नाम से एक ग्रन्थ पुराण की रचना की गई है। मत्स्य पुराण में नृष्टि-रचना के अन्य भारणों के नाय एक कारण मत्स्य को भी बनाया गया है। वहाँ मत्स्य का अभिप्राय एक प्रकार का प्राण है, जो जातु के वीच में केन्द्रित हो जाता है और विषुवन रेवा में उत्तर त्रूत्र और दक्षिण त्रूत्र तक भ्रमण जाता रहता है। इसी क्रिया को भौतिक नृष्टि के उत्पन्न होने का कारण बनाया गया है।

मत्स्य पुराण में मत्स्य को भगवान का रूप दिया गया है। भगवान विष्णु स्वयं मत्स्य का रूप धारणा करते हैं और राजपि सत्यव्रत का आनामी प्रलय के प्रति भाववान करते हैं। उन्हें वे बचाते भी हैं। यहाँ मत्स्यवत्त ने अभिप्राय वैवस्वत मनु से है, जो जगत् के मूल वीजों को मुरक्कित रखने के लिए तप का व्रत लेते हैं। मत्स्य रूप भगवान न मनु की पीक्षा नी। उन्होंने एक मध्यान् काय-भार अपने कन्धों पर लिया था, अत उन्हें अहङ्कार का महारोग न हो जाए उन्हें भाववान किया। पहले वह एक मत्स्य के नृप में प्रस्तुत हुए, वडे होने गये—इतने वडे हो गये कि समुद्र में भी नहीं समा पाए। तब मनु का अहङ्कार तिरोहित हो गया और वह समझ गए कि यह भगवान का ही प्रतिरूप मत्स्य है। भगवान विष्णु ने मत्स्य रूप में अवतार लिया। इस पवित्रतम् नृप का उसे श्रेय दिया गया, उस पवित्र रूप की हम पूजा-उपासना करते हैं। उसे काटकर खाना एक ऐसा अपराध होगा, जिसे भगवान कभी नमा नहीं करेगे।

पुराणों में विष्णु के मत्स्य रूप ग्रहण करने का आवार कुछ विवरण यह मानते हैं कि क्षुरवेद में इन्द्र को जन्म में निवास करने वाला महाभूत्य बनाया गया है। विष्णु जो उरोन्द—छोटा इन्द्र, इन्द्र का भाजा आदि की उपाधि तो वेद में दी ही नहीं है। अत सम्भव है इस रूप का अवतार ऐसे ही हुआ हो। इन्द्र दृढ़ म परमात्मा या वाचक ताम है। अत मत्स्य को ईश्वरीय विनूनि दी दापित्र किया गया है।

अन्य देशों में भी यह पवित्रता की प्रतीक थी। मिस्र में माता 'श्राइसिस' की जो मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं, उनके सिर पर 'मत्स्य' की स्थापना दृष्टिगोचर होती है। इसे वह विश्व की पिता-शक्ति का प्रतीक मानते थे। इसी कारण से प्राचीन काल में वहाँ मन्दिरों में विवाह बनाया गया था कि वहाँ के पुजारी मर्स्य को ग्राहार रूप में न खा सकेंगे।

Myths of Babylon and Assyria पुस्तक में लिखा है कि सुमेरी सभ्यता में एरिद नगर का 'या' देवता माना जाना था। इस 'या' देवता का रूप मत्स्य जैवा था। इसमें स्पष्ट है कि सुमेर में प्राचीन काल में मत्स्य रूपी देवता की रूपा होनी थी।

इससे मत्स्य पवित्रता का ही प्रतीक सिद्ध होता है। इसको इनी रूप में ग्रहण करना उपयुक्त है।

मुद्रा—

मुद्रा के माहात्म्य का वर्णन करते हुए कुनार्णव तन्त्र में कहा गया है—

इत्यादि पञ्चमुद्राणा वासना कुलनायिके ।

ज्ञात्वा गुरुमुखाददेवि य सेवेत स् मूच्यते ॥

"हे कुलनायिके ! हे देवि ! ये उपर्युक्त पथ मुद्राओं की वासना को गुरु के मुख से समझकर और ज्ञान प्राप्त करके जो सेवन किया करता है, वह मुकिन की प्राप्ति किया करता है।"

मुद्रा का अनुकूल्य है चावल, धान। योगिनी तन्त्र में कहा है—

ऋष्टघान्यादिक यद्वच्चर्णाणीय प्रचक्षते सा मुद्रा ।

"ऋष्ट घान्यादि अर्यति जो भुने हुए चर्वणीय द्रव्य हैं, उन्हीं को मुद्रा कहते हैं।"

कुलार्णव तन्त्र में चावल, गेहूँ ग्रयना धान को ही मुद्रा के स्थान पर चढ़ाने के लिए आदेश दिया गया है।

मुद्रा का दिव्य रूप है—वुराडयों का त्याग। ज्ञान की ज्योति से अपने अन्तर को जगमगाने वाला ही मुद्रा-साधक कहा जाता है। शास्त्रों के अभिवचन भी यही उिद्ध करते—

आगा तृष्णा महामुद्रा ब्रह्माग्नी परिपाचिता ।

ऋपयऽश्चिनन्त नियत चतुर्थी सौंव कीर्तिता ॥

—कैलाश तन्त्र द० पटल

अर्थात् “आशा और तृष्णा महामुद्रा हैं, जो ब्रह्म की अपनि में परिपाचित होती हैं। ऋषिगण नियत रूप ने इनका अशन कर जाते हैं, वही चतुर्थी कही गई है।”

सहस्रारे महापद्मे कर्णिकामुद्रितश्चरेत् ।

आत्मा तत्रैव देवेशि केवल पारदोपम ॥

सूर्यकोटि प्रतीकाज. चन्द्रकोटि मुजीतल ।

अतीव कमनीयश्च महाकुण्डलिनी युत ॥

यस्य ज्ञानोदय स्तत्र मुद्रासाधक उच्यते ।

—आगम सार

“हे देवेशि ! महापद्म में मुद्रित कर्णिका के अन्दर पारद की भाँति आत्मा का निवास है। यद्यपि उसका तेज करोटों सूर्यों के समान है, परन्तु स्तिंघर्ता में वह करोडो चन्द्रमाश्रों के तुल्य है। यह परम पदार्थ अनिश्चय मनोहर तथा कुण्डलिनी शक्ति समन्वित है। जिसके अन्तर में यह ज्ञान उदय हो जाता है, वही यथार्थ मुद्रा साधक है।”

आगा तृष्णा जुगुप्साभय विशदघृणा मान लज्जा प्रकोपा ।

ब्रह्माग्नवष्ट मुद्रा परसुकृतिजन पच्यमाना समन्तात् ॥

नित्य समक्षयेत्तानवहितमनसा दिव्यभावानुरागी ।

योऽसौ ब्रह्माडभाडे पशुहति विमुखो रुद्रतुल्यो महात्मा ॥

—रन्त्र तत्त्व प्रकाश

“भाजा, तृष्णा, जुगुप्सा, भय, घृणा, घमण्ड, लज्जा, कोप ये

आठ कप्टदायक मुद्राएँ हैं। सत्कर्म में निरत पुरुषों को इन्हे व्रह्माद्य अग्नि में पका डालना चाहिए। दिव्य भावानुरागी सज्जनों को सदव इनका सेवन करके नार ग्रहण करना चाहिए। ऐसे पशु-हत्या में विरत सावक ही पृथ्वी पर रिव के तुल्य माननीय पदबी प्राप्त करते हैं।”

सत्सगेत् भवोन्मुक्तिरसत्सगेषु वन्धनम् ।

असत्सग मुद्गुणे यत् तन्मुद्र परिकीर्तितम् ॥

—विजय तन्त्र

“सत्सग मुक्ति प्राप्त होती है और असत्सग से वन्धन हाता है। अनेव असत्सग त्यागने का नाम मुद्रा है।”

मन्त्रार्थं मन्त्रचतन्यं योनिमुद्रा न वेत्ति य ।

शतकाटिजपेनाऽपि तस्य सिद्धिर्न जायते ॥

—मन्त्र मुखतावली

अर्थात् “मन्त्र का अर्थ और मन्त्र-चैतन्य की योनि मुद्रा जो पुरुष नहीं जानता है, वह चाहे सौ करोड़ भी जप वयो न करे उसको कदापि मिद्दि नहीं होती है।”

मुद्रा शब्द ‘मुद’ धातु से बना है, जिसका अर्थ है प्रसन्न करना। उपासना में इसका नामकरण इमलिए किया गया है क्योंकि इससे देवताओं को प्रसन्नता होती है।

देवानाम मोददा मुद्रा ।

और भी—

मुद कुर्वन्ति देवाना मनोसि द्रावयन्ति च ।

तस्मान्मुद्रा इति ख्याता दशितव्या कुलेश्वरि ॥

—कुलार्णव तन्त्र

“हे कुलेश्वरि ! देवताओं का मुद अर्थात् आनन्द उत्पन्न करने से और उनके मन को उपासन के प्रति द्रवित कर देने से मुद्रा—यह नाम पड़ा है, जो कि अवश्य ही देवों वो दिखानी चाहिए।”

उपासनाकाल में आत्मिक भावो को व्यक्त करने के लिए बाह्य शरीर की जो विशेष भगिमाएँ हैं, उन्हे मुद्रा कहते हैं। यह उपासक के आत्मिक भावो की भाषा है, जिसके माध्यम से वह अपने इष्ट देवता से वार्तालाप करता है, क्योंकि बाह्य रूप से उसके शरीर के अवयवों का सचालन होता है, वह उसके हृदय और मन का प्रतीक माना जाता है। हाथों और श्रृंगुलियों की महायता से बनाई गई यह भगिमाएँ जब बार-बार उसी रूप में बनाई जाती हैं, तो वह आत्मिक भावों का रूप ही बन जाती हैं। ऐसा लगता है जैसे सूक्ष्म ही स्थूल आकार से साकार हो गया है और दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

मुद्राओं की संख्या १०८ है। आवाहन, विमर्जन, अर्ध्य आदि उपासना के सभी अगों के लिए मुद्राओं का विधान है। आवाहन के लिए आवाहन मुद्रा, अर्ध्य के लिए मत्स्य मुद्रा, किसी वस्तु को ढौँकने के लिए अवगुण मुद्रा। योनि मुद्रा से भगवती को आकर उपासक के सामने बैठने का निवेदन किया जाता है।

मुद्राओं का प्रयोग काम्य कर्म, प्रतिष्ठा, स्नान, आवाहन, नैदेव्य, अर्पण और विमर्जन के साथ किया जाता है।

'नित्योत्सव' में मुद्राओं के विभिन्न प्रकारों का विवेचन इस प्रकार किया गया है—

श्री गुरुवन्दन मुद्रा—सुमुख, सुवृत, चतुरस्त, मुद्गर-योनि ये गुरु-वन्दना की मुद्राएँ होती हैं, जिसमें विकमित कल्प होकर उत्तान अञ्जलि होती है, वही सुमुख मुद्रा है। यही मूष्टीकृत हो, तो सुवृत्त हो जाती है। दक्ष-वाम करतलों को ऊर्ध्वर्णि स्थित कर श्रृंगुलियों का मणियन्ध के साथ सम्बन्ध करने पर चतुरस्त होती है। अधरोन्तर वाम मृदियों को स्नानभिस्मृत्य में योजन करने पर मुद्गर होती है। अग्रागुलियों का तिरछी मिलाकर मध्यमागुलियों के पीछे ऊपर-नीचे वाम दक्षानामिकाओं के निरचे होने पर नर्जनियों से निरीडित कर वाम कनिष्ठिका को

दक्षिण से परुड़ कर दोनों योगुणों के अग्र भागों [बो मध्यमा से आगे मध्य पर्वद्वय से सम्पन्न करने पर योनि मुद्रा बनती है । अन्य मुद्राओं के नाम इस प्रकार हैं—

श्रद्ध्य स्थापन मुद्रा—मरस्य, श्रस्त्र, अवगुठन, धेनु, योनि और गलिना मुद्राएँ श्रद्ध्यस्थापन में आती हैं । विस्नार अनिक हो जाने के कारण इन सबके बनाने की विधि यहाँ नहीं लिखी जानी है । वस्तुतः मुद्राओं का ज्ञान गुरु से प्राप्त कर अस्थापन कर लेना चाहिए । तभी साथक मिछ्छ ज्ञान भी होगा ।

अर्चन मुद्रा—आचाहनी, सस्थापनी, सनिधायनी, सनिरोधनी, समुखीकरणी, अवगुठनी, वन्दन, धेनु, योनि, तत्त्वमुद्रा, ज्ञानमुद्रा—ये अचना में आती हैं ।

सर्वमक्षोभिणी—सर्वविद्राविणी, सर्वकिर्षणी, सर्वेश्वरी, सर्वोन्मादिनी, सर्वमहाकुश, सर्वश्वेश्वरी, सर्ववीजम्, सर्वविखण्डा, प्राणमुद्रा, अपान, अपान, उदान, समान, नाराच, वक्रम्—भी मुद्रा एँ होती है । मुख, ऊरम्पुट, पठङ्ग मुद्राएँ हैं । शब्द्युत्त्वार्णनी, पाश, अ कुश, चाप, वाण मुद्राएँ भी हैं । म पत्रास मुद्राएँ हैं । इनके प्रकार का भेद भी अन्य तत्त्वों में पाया जाना है ।

म व वैमुदी के अनुसार—

‘भगवान श्री रामचन्द्र की ज्ञानमुद्रा है, जिसमें शर के सहित धनुष है । श्रीबन्ध और कौस्तुभ वाली गाढ़ी मुद्रा है और दूसरी मोहनी है । नारमिही, वाराही, हयग्रीवी और उसकी प्रिया काममुद्रा—ये सभी विद्यु भगवान री मुद्राएँ वही गई हैं ।

त्रिजूना नाम की, लिंग योनी, वरगमीति, मृगातिका, खट्वाणा, व पाला और डप्पल—ये शिव की मुद्रितार्थ होती हैं । गुर्य री पद्मा मास वाली एक ही मुद्रा होती है । क्रम से दन्त विद्वन, पाश, अ कुश, परशु, लड्डू और वीजपूरा ये गणपति की मुद्राएँ होती हैं । पाश, अ कुश,

वराभीनि और वज्ञ—ये दुर्गा की मुद्राएँ हैं। वनु, जर, वर्माणिंग आंर मौमली से दुर्गा की मुद्राएँ छोटी हैं और नदी की मुद्रा उसका अर्चन ही है।

शास्त्रों से यौगिक मुद्राओं का वरणन भी प्राप्ता है। शिव सहिता म १० मुद्राओं की चर्चा है—

महामुद्रा महावधो महावेदद्वच खेचरी ।
उड्यान मूर्तवयठच व घो जालवगभिध ॥
करण्णो विपरीतास्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।
इ= हि मुद्रा दग्ध क जगमरगनाशनम् ॥

अथवा “महामुद्रा, महावन्ध, महावेच, खेचरी, उड्यान, मूलवन्ध, जालवन्धर वध, विपरीत करणी, वज्रोली और शक्तिचालन—ये १० मुद्राएँ जा और मृत्यु को नष्ट करने वाली हैं।”

घेरण्ड महिता के अनुमार मुद्राएँ २५ प्रकार की हैं—

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्यान जलघरम् ।
मूलवधो महावधो महावेदद्वचखेचरी ॥
विपरीतकरी यानिर्वज्रोली शक्तिचालिनी ।
ताढागी माटुकी मुद्रा गम्भवी पचवारणा ॥
ऋशिनी पाणिनी काकी मातगी च भुजगिनी ।
पचविगति मुद्राणि सिद्धानीह योगिनाम् ॥

अथवा “महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्यान, जालवन्ध, मूर्तवन्ध, महावेच, महावेप, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालनी, ताढागी, माटुकी, गम्भवी, पाणिनी, आम्भसी, वैश्वानरी, वायवी, ग्राहाणी, प्रश्वनी, पाणिनी, काकी, मातगी और भुजगिनी—ये २५ मुद्राएँ योगियों को मिथि प्रदान करने वाली हैं।”

मुद्राओं का उद्देश्य शरीर को हृदयके प्राणवायु को श्रग दिशेष में स्थिर करना है, जिसके द्वारा योगी की नावना के उपयुक्त

जाना है। इनसे लौकिक व पारनीकिक सभी प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं।

महामुद्रा से श्रहङ्कार, अविद्या, भय, द्वेष, मोह आदि के पञ्च व्यलेशदायक विकाग का शमन होता है। भगव्यर, ववासीर, सग्रहणी, प्रमेह आदि रोग दूर होते हैं। शरीर का तेज बढ़ना है और वृद्धावस्था दूर हटी जाती है। महावृत्त के लाभ भी महामुद्रा की तरह ही है। इसके अनिरिक्त चक्रमेदन का मार्ग इसमें प्रशस्त हो जाता है और कुण्डलिनी जागरण में सहायता मिलती है। मडावेत्र के लाभ हैं—जठराग्नि की तीव्रता, वालों का जल्दी सफेद न होना, शरीर पर फुरियाँ न पड़ना, प्राण का सूक्ष्म होकर सुषुप्तिया में गमन आदि।

खेचरी मुद्रा से कपाल गह्वर में होकर प्राण शक्ति का सचार होने लगता है और महस्तक करने में अवस्थित अमृत-निकर भरने लगता है, जिसके आस्वादन से एक बड़ा ही दिव्य आनन्द आता है। प्राण री अद्विगति हो जाने से मृत्यु छाल में जीव ब्रह्म-रन्ध्र में होकर ही प्रयाण करता है, इसलिए उसे मुक्ति या स्वर्ग की सद्गति प्राप्त होती है। गुदा आदि अयोक्ताओं से जिनका प्राण जिनका प्राण निकलता है, वह नरत्तामी तथा मुख, नाक, कान से प्राण छोड़ने वाला मृत्युनोक में अमरण करता है। किन्तु जिसका जीव ब्रह्मरन्ध्र में होकर जायगा, वह अवश्य ही सद्गति को प्राप्त करेगा। खेचरी मुद्रा द्वारा ब्रह्माड स्थित शेषशायी सहस्रदल निवामी परमात्मा से साक्षात्कार होता है। यह मुद्रा वही ही महत्वपूरण है।

विपरीतकरणी द्वारा ऋण प्राण और धन प्राण का एकीकरण होता है, जिसमें मस्तिष्क को बल मिलता है। इसके लाभ हैं—शरीर की स्वस्थता, वालों का शीघ्र श्वेत न होना, जठराग्नि का बढ़ना आदि।

वज्जोली मुद्रा से वीर्य और सूक्ष्म सम्बन्धी दोप दूर होते हैं। प्रमेह और स्वप्नदोष आदि रोग भी नहीं होते। इसका उद्देश्य ब्रह्मवय रक्षा है।

शक्तिशालिनी मुद्रा से शरीरमें आनन्द और प्रमाद का नाश होकर प्राण। में सक्रियता आती है, जो कुण्डलिनी जागरण के लिए आवश्यक है।

योनि मुद्रा में प्राण और अपान के मिलने की प्रक्रिया सफल होती है, जो कुड़लिनी जागरण का पूर्वक्रम है।

जाम्भवी मुद्रा के साधक को साक्षात् ब्रह्मस्वरूप कहा गया है। इनमें मन और बुद्धि में शानि उत्पन्न होती है। मनोलय के लक्षण इनमें दियाई दने लगते हैं जिसमें आनन्द की वृद्धि होती है।

काकी मुद्रा में नेत्र शक्ति बढ़ती है, पित्त की शाति होती है, अम्ल और पित्त के विकारों का शमन होता है, दिव्य-ज्योति के दर्शन होते हैं।

अश्विनी मुद्रा से दिव्य-ज्योति का प्रकाश, मूलावार चक्र की शुद्धि, प्राणों में सक्रियता, कुण्डलिनी का जागरण के लाभ प्राप्त होते हैं।

मानद्विनी मुद्रा से सिर, नेत्र, गले और फेफड़ों के रोगों में लाभ होता है। बाल शीघ्र सफेद नहीं होते, मुख पर अपूर्व चमक आती है। ब्रह्मस्वरूप में शाचि और आनन्द का उदय होता है।

यहाँ कुछ प्रधान मुद्राओं के लाभ वर्णित किए हैं। यह मुद्राएँ तत्त्व साधना का अग्रणी हैं। इनमें शारीरिक और आत्मिक दोनों प्रकार के लाभ लाभ प्राप्त होते हैं।

मैथुन—

मैथुन का अनुकरण है—उपयुक्त विवि में पुष्पों का मर्मरण।

तत्त्व में 'लना-माघना' को बहुत कठिनद्वित ब्रिया गया है। इनमें प्रत्येक मैथुन का विवान बताया गया है। वास्तविकता यह है कि तत्त्व में परिभासित गन्द होते हैं। उनके ग्रयों को न उमझने से भ्रम फैलता

है। इसी से तन्त्र में तथाकथित गन्दगी का प्रवेश हुआ है। महानिर्वाण तन्त्र में एक गन्दा इनोक मिलता है—

मातृ-योनी क्षिपेत् लिङ्गं भगिन्या स्ततमर्दतम् ।
गुरोमूर्धिन् पद दत्त्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥

इसकी व्याख्या श्री एम० पी० पडित ने इस प्रकार की है—

इस पद का शाब्दिक अर्थ स्पष्ट ही है पर वह इनका वास्तविक अर्थ नहीं है। प्रथम पक्ति का पूर्वार्द्ध—जीवात्मा को स्वयम्भू लिंग से ग्रन्त मूलधार केन्द्र की त्रिभुजाकार योनि में प्रतिष्ठित करने की आरम्भत करता है। वसी त्रिभुज को मातृयोनि कहा जाता है। जीवात्मा ही लिंग है। इसी स्थन से कु डलिनी के साथ योग होने पर जीवात्मा को ऊपर की ओर ले जाना होता है। जीवात्मा से कु डलिनी के योग को पहली पक्ति के उत्तरार्ध में कहा गया है। कु डलिनी जीवात्मा की बहिन है और दोनों एक ही शरीर में हैं। द्वितीय चरण का अर्थ है—कु डलिनी और जीवात्मा के मिलने के बाद दोनों संयुक्त रूप से शीपस्थ सहन्त्रारणी ओर जाते हैं, जो कि गुरु के निवास स्थान द्वादश दलों वाले कमल के ऊपर स्थित है। जब योगी द्वादशदलीय कमल के ऊपर चला जाता है, तो उसके चरणों को गुरु के सिर पर अवस्थित कहा जाता है। इस स्तर पर यह कहा जाता है कि यहाँ गुरु और शिष्य के सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं। मातृयोनि नाम उँगलियों के उन भागों का भी है जिन पर जप भी गिनती या मन्त्रोच्चारण नहीं करना चाहिए।

तन्त्र-शास्त्रो में जिस मैथुन की ओर सकेत किया है, वह इस प्रकार है—

सहस्रारोपरिविन्दौ कुण्डल्या मेलन शिवे ।
मैथुन शयन दिव्य यतोना परिकीर्तिम् ॥

—योगिनी तन्त्र

“हे शिवे ! सहस्रश पदोपरि वि दु मे जो कुल कु डलिनी का मिलन है, वही यतिर्यों का परम मैथुन कहा गया गया है।”

मैथुन का अर्थ है मिलाना। सावारण मापा मे स्त्री और पुरुष के मिलन को मैथुन कहते हैं परन्तु तत्त्व की पारिभाषिक भाषा मे मैथुन का अभिप्राय हाट-मासि वाले स्त्री-पुरुष का नहीं है। स्त्री मे अभिप्राय तु डलिनी शक्ति ने है, जो हमारे अन्दर सोई हुई है। इसका स्थान मूरागार है। सहस्रार मे शिव का स्थान है। इस शिव और शक्ति का मिलन ही वाम्तविक मिलन अथवा मैथुन है। योग की भाषा में सुपुम्णा का प्राण मे मिलन ही 'मैथुन' कहा जाता है। शास्त्र का वचन है।

परदशक्त्यात्म मिथुन—सयोगानन्दनिर्गरा ।

मुक्तात्ममिथुन तत् स्त्यादितरख्नीनिवेषका ॥

—तत्त्वसार

अथ—“परा-शक्ति के साथ आत्मा के त्रिलास-रस मे निमग्न रहना ही मुव्वत प्रात्माओं का मैथुन है। यहीं किसी स्त्री इत्यादि का ग्रहण नहीं।”

डिडापिङ्गलयो प्राणान् सुपुम्नाया प्रवर्तयेत् ।

सुपुम्नाशक्तिसुद्विष्टा जीवोऽय तु पर गिव ।

तयोऽन्तु सगमे देवै सुरत नाम कीर्तिम् ॥

अर्थात् “इडा और पिगला से प्राणों को सुपुम्ना में प्रवृत्त करना चाहिए। सुपुम्ना की शक्ति उद्दिष्ट है। यह जीव तो फिर परम शिव है। देवों ने उन दोनों क सज्जम मे सुख को बतलाया है।”

यानाढो सूक्ष्मल्पा परम पदगता सेवनीया सुपुम्णा ।

मा कान्तालिगनासी न मनुज रमणी सुन्दरी वारयोवित् ॥

कुर्याच्चन्द्राक्योगे युगपवन गत मैथुन नैव योनो ।

योगीन्द्रो विश्ववन्द्य चुक्षमय भवने ता परिष्यज्य नित्यम् ।

—भैरव यामल

“परमानन्द को प्राप्त हुई सूक्ष्म रूप वाली सुपुम्णा नाड़ी है, वही चार्निगन रखने योग्य सेवनीय जाना है, न कि मानवी सुन्दरी वेश्या।

सुपुण्णा के सहस्रचक्र के अन्तर्गत परम ब्रह्म के साथ सयोग होने का नाम ही मैथुन है, स्त्री-सभोग का नहीं। विश्ववन्द्य योगीजन सुखमय वन-स्थली आदि में ऐसे ही सयोग का परमानन्द प्राप्त किया करते हैं।”

रेफस्तु कुकुमाभास कुण्डमध्ये व्यवस्थित ।
मकारश्च विन्दु रूप महायोनी स्थित प्रिये ॥
आकारहस्मारुह्य शक्ता च महाभवेत् ।
तदा जातो महानन्दो ब्रह्मज्ञान सुदुर्लभम् ॥

“रेफ कुकुम वण कुड़ के भीतर रहता है। बिन्दुरूप महायोनि में रहता है, आकाररूपी हस का आश्रय लेने पर जब उन दोनों का एकत्व हो जाता है तभी सुदुर्लभ ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है। ऐसे साधक ही सच्चे मैथुन माधव कहे जाते हैं।”

उपरोक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि तन्त्र में जहाँ मैथुन शब्द आया है, वहाँ उच्च भावनाओं का उद्देश है, कहीं भी निम्न भावनाओं का लेशमान भी प्रवेश नहीं है। इसकी आलोचना का कारण तन्त्र-ज्ञान का अभाव ही है।

यह पांच मकारों का रहस्य है। तन्त्र में जहाँ जहाँ भी मद्य, मांप, मीन, मुद्रा और मैथुन शब्द आए हैं, वहाँ उनका अलच्छारिक वर्णन ही किया गया है, उसे न समझकर भोगवादियों ने अपने मानसिक स्तर के अनुरूप उनके अर्थ निकालकर उनका प्रत्यक्ष व्यवहार आरम्भ कर दिया, जिससे कि जनसाधारण में तन्त्र की उपेक्षा होने लगी और वह निम्नकोटि के विषयलोकुप वर्ग तक ही सीमित रह गए। वास्तव में तत्र बहुत उच्च स्तर के ग्रन्थ हैं। पचमकारों से उनको बदनाम करना ठीक नहीं है। उनके अलच्छारिक रहस्यों को समझना अभीष्ट है।

दीक्षा की अनिवार्यता

दानव-विकास में गुह की परन आवश्यकता—

मनुष्य की यह क्रमजोगी कि वह दूसरों में ही सब कुछ सीखता है, उसके उच्च विकास में वाधक होती है। कारण कि मातारण बातावरण में भने तत्वा वी शपेक्षा बुरे तत्व अधिक होते हैं। उन बुरे तत्वों में ऐसा आकर्षण होता है कि कच्चे दिमाग उनकी ओर बड़ी आसानी में निच जाते हैं। फलस्वरूप वह बुगाइयां अधिक सीख लेन के कारण आगे चलकर बुरे मनुष्य मापित होते हैं। छोटी आपु में यह पता नहीं चलता कि बालक किन सम्कारों को अपनी मनोभूमि में जमा रहा है। यदा होने पर जब वे मस्कार एव स्वभाव प्रकट होते हैं, तब उन्हे हटाना कठिन हो जाता है, क्योंकि दीर्घकाल तक वे मस्कार बालक के मन म जमे रहने एव पक्ते रहने के कारण ऐसे सुट्ट हो जाते हैं कि उनका हटाना कठिन होता है।

ऋषियों ने इस भागी कठिनाई को देखकर एक अत्यन्त ही दुन्दर और महत्वपूर्ण उपाय यह निश्चित किया कि प्रत्येक बालक पर मा-शप के ग्रतिरिक्त किसी ऐसे व्यक्ति का भी नियन्त्रण रहना चाहिए, जो मनोविज्ञान को सृक्षमताओं को समझना हो। दूरदर्शी, तत्त्वज्ञानी और पात्तगी दोन के कारण बालक के मन में जमते रहने वाले सम्कार दीजो औ अपनी पैकी दीप्ति ने उन्काल देख लेने और उनमें आवश्यक मुश्य-रूपे तो योगता-बना हो। ऐसे मानसिक नियन्त्रणकर्ता जी

सुपुमणा के सहस्रचक्र के अन्तर्गत परम ब्रह्म के साथ सयोग होने का नाम ही मैथुन है, स्त्री-सभोग का नहीं। विश्ववन्द्य योगीजन सुखमय वनस्पति आदि में ऐसे ही सयोग का परमानन्द प्राप्त किया करते हैं।”

रेफस्तु कुकुमाभास कुण्डमध्ये व्यवस्थित ।

मकारश्च विन्दु रूप महायोनौ स्थित प्रिये ॥

अकारहसमारह्य शक्ता च महाभवेत् ।

तदा जातो महानन्दो ब्रह्मज्ञान सुदुर्लभम् ॥

“रेफ कुकुम वण कुड़ के भीतर रहता है। विन्दुरूप महायोनि में रहता है, आकारहसी हस का आश्रय लेने पर जब उन दोनों का एकत्व हो जाता है तभी सुदुर्लभ ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है। ऐसे साधक ही सच्चे मैथुन माधव कहे जाते हैं।”

उपरोक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि तन्त्र में जहाँ मैथुन शब्द आया है, वहाँ उच्च भावनाओं का उद्भेद है, कहीं भी निम्न भावनाओं का लेशमात्र भी प्रवेश नहीं है। इसकी आलोचना का कारण तन्त्र-ज्ञान का अभाव ही है।

यह पांच मकारों का रहस्य है। तन्त्र में जहाँ-जहाँ भी मर्द, मर्सि, मीन, मुद्रा और मैथुन शब्द आए हैं, वहाँ उनका श्रलङ्घारिक वर्णन ही किया गया है, उसे न समझकर भोगवादियों ने अपने मानसिक स्तर के अनुरूप उनके अर्थ निकालकर उनका प्रत्यक्ष व्यवहार आरम्भ कर दिया, जिससे कि जनसाधारण में तन्त्र की उपेक्षा होने लगी और वह निम्नकोटि के विषयलोलुप वर्ग तक ही सीमित रह गए। वास्तव में तन्त्र बहुत उच्च स्तर के ग्रन्थ हैं। पचमकारों से उनको बदनाम करना ठीक नहीं है। उनके श्रलङ्घारिक रहस्यों को समझना अभीष्ट है।

दीक्षा की अनिवार्यता

वात्सल्य-विकास में गुरु की परन आवश्यकता—

मनुष्य की यह क्रमनोगी कि वह दूसरों ने ही सब कुछ भीखता है उसके उच्च विकास में बाबक होनी है। कारण कि मावारण वाता-वरण में भर्ते तत्त्व की धर्षेक्षा वुरे तत्त्व अविक होते हैं। उन वुरे तत्त्वों ने ऐसा आकर्षण ज्ञाना है कि कच्चे दिमाग उनकी ओर बड़ी आमानी ने विच जाते हैं। फलन्वल्प वह वुराइयाँ अविक सीख लेन के कारण आगे चलकर वुरे मनुष्य सावित होते हैं। छोटी आयु में यह पता नहीं चलता कि वालक किन सम्कारों को अपनी मनोभूमि में जमा रहा है। वहाँ होने पर जब वे सम्कार एवं स्वभाव प्रकट होते हैं, तब उन्हें हटाना कठिन हो जाता है, क्योंकि दीर्घकाल नक वे सम्कार वालक के मन में रहने एवं पकते रहने के कारण ऐसे सुट्ट हो जाते हैं कि उनका हटाना कठिन होता है।

ऋग्यियों ने इम भारी कठिनाई को देवकर एक अत्यन्त दी मृद्दर और महन्वपूरण दराय यह निश्चिन किया कि प्रत्येक वालक पर माँ-बाप के अनिच्छन्क किमी ऐसे न्यक्ति का भी नियन्त्रण रहना चाहिए, जो मनोविज्ञान की मूर्खताओं को नमना हो। दूरदर्थी, तत्त्वज्ञानी और पारदर्शी होने के कारण वालक के मन में जमते रहने वाले सम्कार दोनों को अपनी पैती दृष्टि में नकाल देव लेने और उनमें आवश्यक मुगार रहने की योग्यता रखता हो। ऐसे मानसिक नियन्त्रणकर्ता की दृष्टि ग्रहक वालक के निए अवश्यकता दृष्टित ही।

शास्त्रो मे कहा गया है कि मनुष्य के तीन प्रत्यक्ष देव हैं—
 (१) माता, (२) पिता, (३) गुरु । इन्हे ब्रह्मा, विष्णु, महेश की उपाचि-
 दी है । माना जन्म देनी है, इसलिए ब्रह्मा है । पिता पालन करता है,
 इसलिए विष्णु है । गुरु कुमक्कारो का महार करता है, इसलिए शक्तर
 है । गुरु का स्थान माना-पिता के समकक्ष है । कोई यह कहे कि मैं विना
 माता-पिता के पेंडा हुआ हुआ, तो उसे भूठा कहा जायगा, क्योंकि माना
 के गभ मे रहे बिना कोई किम प्रकार जन्म ले सकता है ? इसी प्रकार
 कोई यह कहे कि 'मैं बिना बाप का हूँ' तो उसे वरणकर कहा जायेगा,
 क्योंकि जिसके पिता का पता न हो, ऐसे बच्चे तो वेश्याश्रो के यहाँ पैदा
 होते हैं । उसी प्रकार कोई कहे कि मेरा कोई गुरु नहीं है, तो समझा
 जायेगा कि यह अपम्य एवं अपम्कारित है, क्योंकि जिसके मस्तिष्क पर
 विचार, स्वभाव, ज्ञान, गुण, कम आदि पर किसी दूरदर्शी का नियन्त्रण
 नहीं रहा—उसके मानविक व्यास्था का क्या भरोसा किया जा सकता
 है ? ऐसे अस्त्वित व्यक्तियों को 'निगुरा' कहा जाता है । निगुरा वा
 अर्थ है—बिना गुरु का । किसी समय मे 'निगुरा' वहना भी वर्णशक्तर
 या मिथ्याचारी कहलाने के समान गाली समझी जाती थी ।

बिना माता का, बिना पिता का, बिना गुरु का भी कोई मनुष्य
 हो सकता है—यह बात प्राचीन काल म अविश्वस्त समझी जाती थी ।
 कारण कि भारतीय समाज के सुसम्बद्ध विकास के लिए शृंपियों की
 यह अनिवार्य व्यवस्था थी कि प्रत्येक आय का गुरु होना चाहिए, जिससे
 वह महान पुरुष बन सके । उस समय प्रत्येक माता-पिता को अपने
 बालकों को महापुरुष बनाने की अभिलाषा रहती थी । इसके लिए यह
 आवश्यकता रहती थी कि उनके बालक किसी मुविज्ञ आचार्य के
 शिष्य हो ।

गुरुकुल प्रणाली का उम सप्तय आम रिवाज था । पढ़ने की आयु
 के होते ही बालक शृंपियों के आश्रम मे भेज दिए जाते थे । राजा-

महाराजाओं तक के बालक गुरुकुलों का कठोर जीवन विताने जाते थे, ताकि वे कुगन नियन्त्रण में रहकर सुमस्तुत वन सके और आगे चलकर मनुष्यों के महान् गौरव की रक्षा करने वाले महापुरुष मिठ हो सके। 'मैं अमुह आवाय हा शिष्य हूँ'—यह वान बड़े गौरव के माथ कही जाती थी। प्राचीन परिषाटा के अनुमार जब बाई मनुष्य किसी दूसरे का परिचय देता था, तो कहता था—“मैं अमुक आचार्य का शिष्य, अमुक पिता का पुत्र, अमुक गात्र का, अमुक नाम का व्यक्ति हूँ।” मकान में, प्रतिज्ञाओं में, साझी में, राजदर्शन में अपना परिचय इसी आवार पर दिया जाता था।

भनोभूमि का परिष्कार—

वगोचे का यदि मुन्दर वनाना है, तो इसके लिए किसी कुगन माणी की निषुक्ति आवश्यक है। जब आवश्यनक हो तब मीठना, जब अनिक पानी भर गया हो, तो उन वाहर निकाल देना, समय पर गाडाई निर्गाई करना, अनावश्यक टहनियों को छाँटना, खाद देना, पशुओं को चरन न देन की रखवाली करना आदि वातों के सम्बन्ध में माली मदा सजग रहता है, फलस्वरूप वह वगोचा हरा भरा, फना-फूला, मुन्दर और ममुन्नन रहता है।

मनुष्य का मस्तिष्क एक वगीचा है, इसमें नाना प्रकार के मनो-भाव, विचार, मकल्प, इच्छा, वामना, योजनाखण्डी वृक्ष आते हैं। उनपर से किनने ही अनावश्यक होते हैं। वगीचे में किनने ही पौधे क्षाट-भखाड़ के अपने आप उग जाते हैं, वे बढ़े तो वगीचे को नष्ट कर मकते हैं, इसलिए माली उन्हे उखाड़ देता है और दूर-दर में लाकर अच्छे-अच्छे बीज उसमें बोता है। गुरु अपने शिष्य के मस्तिष्क रूपी वगीचे का माली होना है, वह अपने शेष में जगलो क्षाट-क्षखाड़ जैसे अनावश्यक मकल्पों, सध्कारों, आश्चर्यणों और प्रभावों को उखाड़ना रहता है और अपनी बुद्धिमत्ता, दूरदर्जिता एवं चनुर-। के माथ ऐसे मस्कार बीज जमाता रहता है, जो उस मस्तिष्क द्वपी वरीचे को बहुमूल्य वनावे।

कोई व्यक्ति यह सोचे कि ‘‘मैं स्वयं ही अपना आत्म-निर्माण करूँगा, अपने आप अपन को सुमन्त्रित बनाऊँगा, मुझे किसी गुरु की आवश्यकता नहीं’’ तो ऐसा किया जा सकता है। आत्मा में अनन्त शक्ति है। अपना कल्याण करन की शक्ति उसमे मौजूद है। परन्तु ऐसे प्रथनों मे काई मनस्वी व्यक्ति ही सफल हान ह। सवामानारण के लिए यह बात बहुत कष्टमाध्य है, क्योंकि बहुत अपनी आँखों स अपने आपको बय दिखाई नहीं देने। किसी दूसरे मनुष्य या दपण की सहायता से ही अपनी आँखों का देखा जा सकता है। जब कोई डैच-डाक्टर बीमार होते हैं, तो स्वयं अपना इलाज आप नहीं करते, क्योंकि अपनी नाड़ी स्वयं देखना, अपना निदान आप कर लेना साधारणतया बहुत कठिन होता है। इसलिये वे किसी दूसरे वैद्य या डाक्टर से अपनी विकित्सा कराते हैं।

कोई सुयोग्य व्यक्ति भी आत्म-निरीक्षण मे सफल नहीं होते हैं। हम दूसरों की जैसी आलोचना कर सकते हैं, दूनरों को जैसी नेक सलाह दे सकते हैं वैसी अपने लिए नहीं कर पाते। कारण यह है कि प्रपने सम्बन्ध मे आप निर्णय करना कठिन होता है। कोई अपराधी ऐसा नहीं जिसे यदि मजिस्ट्रेट बना दिया जाये, तो अपने अपराध के सम्बन्ध मे चर्चित फैसला लिखे। निष्पक्ष फैसला कराना हो तो किसी दूसरे जज का ही आशय लेना पड़ेगा। आत्म-निर्माण का कार्य भी ऐसा ही है, जिसके लिए किसी दूसरे सुयोग्य सहायक की, गुरु की आवश्यकता होनी है।

नमुचित वौद्धिक विकास की सुव्यवस्था के लिए ‘गुरु’ की नियुक्ति को भारतीय धर्म मे आवश्यक माना गया है। इसमे मनुष्य की विचारधारा, स्वभाव, स्वस्कार, गुण प्रकृति, आदतें, इच्छाएँ, महत्वाकांक्षायें, कार्य पद्धति आदि का प्रयास उत्तम दिग्गजों द्वारा सकेणा, मनुष्य अपने आप मे सन्तुष्ट, प्रसन्न, पवित्र और परिश्रमी रहेगा; तथा सद्व्यवहार से सुख पहुँचावेगा। इस प्रकार के मुमन्त्रित मनुष्य जिस दशा मे अधिक होगे वहाँ

निश्चयपूर्वक मुख-गान्ति की, सुव्यवस्था की, पारस्परिक नहयोग की, प्रेम की, माथ जी मदनाव की बहुलता रहेगी। हमारा पूर्व इनिहास माल्की है कि मुमक्कानि न मस्तिष्क के भारतीय महापुरुषों ने कैसे महान् कार्य किये थे और इन भूमि पर किम प्रकार स्वर्ग को अवतरित कर दिया था।

हमारे पूवरालीन महान् गौरव की नीव में ऋषियों की दूरदृशिता छिपी हुई है, जिसके अनुमार प्रत्येक भारतीय को अपना मानसिक परिष्कार करने के लिए किसी उच्च चरित्र, आदर्शवादी, सूक्ष्मदर्शी विद्वान् के नियन्त्रण में रहना आवश्यक होता था, जो व्यक्ति मानसिक परिष्कार कराने की निष्ट आवश्यकता में जी चुराते थे, उन्हे 'निगुरा' की गानी दी जाती थी। 'निगुरा' शब्द का अपमान करीब-करीब बिना वाप का या यरणमङ्कुर कहे जाने के बराबर समझा जाना था। घन का कमाना, विद्या पढ़ना, शस्त्र चलाना—सभी वातें आवश्यक थी, मानसिक परिष्कार तो मध्ये अधिक आवश्यक था, क्योंकि अपमुक्त मनुष्य तो समाज का अभिशाप बनकर ही रह सकता है, भले ही उसके पास कितनी ही अधिक भौतिक सम्पदा क्यों न हो। गुरु को प्रत्यक्ष तीन देवों में—तीन परम पूज्यों में स्थान दने का यही कारण था।

हमारे यहाँ धर्म-शास्त्रों के अनुमार मनुष्य द४ लक्ष योनियों से होकर आता है। उसमें पशु-प्रवृत्तियों के भाव गहरी जड़ जमाये रहते हैं। उनके शमन के लिए दीघ प्रयत्न की अपेक्षा रहती है। हिन्दू धर्म-शास्त्रों में जीवन का परम लक्ष्य मुक्ति और मोक्ष बताया गया है, जिस तरफ पहुँचने के लिए अत्यन्त दुर्गम मार्गों और घाटियों से होकर गुजरना पड़ता है। यह इतना सरल नहीं है, जितना पुराणों में अतिशयोक्ति जैली में वर्णित है। इस लम्बी यात्रा को सफल बनाने के लिए भीमकाय वाघाओं का सामना करना पड़ता है। कि- मार्ग अपना देखा हुआ भी नहीं होता, इसलिए पथिक इस ममार स्वरा भगवान् में भटक जाता है।

प्रसम्भव है। कुछ अपवाद भले ही हो सकते हैं, परन्तु सामान्यतः हर व्यक्ति को हर क्षेत्र में प्रशिक्षण के लिए एक पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता रहती है। फिर अध्यात्म मार्ग तो सबसे दुगम है। हज पर तो विना पथ-प्रदर्शक के चतुरा सम्भव ही नहीं है।

दीक्षा की आवश्यकता—

गुरु के बल मार्गदर्शन ही नहीं करते हैं, वरन् वह समय की दीर्घा को कम करते हैं और उस बहुत ही कम समय में अभीष्ट लाभ की मिहिं में सहायक होते हैं। इस जगत् में मानव अपूर्ण रूप से आता है। उसे पूर्णता की पूर्ति की अभिलापा रहनी है। इसकी पूर्ति के लिए गुरु ही एकमात्र सहारा होते हैं। इसलिए दीक्षा की आवश्यकता पड़नी है।

तन्त्र-ग्रन्थों की तो यह धारणा है कि—

मूलपद्मे कुण्डलिनी यावत् सा निद्रिता प्रभा ।
तावत् किञ्चिचन्न सिद्धयेत् मन्त्रयत्राच्चनादिकम् ॥
जागत्ति यदि सा देवि बहुभि पुण्यसञ्चयै ।
तदा प्रसादमायान्ति मन्त्र यत्राच्चनादय । १

“मूलाधार में जब तक कुण्डलिनी शक्ति सोई हुई है, तब तक मन्त्र, यन्त्र, अर्चन मादि कम सफल नहीं होते। यदि गुरु के पुण्य प्रताप से कुण्डलिनी देवी का जागरण हो गया, तो मन्त्र, तन्त्र, पाठ, पूजन, जप, तप, ज्ञान, ध्यान जौ कुछ भी बन पड़ेगा, यह सभी सिद्धि को प्राप्त होगे। इससे पूर्व जिस दुखमय जगत् को मिथ्या और नरक माना जाता था वही सत्य और स्वर्ग स्वयं बन जाएगा, क्योंकि शक्ति के जागरण से हर क्षेत्र में सफलता के स्तम्भ स्थापित किए जाने सम्भव होगे। आत्मशक्ति के विकास से रामस्त भगवाधियों का परिष्कार हो जाएगा।”

शास्त्र भी श्रावामन देते हैं—

अज्ञस्य दुखौघमय ज्ञस्यानन्दमय जचत् ।

प्रन्ध भुवनमन्धस्य प्रकाश तु सुचक्षुषाम् ॥

अर्थात् “जो अज्ञ पुरुष होता है उसके लिए यह जगत् दुखो के समूह से परिपूर्ण होता है और जो ज्ञानी है उसके लिए समस्त जगत् आनन्दमय होता है । जो अन्धा है, उसके लिए समस्त भुवन ही अन्धकार-मय है और जो सुन्दर नेत्रों वाले हैं, उनको यही प्रकाशमय है ।”

जीवन की सफलता में कु डलिनी जागरण एक प्रमुख प्रक्रिया है । इसे गुह की सहायता से ही सम्पन्न किया जा सकता है । यही दीक्षा की आवश्यकता का आधार है ।

दीक्षा द्वारा कु डलिनी शक्ति की मन्त्र-सृष्टि पर प्रकाश ढालते हुए शास्त्र में कहा गया है—

यदा भवति सा सविद्विगुणीकृतविग्रहा ।

सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्द ब्रह्ममयी विभु ॥

शक्ति ततो ध्वनितस्मान्नादस्तस्मान्निबोधिका ।

ततोऽधे न्दुस्ततो बिन्दुमत्स्मादसीत्परा तत ॥

पश्यन्ती मध्यमा वाणी वैखिरी सर्ग जन्मभू ।

इच्छा ज्ञान-क्रियात्मासौ तेजोरूपा गुणात्मिका ।

कमेणानेन सृजति कुण्डली वर्णमालिकाम् ॥

अर्थात् ‘द्विगुण विग्रह से युक्त जब वह सविद हो जाती है, तब कु डलिनी जो शब्द ब्रह्ममयी विभु है, शक्ति का प्रसव करती है । इसके अनन्तर ध्वनि होती है, उससे नाद होता है और उससे निबोधिका हुआ करती है । फिर उसके पश्चात् अर्द्ध च द्र और उससे बिन्दु होता है । उससे परापश्यन्ती मध्यमा वाणी जो वैखिरी की जन्मभू होती है । यह इच्छा, ज्ञान और क्रियात्मक है तथा तेजोरूप—गुणात्मक है । इस क्रम में कुण्डली वर्णमालिका का सृजन किया करती है ।”

गुणिता सर्वगात्रेषु कुण्डली पर देवता ।
 विश्वात्मना प्रबुद्धा सा मूर्ते मन्त्रमय जगत् ॥
 एकधा गुणिता शक्ति सब विश्वप्रवर्तिनी ।
 वेदादिबीज श्रोबीज शक्तिबीज मनोभवम् ॥
 प्रसाद तुम्बुर पिण्ड चिन्तारत्न गणेश्वरम् ।
 मार्तण्ड भरव दोर्ग नारसिंह वराहजम् ॥
 वासुदेव हयगीव वीज श्री पुरुषोत्तमम् ।
 अन्यान्यपि च वीजानि तदेत्पादयति ध्रुवम् ॥

अर्थात् “यह गुणित और मब गात्रो मे कुण्डली पर देवता ने । विश्वात्मा के द्वारा प्रबुद्ध वह इस मन्त्रमय जगत् का प्रसव किया करती है । एक बार गुणिता शक्ति सम्पूर्ण विश्व के प्रवृत्त कराने वाली होती है । वेदादि के बीज, श्री वीजशक्ति वीज, मनोभव, प्रसाद, तुम्बुर, पिण्ड, चिन्तारत्न, गणेश्वर मार्तण्ड, भरव, दोर्ग, नारसिंह, वराहज, वासुदेव, हयगीव वीज श्री पुरुषोत्तम वीज और अन्य-प्रय वीजो को उस समय म निश्चय ही उन्मन कर दिया करती है ।”

इमलिए शास्त्र का आदेश है कि दीक्षारहित ज्ञान निष्फल होना है --

विना दीक्षा फल नस्यादयमिना शिवशासने ।
 सा च न स्याद्विनाचार्यमित्याचार्य पुर सरमा॥
 देवि दीक्षाविहीनम्य न मिद्विनं सदगति ।
 तम्पात् सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत् ॥

अर्थात् “विना दीक्षा के कोई भी फल नही होता है, जो शिव के ज्ञासन मे यमरहिन होते हैं । उनको फल नही मिलता है । यह दीक्षा भी आचार्य के विना नही होनी है, अनएव आचार्य के पुरस्तर ही होवे । हे देवि । जो दीक्षा ने विहीन पुरुष है, उसे न तो मिद्वि होनी है और न उसकी सदगति ही । इनसे सभी प्रयत्नो मे गुरु के द्वारा दीक्षित होना चाहिए ।”

तन्त्र की भाषा में कहे तो यो कहा जा सकता है कि दीक्षा का उद्देश्य समस्त प्रकार के पाशों का नाश करके ईश्वर-भाव का विकास करना है। इसके दो मुख्य अङ्ग माने जाते हैं—एक, पाशों का नाश करना और दूसरा, शिवतत्व के साथ शिष्य का योग कराना। इसमें गुरु-शक्ति ही प्रधान कार्य करती है। इसलिए गुरु को सामर्थ्यवान् होना आवश्यक बनाया गया है। सामर्थ्यवान् गुरु में दीक्षा लेने के लिए शिष्य को भी उसके लिए अधिकारी सिद्ध करना आवश्यक होता है।

गुरु-शिष्य की परस्पर परीक्षा—

हम चाहते हैं कि हमें व्यास और वशिष्ठ जैसे गुरु मिल जाएँ। इसके लिए आवश्यक है कि हम भी रामचन्द्र और जैमिनी जैसे शिष्य बनकर दिखाएँ। हर शिष्य चाहता है कि उसे उत्तम गुरु मिल जाएँ, परन्तु गुरु भी चाहते हैं कि उन्हें शुकदेव, गोडपाद, गोविन्दपाद और शङ्कराचार्य जैसे शिष्य मिले। योग्य गुरु मिलने पर शिष्य का शीघ्र विकास सम्भव होता है और योग्य शिष्य मिलने पर गुरु की आत्मशक्ति का कम व्यय होता है। योडे परिश्रम और शक्ति से ही अभीष्ट लाभ की मिल्दी हो जाती है। इसलिए शास्त्र का आदेश है कि दोनों को एक दूसरे की परीक्षा कर लेनी चाहिए। इसमें दोनों को सुविधा होगी—

गुरुशिष्याधिकाराथं विरक्तोऽपिशिवाज्ञया ।

किञ्चित्काल विधायेत्थ स्वगिष्याय समर्पयेत् ॥

तस्यापि नाधिकारस्य योग साक्षात् परे शिवे ।

देहान्ते शश्वती मुक्तिरितो शङ्करभाषितम् ॥

तस्मात् सवप्रयत्नेन साक्षात् परशिवोदितम् ॥

सम्प्रदाय परिच्छन्ना सदा कुर्यात् गुरु प्रिये ॥

शक्तिसिद्धिसिद्धार्थं परीक्ष्य विघ्वत गुरु ।

पश्चादुपदिशेन्मन्त्रमन्यथा निष्फल भवेत् ॥

अर्थात् “गुरु शिष्य के अधिकारार्थ विरक्त को भी शिवजी की आज्ञा से कुछ काल पर्यन्त ऐसा करके फिर अपने शिष्य के लिए समर्पित कर देना चाहिए। उस अधिकार का योग भी साक्षात्, पर शिव मे नहीं है। देह के अन्त हा जाने पर शाश्वती मुक्ति होती है—ऐसा भगवान शङ्खर का भावित है। इससे सर्व प्रयत्न के द्वारा परशिव के उदित का परिच्छिन्न प्रदान करके हे प्रिये सदा गुरु को करना चाहिए। गुरु भी को चाहिए की शिष्य की शक्ति, सिद्धि और असिद्धार्थता का विविसहित परीक्षण करके पीछे मन्त्र का उपदेश देना। अन्यथा सभी निष्फल हो जाता है।”

गुरु शिष्यावुभौ मोहदपरीक्ष्य परस्परम् ।

उपदेश ददद् गृहणन् प्राप्द्रयाता पिशाचताम् ॥

अशास्त्रीयोपदेशञ्च यो गृहणाति ददति हि ।

भुज्ञते तावुभौ घोरे नरकानेक विशती ॥

नन्यायेन तु यो दद्याद् गृहणात्यन्यायतङ्च य ।

ददतो गृहणतो देविकुलशापो भविष्यति ॥

अर्थात् “गुरु और शिष्य इन दोनों को ही मोह के वश मे होकर परीक्षण परस्पर मे न करके ही उपदेश देना तथा उस दिए हुए उपदेश को ग्रहण करना अनुचित है और इससे पिशाचता की प्राप्ति होती है। अशास्त्रीय उपदेश जो देता है या जो इसका ग्रहण करता है, वे दोनों ही प्रनेक विशति तक घोर नरक मे दुख भोगते हैं। अन्याय से जो कोई उपदेश देता है और जो भी कोई उसे ग्रहण किया करता है, उस उपदेश को देने वाले तथा ग्रहण करने को हे देवि ! कुलशाप हो जावेगा।”

ज्ञानेन क्रियया वापिगुरु शिष्य परीक्षयेत् ।

सवत्सर तदद्वै वा तदद्वै प्रयत्नत ॥

घनेच्छा भयलोभाद्यरयोरय यदि दीक्षयेत् ।

देवता शापमाप्नोति कृतञ्च निष्फल भवेत् ॥

अर्थात् “ज्ञान के द्वारा अथवा क्रिया के द्वारा गुरु को शिष्य की परीक्षा करनी चाहिए। एक वर्ष तक अथवा उसके आधे भाग में या इमक भी आधे ममय तक तरीकण करे और प्रयत्न से करे। धन की इच्छा, भय और लाभ आदि में यदि क्रिया भी अयोग्य को दीक्षा देना है तो दवता के शाप को प्राप्त होना है और जो भी कुछ क्रिया हुगा है, वह नब निष्फल हो जाना है।”

अधिकारी व अन्तिकारो शिष्य के लक्षण —

अधिकारी शिष्य के लक्षण शास्त्रो में इस प्रकार वर्णित किए गए हैं—

हित सत्य मित स्मरेत् भाषण मुक्तदूषणम् ।

सङ्कुक्तप्रहीतार्थं चतुर बुद्धिविस्तरम् ॥

स्वस्तुतौ परनिन्दाया विमुख सुमुख प्रिये ।

जितेन्द्रिय सुमन्तुष्ट धीमन्त ब्रह्मचारिणम् ॥

त्यक्ताविव्याविचापल्यदु खभ्रान्तिमशयम् ।

गुरुष्यानस्तुतिकथादेवाचर्चविन्दनात्मुकम् ॥

अर्थात् “हितप्रद, सत्य और परिमित दूषण से रहित भाषण का स्परण करे। एक बार कहा हुआ हो तथा उसके अथ को ग्रहण कर लिया जावे। यह चतुर बुद्धि का विस्तार है। अपनी स्तुति में तथा दूमगो की निन्दा में विमुख हो। हे सुन्दर मुख वाली, हे प्रिये। इन्द्रियों को जीतकर वश में रखने वाले, पूर्णरूप से सन्तुष्ट, बुद्धि मान्, ब्रह्मचारी, आधि, व्याधि, चपलना, दुख, आन्ति में रहित, सशय-शून्य, गुरु का ध्यान, स्तुति कया, देवों का अर्चन और वन्दना में उत्सुक हो।”

सवकार्यातिकुशल स्वच्छ मर्वीपकारिणम् ।

कृतज्ञ पापभोतञ्च साधुपञ्जनममर्तम् ॥

आस्तिक दानशीलवच सर्वभूतहिते रतम्
 विश्वासविनयोपेतं धनदेहाद्यवच्चकम् ॥
 आसाध्यसाधक शूरमुत्साहवलसयुतम् ।
 अनुकूलक्रियायुक्तमप्रमत्त विचक्षणम् ॥

अर्थात् “समस्त कार्यों में अत्यन्त प्रवीण, स्वच्छता से युक्त, मबका उपकार करने वाला, कृतज्ञ, पापों में डरने वाला, साधु एव सजन पुरुषों का सम्मन, धार्मिक, दानशील, सम्मन प्राप्तियों के हित में रति रखने वाला, विश्वास और विनय गुण में युक्त, धन और देहादि का वच्चन न करने वाला, जो अपाध्य कार्य हो उसकी भी साधना करने वाला, शूर, उत्साह और बल में समन्वित, अनुकूल क्रिया से युक्त, प्रमाद से रहित एव विचक्षण शिष्य होना चाहिए ।”

सच्छिष्यन्तु कुलेशानि शुभलक्षणसयुतम् ।
 समाधिसाधनोपेत गुणशीलसमन्वितम् ॥
 स्वच्छदेहाभ्यर प्राज्ञ धार्मिक शुद्धमानसम् ।
 दृढव्रत सदाचार श्रद्धाभक्तिसमन्वितम् ॥
 दक्षमन्पाशिन गूढचित्त निव्यजिसेवकम् ।
 विमृष्यकारिण वीर मनोदारिद्रियवज्जितम् ॥

अर्थात् “हे कुलेशानि । ऐमा ही सच्छिष्य होता है, जो शुभ लक्षणों से युक्त होता है । समाधि के साधनों से युक्त हो तथा गुण और शील में भी समन्वित हो । देह और वस्त्र को सदा साफ-सुधरा रखने वाला, प्राज्ञ, धार्मिक और शुद्ध मन वाला होता चाहिए । व्रत पर दृढ़ रहने वाला, सदाचारी तथा श्रद्धा एव भविन से युक्त, अति दक्ष, अल्प प्रश्न करने वाला, गम्भीर चित्त वाला और विना किसी बहाने या निमित्त के भेवा करने वाला, विचारपूर्वक कार्य करने वाला, वीर और मन की दरिद्रता में रहित शिष्य होना चाहिए ।”

अनविकारी शिष्य के लक्षण शास्त्र में इस प्रकार वर्णित किए गये हैं—

निद्रानन्द्रा जडालम्य द्यूनादिव्यसनात्त्वितम् ।
 अन्तभक्त्तकर थुद्र व्राह्ममक्तिविर्जितम् ॥
 व्यलीकवादिन शुष्क प्रेपित प्रेरक शठम् ।
 धनस्त्रीशुद्धिरहित निषेवविधिवर्जितम् ॥
 रहस्यभेदक वापि देवि कायविनाशकम् ।
 माजरिवकवृत्तिच्च रन्ध्रान्वेपणतपरम् ॥

अर्थात् “वर्जित शिष्य के लक्षण ये होने हैं—निन्द्रा, तन्द्रा, जडना, आलस्य, द्यून-क्रीडा आदि व्यमनों से युक्त हो, अन्तर में भक्ति करने वाला, थुद्र, व्राह्म भक्ति से रहित, व्यलीक (मिथ्या) बोलने वाला, शुष्क, प्रेपिन, प्रेरणा वाला, शठ, धन और स्त्री की शुद्धि से रहित एव निषेव क्या है और विधि क्या है—इस ज्ञान से शून्य हो । रहस्य का भेदन करने वाला, हे देवि । कार्यों का विनाश कर देने वाला, माजर और बगुना के समान वृत्ति रखने वाला तथा सबदा छिद्रों का अन्वेषण करने में परायण । ये सब अविकार-रहित शिष्य के लक्षण होते हैं ।”

स्वक्लेशवादिन स्वामिद्रोहिण म्वात्मवञ्चकम् ।
 जिह्वोपस्थिपर देवि तम्कर पशुवेष्टिनम् ॥
 अकारण द्वेषहासकनेशकोधादिकारिणम् ।
 अतिसाहसकर्मण ममन्तिपरिहासकम् ।
 कापुक चातिनिर्लज्ज मिथ्यादुश्चेष्टमूचकम् ।
 असूयामदमात्मर्यद भाहकारसयुतम् ॥

अर्थात् “सदा अपने ही क्लेश को बोलने वाला, स्वामी के माथ द्रोह करने वाला, स्वात्मवञ्चक, जिह्वा और उपस्थ की तृप्ति में तहर रहने वाला, हे देवि । तम्कर तथा पशु के तुल्य चेष्टा रखने वाला, विना ही किमी कारण के कारण द्वेष, हास, क्लेश और क्रोध आदि करने

वाला, अत्यन्त साहम के कर्म करने वाला, मर्मान्तक भेदक परिहास का करने वाला, कामुक, अत्यन्त निलज्ज, मिथ्या और दुष्चेष्टाओं का सूचक, असूया, मद और मात्मय, दम्भ, अहङ्कार जैसे दुर्गुणों से युक्त शिष्य अनविकारी होता है ।”

ईर्षपिण्ड्यपैशुन्यकार्पण्य क्राघमानसम् ।

अधीर दुखिन भीरुमशक्ति स्तव्धमातुरम् ॥

अप्रबुद्धमति मन्द मूढ चिन्ताकुलविटम् ।

तृष्णालोभयुत दीनमतुष्ट मवयाचकम् ॥

अथति “ईर्ष्य, परुपता, पिशुमता, कृपणता और क्रोध मन में रखने वाला, धीरना से शून्य, आनुर, अप्रबुद्ध मति वाला, मन्द, मूढ एव असतुष्ट तथा सभी किसी मेर याचना करने वाला शिष्य अनविकारी होता है ।”

मायाविन कृतधनञ्च प्रछन्नान्तरदायकम् ।

विश्वासवातिन द्रोहकारिणपापकर्मिणम् ॥

आततायिनमेकाक्ष कुत्सित कूटसाक्षिणम् ।

सर्वप्रतारक देवि सर्वोत्कृष्टाभिमानिनम् ॥

असत्य निठुरासक्त ग्राम्यादिवहु भाषिणम् ।

कुविचारकुत्कारक कलहप्रियम् ॥

अथति “मायावी, किये हुए अहसान को न मानने वाला, प्रच्छन्नान्तर दायक, विश्वास का धान करने वाला, आततायी, एव अधि वाला, कुत्सित, कूटसाक्षी (झूठी गवाही देने वाला), सभी किसी को ठगने वाला, हे देवि । मवमे प्रपने आपको ऊँचा मानने का अभिमान रखने वाला, असत्य, निष्ठुर, प्रशश्न, ग्राम्य तथा बहुत अधिक भाषण करने वाला, वुरे विचार, कुनर्क ग्रादि के करने वाला और सदा कलह से प्यार रखने वाला शिष्य अनविकारी होना है ।”

महिमा—

तत्त्व साधना में दीक्षा को आवश्यक बताया गया है। तभी उसकी महिमा का अपूर्व वर्णन प्राप्त होता है—

दीक्षये मोचयत्यूदर्घे शैवेघाम नयत्यपि ।

अर्थात् “दीक्षा से मुक्ति होती है और वह ऊपर के शिवघाम में पहुँचाती है।”

दीक्षया पागमोक्षस्तु शुद्धभावाद् विवेकजम् ।

“दीक्षा स पाशो का माला होता है और उसके बाद विवेकज्ञान की उत्पत्ति होती है।

पिच्छना तत्र के अनुमार—

दीक्षा विना न मोक्ष स्यात्प्राणिना शिवशासनात् ।

सा च न प्यद् विनाचार्यमित्याचायपरम्परा ॥४

उपानाशतेनापि य विना नंव सिद्ध्यति ।

ता दीक्षाभाश्रयेद यत्नात् श्रीगुरोर्मन्त्रमिद्ये ॥५

“शिव का अनुशासन यही है कि दीक्षा के बिना किसी को मुक्ति प्राप्त नहीं होती है। आचार्य-परम्परा विना दीक्षा नहीं होती। सैकड़ों प्रकार की उपासना-पद्धतियाँ प्रचलित हैं, परन्तु दीक्षा के बिना सिद्धि प्राप्त नहीं होती। गुरुदेव से दीक्षा प्राप्त करक ही मुक्ति प्राप्त करना सम्भव है।”

रमेन्द्रेण यथा विद्वमय सुवर्णता व्रजेत् ।

दीक्षाविद्वस्तथैवात्मा शिवत्वं लभते प्रिये ॥

दाक्षाग्निदर्शः मर्सौ यायाद्विच्छिन्नवन्धनं ।

गतस्तस्य कमवन्धो निर्जीवश्च शिवो भवेत् ॥

अर्थात् ‘रमेन्द्र पारद भस्म से विद्व होकर लोहा सुवर्ण बन जाया करता है, उसी भाँति दीक्षा से भली-भाँति विद्व हुआ आत्मा है प्रिये। शिव के न्वस्पता को प्राप्त हो जाया करता है। दीक्षा रूपी

अग्नि से दग्ध हुए कर्मों वाला यह मनुष्य विच्छान बन्धन वाला हो जाया करता है । इसके कर्मों का बन्धन तो निशेष हो जाया करता है । फिर जब यह मृत होता है, तो शिव के स्वरूप वाला हो जाया करता है ।”

दत्तात्रेय यामल के अनुसार—

अनीश्वरस्य मत्य स्य नास्ति त्राता यथा भुवि ।

तथा दीक्षाविहीनस्य नेह स्वामी परत्र च ॥

अर्थात् “जा मनुष्य बिना ईश्वर वाला होता है, जिस तरह से भूमण्डल में उस अनीश्वरवादी का कोई त्राण करने वाला नहीं होता है, वे से ही दीक्षा से विहीन पुरुष का भी यहाँ और परलोक में भी कोई रक्षक नहीं होता ।”

विष्णु यामल में लिखा है—

अता गुरु प्रणम्येव सर्वस्व विनिवेद्य च ।

गृह्णीयाद्वैष्णव मन्त्र दीक्षापूर्व विधानत ॥

अर्थात् “इसलिए इस प्रकार से गुरु को प्रणाम करके जो भी कुछ अपने पास हा उस सब कुछ को उनकी सेवा में समर्पित करके वैष्णव मन्त्र का ग्रहण करे, जो कि विधान से दीक्षापूर्वक ही होता चाहिए ।”

पुरश्चरण रमोलनास (प्रथम पटल) के अनुसार दीक्षा से बढ़कर न कोई ज्ञान है, न तप है । प्रत यह सत्वथ्रेष्ठ है ।

तत्त्वत्त्वेश्वर में कहा है कि सभी तरह की दीक्षा से माधा की उपलब्धि होती है और योग की प्राप्ति होती है । पापों का नाश होता है, गुरु से दीक्षा न लेकर जो केवल पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर साधना करता है, वह महान् मन्त्र में भी मदगति नहीं पाता । जो व्यक्ति दीक्षा नहीं लेता, उसके बन, नियम, तप और नीययात्रा कुछ भी सफल नहीं होता । ऐसे व्यक्ति द्वारा या ऐसे के लिए किया गया शाद्म मान्य

नहीं होता । इसनिए मदगुरु मे दीक्षा लेना अत्यन्त आवश्यक माना गया है ।

तन्त्र का मत है कि दीक्षा से अपूर्णता का नाश और आत्मा की सम्प्रकृति होती है । इसमे आणवमल की निवृत्ति होती है । जो आत्मा पशुभाव मे मिथ्यन है, वह दीक्षा के प्रभाव से ऊपर उठकर शिव-को प्राप्त होती है ।

परिभाषा—

दीक्षा की परिभाषा तन्त्र में इस प्रकार दी गई है—

दीयते ज्ञान सङ्घाव क्षीयते पशुवामना ।

दानक्षपण सयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता ॥

“जो ज्ञान देती है और पशु वामना का क्षय करती है ऐसी दान और धण्यायुवत क्रिया को दीक्षा कहा जाता है ।”

दिव्यज्ञान यतो दद्यात् कुर्यात् पापक्षय तत् ।

तस्माद्विक्षेति, मा प्रोक्ता सर्वतन्त्रस्य सम्मता ॥

—विश्वसार तन्त्र

“जो पापो का नाश करके दिव्य ज्ञान प्रदान करती है, उसे दीक्षा कहा जाता है । मधी तन्त्रो का यही मत है ।”

ददातिदिव्यभावञ्चेत् थिरायात् पापसन्तनिम् ।

तेन दीक्षेति विख्याना मुनिभिस्तन्त्रपारगौ, ॥

—गौतमीय तन्त्र अ० ७

“जिसमे दिव्य भाव की उपलब्धि और पाप-नाश होता हो, तत्र मे विख्यात मुनियो ने उसी को दीक्षा कहा है ।”

दीयते परम ज्ञान क्षीयते पाप पद्धति ।

तेन दीक्षोच्यते मन्त्रे-स्वागमार्थवलवालात् ॥

“जो परम ज्ञान की दाता और पापो का नाश करती है, आगम शास्त्रो मे उसी को दीक्षा के नाम से सम्बोधित किया गया है ।”

ददाति शिवता दातम्य क्षिणोति च मलवलयम् ।
अतो दीक्षेति सप्रोक्ता दीक्षात्वार्थवेदभि ॥

“जो शिव की तद्रूपता-समाधि को प्रदान करती है और तीन मलों (आणव, कर्मण और मायिक) का क्षय करती है । अत दीक्षा तत्र के अथ के जानकार मुनियो ने इसका नामकरण दीक्षा किया ।”

दीयते ज्ञानमत्यर्थं क्षोयते पाशबन्धनम् ।
अतोदीक्षेति देवेशि कथिता तत्त्वचिन्तकं ॥
मनसा कमणा वाचा यत्पाप समुपाजितम् ।
तेपा विशेषा करणी परमज्ञानदायत ॥
तस्मात् दीक्षेति लोकेऽस्मद् गायते शस्त्र वेदके ।
विज्ञान फनदा मैव द्वितीया लयकारिणी ।
तृतीयामुक्तिदा चंव तस्माद्दीक्षेतिधीयते ॥

“जो ऋद्धज्ञान को प्रदान करने वाली और पाश व कर्म बन्धनो का छाय करने वाली है । तत्त्व चिन्तको ने उसे दीक्षा नाम दिया है ।

मनसा, वाचा, कमणा जो पाप किए जाते हैं, उनकी नाशकता और परम ज्ञान प्रदाता होने के कारण शास्त्रज्ञो ने इसे दीक्षा रहा है ।

प्रथम विज्ञन फन देने वाली द्वितीय लय भोग मिहू ररने वाली और तृतीय मोक्षदाता होने के कारण इसे दीक्षा कहते हैं ।”

दीक्षा को तन्मो मे आत्म सम्कार की मजा दी गई है । वद आत्मा तीन मलो से युक्त रहता है । तीन मल हैं - आणव कार्प और मायिक । इनके कारण उमसी पूर्णता में बाधा पड़ती है । इनकी निवृत्ति मे पूर्णता की प्राप्ति होती है । वास्तव मे तो आत्मा पूर्ण है, उसमे अपूर्णता का अंशमात्र भी नहीं है परन्तु माया के सयोग के कारण वह अपने को अपूर्ण समझती है । इस स्थिति को आणव मल की सज्जा दी

गई है। अपूर्णा की भावना के साथ कामनाएँ, इच्छाएँ और वासनाएं जुड़ी हुई हैं। मनुष्य जब अपने को आत्मा न मानकर शरीर ही समझता है, तो जड़ शरीर की सुख-सुविधाओं की वृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहता है। यह भोग वन्धन का कारण बनते हैं। इन्हे तन्त्र की भाषा में कार्म-मल कहा जाता है। एक तात्रिक शास्त्री के अनुमार मायिक मल की परिभाषा इन प्रकार है—“कला, विद्या, राग, काल तथा नियति और इनकी समष्टिभूता माप्रा। पुर्यष्टक तथा स्थूल भूतमय विभिन्न जातीय कारण, सूक्ष्म एव स्थूल देह—इन सब दहों के आश्रयभूत, विचित्रभूयत और नाना प्रकार के भोग्य पदार्थों का अनुभव चिन्मक कारण होता है, उसे मायिक मल कहते थे।” इन तीनों मनों में वह आत्मा का सक्षार ही दीक्षा है।

एक विद्वान् ने वडे सुन्दर ही शब्दों में दीक्षा का प्रतिपादन किया है—

“श्री गुरुदेव की कृपा और शिष्य की श्रद्धा, इन दो पवित्र घाराओं का सगम ही दीक्षा है। गुरु का आत्मदान और शिष्य का आत्मसम्परण, एक की कृपा और दूसरे की श्रद्धा के अतिरेक से ही यह सम्बन्ध होता है।

दीक्षा एक हृषि से गुरु की और से आत्मदान, ज्ञान सचार अथवा शक्तिपात है, तो दूसरी हृषि से शिष्य में सुपुस्त ज्ञान और शक्तियों का उद्भवोधन है। दीक्षा से ही शरीर की समस्त अशुद्धियाँ मिट जाती हैं और देह शुद्ध होने से देव-पूजा का अधिकार मिल जाता है। गुरु एक है और उन्हीं से चारों और शक्ति का विस्तार हो रहा है। यदि परम्परा की हृषि में देखें तो मूल पुरुष परमात्मा में ही ब्रह्मा, रुद्र अदि के क्रम से ज्ञान की परम्परा चली आई है और एक शिष्य से दूसरे शिष्य में सक्रान्त होकर वही वर्तमान गुरु में भी है। इनी का नाम सम्प्रदाय है और गुरु के द्वारा इसी अविचित्रन सम्प्रदायिक ज्ञान की

पाप्य होती है, न तोकि मुत्तसीक ही करता प्राप्तित होती भाव है। उसमें दूदार्थ सुन लालों के जगरण में वही सहायता प्रियती है और इही वार्ता है। कभी उभी तो जिनके चरा में वही शक्ति है व्याख्याता और सरा विश्वास है, तो भी भगवत्तुम का उत्तरा अनुभव नहीं हो पाते, अतना के गिर्वाको दीक्षा हो द्वितीय है।"

इसका जारण १६ है कि दीक्षा देते समय गुरु जो अपने शरीर में गुरुत्व शक्ति की स्थापना करनी पड़ती है उभी वह गुरु-दीक्षा देते के नीमा होता है। लहसुन कमल में निरास फरने वाले परम शिर की पाणियोंकी ही गुरुत्व शक्ति कही जाती है। इस महाशक्ति के सचार से ही गुरु-शिष्य नीं भात्मा के पाण्य भरतों का सहार कर पाता है। भाज-ज्ञा तो न वोग गुरु है भी, न लिख। केवल एकीर पीठ न हो मान रह गया है। यदि तन में चलने विषय विपान के अनुगार दीक्षा दी जाए तो शास्त्रों में चलिए। जाग अवसरा पात्त होते हैं। उभी इसका उत्तरा गटान् बाहुदृष्ट्य भरता ही गया है और इसकी भरी भारता भरता का अनुभव किया गया है।

प्रकार—

दीक्षा निभि ॥ पकार की है, शास्त्र ॥ अथवा ॥

स्पृपरिता देवि एक् सदा भातसारा महेश्वरी ।

तिपामासादिरहिता देवि दीक्षा तिपा सृता ॥

"पञ्चतयी दीक्षा तीन पकार की रुई गई है। स्पृश दीक्षा, एक दीक्षा और भातस दीक्षा। योग गुरु ग्राही ज्ञा से लिला भी शिरदृष्टि से स्पृश दीक्षा, इथ एकीर से देतो पर एक दीक्षा और साथ सत्रत्य है भात से भातस दीक्षा देते हैं।"

गुलाखंव तंत्र में इनसे गर्वन् इस पकार है—

गधा पथो द्ववजाऽग शिरून् सवधयेत्तत्त्वे ।

स्पृशदीक्षोरदेशस्तु तात्त्वा इपित ५५३ ॥

‘जिस तरह पक्षी अपने पक्षो के स्पर्श में अपने शिशुओं का पालन पोषण करता है, उनी तरह नी यह स्पर्श दीक्षा है।’

स्वपत्यानि यथा कूर्मी वीक्षणेनैव पोपयेत् ।

दृग्दीक्षाखणोपदेशस्तु तादृशा वियत प्रिये ॥

“जिस तरह कछुबी अपने शिशुओं का हठिटमात्र से पोषण करती है, उसी तरह की यह दृग्दीक्षा है।”

यथा मत्सी स्वतनयान् ध्यानमात्रेण पोपयेत् ।

वेघदीक्षोपदेशस्तु मनम स्यात्थाविध ॥

“जिस तरह से मछली ध्यान मात्र से अपने बच्चों को पालनी है, उसी तरह से ध्यान दीक्षा मन से की जाती है।”

इसके अतिरिक्त एक शब्द-दीक्षा होती है। इस तरह से स्पर्श, भाषण, दर्शन और मक्लप यह चार प्रकार की दीक्षा हुई, जिसे स्थूल, सूक्ष्म, मूळमन्त्र और सूक्ष्मतम कहते हैं—

विद्धि स्थूल सूक्ष्म सक्षमतर सूक्ष्मतमभिक्रमत ।

स्पर्शनभाषणदर्शनसङ्कल्पनजत्वतश्चतुर्वात्मम् ॥

शिवागम में तीन प्रकार की दीक्षा का विवेचन है—

शाभवी चैव शाक्तोच मात्रो चैव शिवागमे ।

दीक्षेपदिश्यतेत्रेषां शिवेन परमात्मना ॥

“परमात्मा शिव ने शिवागम में तीन प्रकार की दीक्षा—जाभवी, शाक्तो और मात्री का उपदेश दिया है।”

शाभवी दीक्षा के लक्षण इस प्राप्तार्थित किए हैं—

गुरोरालोकमात्रेण भाषणस्पर्शनादपि ।

सद्य सञ्जायते ज्ञान सा दोक्षा शाभवीयता ।

देशिकानूग्रहेणैव शिवता व्यक्तकारिणी ।

मेयन्त शभवो दीक्षा शिवादेशस्य कारिणो ॥

चरणद्वयसभूता शाभवी शोद्ध्रसिद्धदा ।

“सामर्थ्यवान् गुरु की दृष्टि, भाषण व सर्वं से वह शक्ति का मचार करते हैं, तब शिष्य में दिव्य ज्ञान की उत्पत्ति होती है। गुरु-कृपा और शिष्य के सौभाग्य ने आत्म-साक्षात्कार की स्थिति जिसमें प्राप्ति है, उसे शाम्भवी दीक्षा कहा गया है। गुरु अपने अनुप्रद से शिष्य को कृताय कर देते हैं। शिव-शक्ति के समायोग चरणद्वय से सम्प्रकृप्रकार से श्री हुई यह यह शाम्भवी दीक्षा सिद्धि प्रदान करती है।”

वायवीय सहिता में कहा है कि गुरु दृष्टि और स्पश से एक क्षण में ही स्वरूप स्थित कर देते हैं। यही शाम्भवी दीक्षा है।

स्त्र यामल के अनुमार शिव के चरण-द्वय से सम्पन्न दीक्षा ही शाम्भवी है। चरण-द्वय का अभिप्राय है—शिव और शक्ति दोनों के चरण।

शाम्भवी दीक्षा से स्वरूप स्थिति का कारण बताते हुए शास्त्र में कहा गया है कि गुरु की दृष्टि से शिष्य का सहमार प्रफुल्लित हो जाता है, जिससे उसे समाधि की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

शाक्ती-दीक्षा का वर्णन शास्त्रों में इस प्रकार किया गया है कि कुण्डलिनी ही शक्ति है, उसका जागरण करके अद्विनाढी में होकर शिव के साथ मिला देना ही शाक्ती-दीक्षा कहलाती है। इसमें कुण्डलिनी जागरण के लिए गुरु-शिष्य के अन्तर में प्रवेश करते हैं और अपनी शक्ति से यह किया सम्पन्न करते हैं। इसमें गुरु-शक्ति की ही विशेषता है। शास्त्र में कहा है—

शाक्ती ज्ञानवती दीक्षा शिष्यदेहे प्रविश्यतु ।

गुरुणा योग-मार्गेण क्रियते ज्ञानचक्षुपा ॥

“ज्ञानवती शाक्ती दीक्षा उसी को कहते हैं, जिसमें गुरु योग-शक्ति से शिष्य के शरीर में प्रवेश करते हैं और अपने ज्ञान चक्षुपो से दीक्षित करते हैं।”

शाक्ती शक्तिभवा दीक्षा शक्ति श्रीपरकृण्डली ।

तस्याः प्राण विलोमेन प्रवेश, परशम्भवे ॥

शक्ति से होने वाली शावती-दीक्षा [श्री परकुण्डली है। उसके प्राण विलोम से पञ्चमभव में प्रवेश हो जाता है।

मात्री दीक्षा के लक्षण इस प्रकार बताए गए हैं—

मत्र मार्गनुसारेण साक्षात् कृतेष्टदेवताम् ।

गुरुश्चोद्वाधयेच्छ्रव्य मत्रदीक्षेति सोच्यते ॥

स्वय मत्रतनुभू त्वा सक्रम मत्रमादरात् ।

दद्यात् शिष्याय मा दीक्षा मात्रीमलविद्यातिनी ॥

मात्री मत्रोद्वादीक्षा तच्छक्ति स्वात्मसम्भवा ।

मत्र यत्रार्चनादुक्तक्रियाभिर्भौगमोक्षदा ।

“मन्त्र मे उत्पन्न होने वाली दीक्षा को मात्री दीक्षा कहा जाता है, उसकी शक्ति अपनी ही आत्मा से सम्भूत हुया करनी है। मन्त्र जाप तथा यन्त्र का अर्चन मे उक्त क्रियाओं के द्वारा वह भोग और मोक्ष दोनों का प्रदान करने वाली होती है।”

मन्त्र-मार्ग मे आणवी दीक्षा इस प्रकार दी जाती है—

मत्रार्चनासनन्धास ध्यानोपचारकादिभि ।

दीक्षा सा आणवी प्रोक्ता यथाग्रामोक्तरूपिणी ॥

शिवशक्तिसमायोगजजन्मान्तरकृतात् शुभात् ।

शवपूजानुसन्धानात् कर्मसाम्य यदा भवेत् ॥

शिव एव तदा साक्षादाणव्यादीक्षया भवेत् ।

सर्वेषामेव दीक्षारणा मुक्ति फलमखण्डितम् ॥

अर्थात् 'मन्त्र, प्रचना आसन न्यास ध्यान, उपचार आदि के द्वारा जो दीक्षा होती है, वह आणवी दीक्षा कही गई है और शास्त्रों के अनुमार उक्त रूप वाली होती है। शिव-शक्ति के समायोग से तथा अङ्ग जन्मों मे किए हुए शुभ कर्म से तथा शिव की पूजा के अनुसन्धान से जिस समय कम का साम्य हो जाता है उस समय मे आणवी दीक्षा हो सकती है जिव ही हो जाया करता है। सभी दीक्षाओं का फल

अखरिडत है और मुवित अर्थात् जन्म-मरण के बारम्बार आवागमन से दृटकारा पाना होता है ।”

नाम क्रिया-भेद से दीक्षा के अनेको भेद है । आणवी दीक्षा के दस भेदों का वरणन करते हुए कहा गया है—

स्मार्ती मानसिकी योगी चाक्षुषी स्पार्शिकी तथा ।
वाचिकी मात्रिकी होत्री शास्त्री चेत्यभिषेचिशा ॥

“स्मार्ती, मानसी, योगी, चाक्षुषी, स्पर्शिकी, वाचिकी, मात्रिकी, होत्री, शास्त्री और अभिषेचिका—यह दस प्रकार की दीक्षाएँ हैं ।”

‘शारदा पट्ट’ मे चार प्रकार की दीक्षाओं का वर्णन है—

चतुर्विधा सा सन्दिष्टा क्रियावत्यादि भेदत ।
क्रियावती वर्णमयी कलत्मावेधमयपि ॥

अर्थात् “क्रिया आदि के भेद से वह चार प्रकार की सन्दिष्ट की गई है । क्रियावती, वर्णमयी, कलात्मा और वेधमयी—यही उसके चार प्रकार होते हैं ।”

सुविधा की दृष्टि मे दीक्षा के दो भेद भी कर लिए गये हैं—
वाह्य और आन्तरिक ।

दीक्षा च द्विविधा प्रोक्ता वाह्याभ्यन्तर भेदत ।
क्रियादीक्षा भवेदवाह्या वेधाख्याभ्यन्तरी मतः ॥
द्विवादीक्षासाधारा च निराधारा तथैव च ।
नित्ये नमित्तिके नाम्ये यम्याश्चैवाधिकारिता ॥
माधारा सा सप्रस्ता निराधारा च मुक्तिदा ।
निमंला सा च विज्ञेया वद्यते तत्त्वचिन्तके ॥

अर्थात् “दीक्षा दो प्रकार की बतलाई गई है—एक वाह्य होती है और दूसरी याम्यानं दुप्रा तरती है । जो क्रिया-दीक्षा है, वह वाह्य नहीं है तथा जो वरनाम वाना दीक्षा है वह आम्यानं री मानी गई है ।

दोनों प्रकार की दीक्षा आधार से मुक्त हया विना आधार वाली होती है। नित्य नैमित्तिक और काम्य में जिसकी अविकारिता हुआ करती है, वह साधार दीक्षा कहलाती है। जो निराधार दीक्षा है, वह मुक्ति प्रदान करने वाली होती है। उसे तत्त्वों के चिन्हन करने वालों के द्वारा निर्मला दीक्षा वही जाता है। अत उसे निर्मला ही जानना चाहिए।

प० गोपीनाथ कविराज ने दीक्षा भेदों का वर्णन करते हुए कहा है—

“आगम के अनुमार माधारणतया अध्वाश्रो के वैचित्र्य से दीक्षा-भेद इस रूपार है—वलादीक्षा १, तत्त्वदीक्षा ५, पददीक्षा १, मन्त्रवण-भुवनदीक्षा ३, केवल भुवनदीक्षा १, सब मिलाकर ११ है।

तत्त्वदीक्षा के आवातर भेद हैं—

एवत्त्व दीक्षा, त्रित्त्व दीक्षा, पञ्चत्त्व दीक्षा, नवत्त्व दीक्षा और छत्तीस तत्त्व दीक्षा। ये सब पाँच प्रकार भी हैं, किसी-किसी स्थान पर अठारह तत्त्वों की दीक्षा का भी वर्णन दीख पड़ता है, छत्तीस तत्त्व तो सबत्र सुप्रसिद्ध ही हैं। अठारह तत्त्व इस प्रकार हैं—शदादि ५, मन, वृद्धि, अहङ्कार, गुण, प्रकृति—५, पुरुष, नियति, काल, माया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव और शक्ति—८ कुल १८। नवत्त्व हैं—प्रकृति, पुरुष, नियति, काल, माया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव और शिव। पचत्त्व इस प्रकार हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। तीन तत्त्व इस प्रकार हैं—आत्मतत्त्व (दिज्ञानकाल पर्यन्त), विद्यातत्त्व (ईश्वर पर्यन्त) और शिवतत्त्व (शेष सब तत्त्व)। एक तत्त्व याने शिवतत्त्व, जिस प्रक्रिया में जिस तत्त्व या जिन तत्त्वों को मुख्य रूप से ग्रहण किया जाता है, वहाँ अन्यान्य तत्त्वों का अन्तर्भाव समझना चाहिये क्योंकि वहाँ उक्त तत्त्वों का प्रावान्य है तथा और तत्त्वों का गुणभाव है। ये ग्यारह प्रकार की दीक्षाएँ अद्वगत भेद के अनुमार कही गई हैं।”

इनके अनन्तर ज्ञान-दीक्षा से लेकर सब दीक्षाओं की संख्या १२ होती है। इनमें से प्रत्येक के सवीज, निर्विज तथा सद्यो-निवाहिदायिनी भेद से तीन अवातर भेद होते हैं। इस प्रकार दीक्षाओं

की कुल सख्त्या ३६ है । आन्तर्यांत्रीकी दीक्षा के बल सबों ही होती है, वह बारह प्रकार की है—साधक लोकधर्मी तथा शिवधर्मी भेद से दो प्रकार के होते हैं, इसातए साधक-दीक्षा २४ प्रकार की है (१२×२) । समयी का अध्यवस्थास नदी होता, जान तथा क्रिया से उनका हृदादि या ग्रन्थिभेदन हो जाता है । इपीलिए एम हृषि से उनकी दीक्षा दो प्रकार की होती है । कुण दीक्षा रोद ७४ है (३६+१२+२४+२) इनमें सकल, निष्कल, अपोरेरश्चरी आदि के अनुष्ठान और लोककर्मी साधक के प्रवान्तर वैचित्रयों के पारण तथा भौतिक, निष्ठिक आदि भेदों के कारण दीक्षा के असख्त्य भेद है ।”

समय-दीक्षा—

जब गुरुदेव शिष्य को हृदय से ग्राहीर्वदि देना चाहते हैं, तो शिष्य के मस्तक पर शिवहस्त का अर्पण करते हैं । इसी घो 'समय दीक्षा' कहा जाता है । शिवहस्त के स्पष्टीकरण से लिए शास्त्र का चन्नन है—

ब्रह्मप्रपञ्चसयुक्त शिवेनाधिष्ठित शिव ।
पाशच्छेदकर क्षेमी शिवहस्त, प्रकीर्तित ॥

अर्थात् “ब्रह्म प्रपञ्च से सयुक्त शिव, शिव के हारा अधिष्ठित । शिव वा हस्त, पाशों के छेदकर क्षेमे वाला तथा क्षेमप्रद वहा गया है ।”

यह दीक्षा उसे दी जाती है, जिसके हृदय में मद शक्तिपात्र में भद्राभक्ति नी उत्तरति हो ताकि वह गुरु व देवता की पूजा कर सके और

के कोई वन्धन हैं। इसमें कर्म-समूह का परिचय हाता है, क्योंकि कम परिचयक दृष्टि विना नष्ट भी नहीं होता। ऐसे दीक्षा में पूर्णत्व की प्राप्ति सम्भव नहीं। इससे तो पूजा, पाठ, हवा, व्यान आदि भी पात्रता ही प्राप्त होती है।

पुत्रक दीक्षा—

नियन्त्रार और गोपनवार तन्त्र में इसका वर्णन है। वागी-श्वरी के गर्भ में दूषण जन्म हान के कारण जो दीक्षा लेता है, उसे 'पुत्रक' कहा जाता है। इसीलिए इस 'पुत्रक दीक्षा' कहते हैं। जैसे समय दीक्षा में ईश्वर-पद में प्रतिष्ठित होता है, वैसे ही पुत्रक दीक्षा में परम तत्त्व में स्थिरता मिलती है। तात्त्विक भाषा में इसमें शुद्ध देह की प्राप्ति होती है। यह दह भी उच्च श्रेणी की है, परन्तु फिर भी उसमें पूर्णता का प्राप्ति सम्भव नहीं है।

निर्वाण दीक्षा—

पुत्रक के बाद निर्वाण दीक्षा का नियम है। पुत्रक दीक्षा लेकर जब मावक दीर्घकाल तक सावना करता है तभी निर्वाण दीक्षा का अधिकार प्राप्त करता है। समय व पुत्रक का अपेक्षा इसका महत्व बिशेष है, क्योंकि इसके प्रसाद में शिवरद में योग हाना सम्भव है, समय और पुत्रक में एमा नहीं हो सकता। समय दीक्षित सावक का पूर्व जाति-सम्बन्ध बना रहता है। अन उसकी पर्युत्त्र निवृत्ति नहीं होती। उसकी दह भी प्रशुद्ध माती जाती है। पुत्रक की दह तो अशुद्ध नहीं रहती बरन् विशुद्ध हो जाती है, परन्तु इनका हान पर भी आग्रह मन की निवृत्ति नहीं होती। अन शिवरद में यान नहीं हो पाता। निर्वाण में मन परिसर्व हो जाता है, तभी शिवरद में याता होने की आगा रहती है।

की कुल संख्या ३६ है। आचार्य की दीक्षा के बाल सबोज ही होती है, वह बारह प्रकार की है—साधक लोकधर्मी तथा शिवधर्मी भेद से दो प्रकार के होते हैं, इसलिए साधक-दीक्षा २४ प्रकार की है (१२×२), समयी का अध्यवस्थास नहीं होता, जान तथा क्रिया से उनका हृदादि या ग्रन्थ भेदन हो जाता है। इपीलिए इस हृषि से उनकी दीक्षा दो प्रकार की होती है। कुल दीक्षा भेद ७४ है (३६+१२+२४+२) इनमें सकल, निष्कल, अघोरेश्वरी आदि के अनुष्ठान और लोककर्मी साधक के अवान्तर चैचित्रयों के कारण तथा भौतिक, निष्ठिक आदि भेदों के कारण दीक्षा के असंख्य भेद हैं।"

समय-दीक्षा—

जब गुरुदेव शिष्य को हृदय से आशीर्वाद देना चाहते हैं, तो शिष्य के मस्तक पर शिवहस्त का अपण करते हैं। इसी पौ 'समय-दीक्षा' कहा जाता है। शिवहस्त के स्पष्टीकरण से निए शास्त्र का वचन है—

ब्रह्मप्रपञ्चसयुक्त शिवेनाधिष्ठित शिव ।

पाशच्छेदकर क्षेमी शिवहस्त, प्रकीर्तित ॥

अर्थात् "ब्रह्म प्रपञ्च से सयुक्त शिव, शिव के हारा अधिष्ठित । शिव का हस्त, पाशों के छेदन करने वाला तथा क्षेमप्रद कहा गया है।"

यह दीक्षा उमे दी जाती है, जिसके हृदय में मन्द शक्तिपात से ध्रदाभक्ति की उत्तरति हो ताकि वह गुरु व देवता की पूजा कर सके और मात्र ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त कर सके। यह दीक्षा सर्वसाधारण को दी जाती है। इसमें ईश्वर तत्त्व की पूजा-पाशता प्राप्त होती है। इस दीक्षा का उग्रता दीक्षोत्तर तत्त्व, स्वरूपन्द तत्त्व और देवी यामन ग्राहन है। इस दीक्षा में सभी फा समान अधिकार स्वीकार किया गया है। इसमें भेद-नाव का एक नियम नहीं है और न ही पान और आश्रम

के कोई वर्णन है। इसमें कर्म-समूह का परिचय हाता है, क्योंकि कर्म परिपक्व हुए विना नष्ट भी नहीं होते। इस दीक्षा में पूर्णत्व की प्राप्ति सम्भव नहीं। इसमें तो पूजा, पाठ, हवन, धारण आदि भी पात्रता ही प्राप्त होती है।

पुत्रक दीक्षा—

निश्चिवचार और योगसचार तत्त्व में इसका वर्णन है। वागी-छवरी के गर्भ में दूसरा जन्म हान क कारण जो दीक्षा लेता है, उसे 'पुत्रक' कहा जाता है। इसीलिए इस 'पुत्रक दीक्षा' कहते हैं। जैसे समय दीक्षा से ईश्वर-पद में प्रनिष्ठित होता है, वैसे ही पुत्रक दीक्षा में परम तत्त्व में स्थिरता मिलती है। तात्रिक भाषा में इसने शुद्ध देह की प्राप्ति होती है। यह देह भी उच्च श्रेणी की है, परन्तु किंग भी उसमें पूर्णता का प्राप्ति सम्भव नहीं है।

निर्वाण दीक्षा—

पुत्रक के बाद निर्वाण दीक्षा का क्रम है। पुत्रक दीक्षा लेकर जब माघक दीर्घकाल तक मात्रता करता है तभी निर्वाण दीक्षा का अधिकार प्राप्त करता है। समय व पुत्रक की अपेक्षा इसका महत्व विशेष है, क्योंकि इसके प्रभाव में शिवपद में योग हाना सम्भव है, समय और पुत्रक में ऐसा नहीं हो सकता। समय दीक्षिण साधक का पूर्व जाति-सम्बन्ध दना रहता है। अन उसकी पशुत्व निवृत्ति नहीं होती। उसकी दह भी अशुद्ध मात्री जाती है। पुत्रक की दह तो अशुद्ध नहीं रहती वरन् विशुद्ध हो जाती है, परन्तु इनना हाने पर भी आणव मल की निवृत्ति नहीं होती। प्रत शिवपद में योग नहीं हो पाता। निर्वाण में मन परिपक्व हो जाता है, तभी शिवपद में याग होने की आपा रहती है।

वेद दीक्षा—

ततो वेदमरी वक्ष्ये दीक्षा ससारमोऽिनोम् ।
 ध्यायेच्छ्रित्प्रतनोमध्ये मूलाधारे चतुदले ॥
 त्रिकोणमध्ये विमले तेजस्त्रयविजृम्भिते ।
 बलयत्रथसयुक्ता तडित्कोटिसप्रभास् ॥
 शिवशक्तिमयी देवी चेतनामार्तवप्रहास् ।
 सूक्ष्मा सूक्ष्मतरा शक्ति गित्वा पटु चक्रगञ्जसा ॥
 गच्छन्ति मध्यमार्गेण दिवा परशिवावधि ।
 सहैवमात्मन, शक्ति वेदयेत्परमेश्वरे ॥

“यह वेद दाक्षा जगत् के पासो को नष्ट करने तानी है । गुरु का कर्तव्य है कि वह कोटि-कोटि प्रिद्युत-पुञ्जा की भाँति प्रकाशमयी भी शिवशक्तिमयी देवी कु डलिनी का ध्यान करे जो शिष्य के शरीर में चनुर्दल मूलाधार ऊपर में तीन तरह के रगों में मिले हुए विगल तेजत्रय से प्रकाशित निराण योनि-स्थान के मध्य में श्रिवलयाकार रूप में निवास करती है । कु डलिनी का चेतनामान ही विप्रह है । यह सूक्ष्म से पूर्वतर शक्ति है । इम शक्ति को परशिव में विनी । ऊरने के लिए मध्य गाग सुपुम्ना में प्रेषण कराके पटुनक्त का वेघन करे । इस तरह से ईश्वर के स्तप का वो ग कराने के लिए गुह ग्रन्थी शक्ति का मध्यार शिष्य में करते हैं ।”

गुरुपदिष्टमार्गेण वेद कुर्याद्विचक्षण ।
 पाप मुक्त क्षणच्छ्रित्प्रश्चित्र नपाशम्नया भवेत् ॥
 वाह्यव्यापारनिमुक्तो भूमी पतति तत्त्वाणात् ।
 सज्जातदिव्यभावाऽसी नर्व जानाति याभ्यवि ।
 यदस्ति वेदक तत्त्वस्त्रयमेवानु भूयते ।

“परम्परा मार्ग से जप गुरु पैर-शीला इत है, तो शक्तिपान में शिष्य पासों ने मुक्त हो जाना है । पैर नात्य भावार ने फिरुन टाटा

उमी समय भूमि पर गिर जाना है। ऐसा जित्यु गुरु के भाव का ममभ जाना है। वह स्वयं भी दिव्यभाव को प्राप्त हो जाता है, अनेक वह भी स्वं कुछ जान जाना है।”

वेद दीक्षा के महत्व को प्रदर्शित करने के लिए इत्ता है—

प्रबुद्ध महमा शिष्पस्तत्सौख्य बनुधेश्वरि ।
वेदावेद्व शिव, साक्षात् पुनजन्मता व्रजेत् ॥
एषा तावनरा दीक्षा भव वन्वविमाचिनी ।
गिवभागप्रदा देवि त्वा जपे कुलनायिके ॥

‘शक्तिगत से भूमि पर गिरने के बाद वह तत्काल ही होश में आ जाना है, तब वह महामुख की अनुसूनि करता है। ऐसी वेद दीक्षा जिसे मिलती है, वह भाग्यवान् साक्षात् रूप ही हो जाना है, उमर्ना किं जन्म नहीं होता। ऐसी तीव्रनर दीक्षा भव वन्वन को नष्ट करने वाली और गिव-भाव प्रदान करने वाली है—ऐसा स्वयं शिव शपथ लेकर नहते हैं।’

चालुगी दीया द्वारा भी शक्तिगत किया जाना है। शाश्लोकी के ६१वें श्लोक से इस प्रकार वर्णन है—

तद्व्रह्मीवाहमस्मीत्यनुभव उदितो यस्यकम्यापि चेद्व
पुस श्रासदगुरुणामतुलिनकरुणापूर्णं पीयूपटष्टपा ।
जीवन्मुक्त स एव भ्रमविघुरमना निगतेऽताद्युग्मधौ
नित्यानन्दैकधाम प्रविशति परम नष्टसन्देहवृत्ति ।

“वह ब्रह्म में ही है—इस प्रकार के अनुभव से अद्यात् उस ब्रह्म और मुझमे कोई भी भेद नहीं है, एक ही है। ऐसा जब अनुभव हो और उस अनुभव को प्राप्त करने का सौभाग्य जिस किसी को भी श्रीगुरु को अनुलिन करुणा से पूर्ण पीयूपमयी हृषि से प्राप्त हो जावे तो अनार्द उपाधि के गिरन हो जाने पर भ्रम से विघुर मन थाना वह ही पूर्ण जीवन्मुक्त हो जाता है। उसकी जो सन्देह वृत्ति होती है, वह तो नष्ट ही

हो जाया करती है, फिर वह परम नित्यानन्दमय एक धाम में प्रवेश कर जाया करता है । '

शिवधर्मी और लोकधर्मी दीक्षा--

साधक दो प्रकार के होते हैं—एक, भौतिक सुखों की कामना करते हैं, दूसरे पारलोकिक प्रगति की । एक सज्जाम उपासना करते हैं, दूसरे निष्काम । निष्काम साधक शिवधर्मी और मराम साधक लोकधर्मी कहे जाते हैं । एक का लक्ष्य अनौकिक सुख है, दूसरे का लौकिक । शिवधर्मी दीक्षा से तीन प्रकार की बिद्धियों की उपलब्धि होती है—
१ यागेश्वर पद, २ मन्त्र पद, ३ चिदं चिदि प्रौर श्रावण सिद्धियाँ । तन्त्र के अनुमार इस दीक्षा से भजर, अमर और स्थिर देह की प्राप्ति होती है । इस देह की स्थिरता प्रनयकाल तक रहती है ।

लोकधर्मी दीक्षा में मन्त्र की उपासना नहीं होती । यह भोगार्थी साधक है और अपने शुभ कर्मों के फल से ही सञ्चित अशुभ कर्मों के दुष्परिणामों को नष्ट करती है । सञ्चित शुभ कर्मों से इन्हे श्रणिमादि बिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । इस माधक में वासना का प्राधान्य होता है । अत इन सिद्धियों के योग के लिए वह गुरु द्वारा ऊंचे लोकों में भेजा जाता है । जब वहाँ भी उसकी तृप्ति नहीं होती, तो उसे उपर्युक्त ऊंचार के लोक में भेजा जाता है, जब तक कि उसे भोगों से वैराग्य न हो जाए । वैराग्य होने पर उसे परमेश्वर के निष्कल दृष्टि से युक्त किया जाता है । तन्त्र में कहा है—

लोकवर्मिणमारोप्य यते मुवनभर्त्तरि ।
तद्धर्मापादन कुर्याच्छ्वेव वा मुक्तिराक्षिण ॥

"गुरु का कर्तव्य है कि वह लोकधर्मी साधक को इटमुग्नेश्वर के अवस्था में और उसके धर्म ये युक्त करे । यदि साधक में मोक्ष की आकांक्षा हो, तो उसे यिव में आरोपित करे और फिर उनके धर्मों पर युक्त करे ।"

गुरु माधक की मनोमूर्मि का अच्छी तरह निरीक्षण करके ही उसके अनुरूप दीक्षा देते हैं और इस ढंग में उसकी प्रगति करते हैं, जो उसके स्वरूप और इच्छा के अनुरूप हो। दीक्षा में पावता और योग्यता तो प्रथम मौजान है।

अन्तः दीक्षा—

गह तो माधक की बाह्य वृत्तियों को पावता के अनुसार अन्तर्नुरूप करने का प्रयत्न करते हैं। यह वृत्तियाँ शब्दितयों में परिणित हो जाती हैं। शास्त्र का भी यही कहना है—

वहिमुखस्य मन्त्रस्य वृत्तयो या प्रकीर्तिता ।

ता एवान्तमुखस्यास्य शक्तय परिकीर्तिता ॥

“मन्त्र अर्थात् चित्त जब वहिमुख होता है, तो उसे वृत्ति के नाम से सम्बोधित किया जाता है। परं तु जब वह अन्तमुख होता है, तो उसे ‘शक्ति’ कहते हैं।”

गुरु माधक को शर्विन-मध्यान करने के लिए उसकी वृत्तियों को अन्त मुख करते हैं। इस प्रयत्न अर्थात् दीक्षा को अन्त-दीक्षा कहते हैं।

इसमें स्पष्ट है कि तत्त्व-माधना में दीक्षा एक अत्यात्मा आवश्यक अग माना जाता था, तभी हर स्तर के व्यक्तित के लिए विभिन्न प्रकार की दीक्षाओं के विधान की आवश्यकता पड़ी, ताकि किसी भी स्तर का व्यक्ति इसमें वचित न रहे। परन्तु तत्त्व विज्ञानके लुप्त होने से दीक्षा के व्यवहार में भी व्यवधान आ गया, क्योंकि न अधिकारी गुरु रहे, न अधिकारी शिष्य। यदि इस विज्ञान एवं विकास किया जाए तो भारत की यह प्राचीन विद्या हमें मार्गदर्शन कर सकती है।

शक्तिपात की वैज्ञानिक प्रक्रिया

परिभाषा—

जीव का परम उद्देश्य है जीवत्व से मुक्त होकर शिवत्व में प्रवेश करना। यह तभी सम्भव है जब जीव वस्तुस्थिति का ज्ञान कर लेता है, वह अपनी आत्मस्थिति का अनुसंधान करते हुए उसमें अवस्थित हो जाता है। स्वरूप स्थिति में स्थायित्व प्राप्त करना ही मुक्ति द्वारा तक पहुँचने का लक्षण है। इसके अभाव में यह सफलता प्राप्त करना असम्भव है। इम स्वरूप स्थिति तक पहुँचने के लिए जो उपाय काम में लाया जाता है, उसे 'शक्तिपात' कहते हैं।

तत्राचार्यों का मत है कि मुक्ति-मार्ग अवश्य करने वाले मला-वरण हैं। जब तक इन्हे नहीं हटाया जाता, मुक्ति का मार्ग प्रशस्त नहीं होता। इन मलों को ज्ञान और कर्म की सहायता से पूणत हटाने की क्षमता से तत्र असहमत है। सत्तात्मक पदाथ होने के कारण मल की उपमा आँखों की जाली से दी जाती है। जिस तरह से मोतियाबिन्द के परिपक्व होने पर उसे शस्त्र-क्रिया से ही दूर किया जाना सम्भव है, उसी तरह मलों से निवृत्ति का उपाय तत्रों में परम शिव का अनुग्रह ही बताया गया है। इस कृपा अथवा भगवदनुग्रह को ही शक्तिपात कहा जाता है।

शक्तिपात एक ऐसी प्राध्यात्मिक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से सद्गुरु अपनी शक्ति को शिष्य में संवरित करता है ताकि उसकी सुष्ठ

आध्यात्मिक शक्तियों का जागरण हो जाए अथवा उसकी वृद्धि अनीड़िय वपय को समझ सके ।

गास्त्रो मे भी कहा है—

तत्पात शिष्येषु ।

“उस शक्ति का पात शिष्यो मे होता है ।”

शिष्य पर गुरु द्वारा शक्ति उतारने की प्रक्रिया को शक्तिपात कहा जाता है ।

मात्रवाचार्य का मत यह है—

परमेश्वरस्वरूप भूतत्वेन सवगताया परशक्ते पतनासम्भवा-च्छिष्यस्यात्मनि प्रागेवावस्थिता सा पाशजालावृतत्वेनतिरोहिता सतीदीक्षासस्कारेणावरणापगमे सत्यभिव्यक्तिमासादयन्ती पतिते त्युपचयते । ऊर्ध्वदेशादधोदेनप्राप्तिर्हि पतन न खलु तादृशमस्या सम्भवतोति ।

इमका अभिप्राय यह है कि परमेश्वरस्वरूप सर्वगत पराशक्ति का पात नहीं हो सकता । शिष्य मे मल-कर्मादि पाश बन्धनो से घिरी हुई पूर्व अवस्थित आत्म-स्वरूपभूत पराशक्ति के दीदा-सस्कार के माध्यम से (मल-आवरणो को दूर करके) अभिव्यक्त किया जाता है । इम अभिव्यक्ति को ही शक्तिपात की सज्जा दी गई है ।

गुरु-कृपा—

शक्तिपात गुरु कृपा पर निर्भर करती है । सद्गुरु सर्वतत्व वेत्ता और अध्यात्म-विद्या के जानने वाले हैं । ‘मालिनी विजय’ मे भी कहा है—

न गुरुमत्सम प्रोक्तो मन्त्रवीर्य प्रकाशक ।

अर्थात् “वही गुरु मेरे समान कहा गया है, जो मन्त्रों के वीर्य दा प्रकाश दरने वाला हो ।”

सिद्धि के लिए शक्तिपात आवश्यक माना गया है, जिसके लिए गुरु ही एकमात्र साधन है—

शक्तिपातानुमारेण शिष्योऽनुप्रहमर्हति ।

यत्र शक्तिं पतति तत्र सिद्धिर्नं जायते ॥

“शक्तिपात न होने से भिद्धि की प्राप्ति नहीं हो सकती । शक्तिपात के अनुमार ही तो शिष्य अनुप्रहीत होता है ।”

सन्त तु गुरुराम ने भी अपने एक अभग मे इसी तथ्य पर बल देते हुए कहा है—“गुरु के विना विना मार्ग प्राप्त नहीं होता । अत सर्वप्रथम उनके चरणारवृन्दो का स्पर्श करो ।” वह शरणागत वत्सल शिष्य को अपनी तरह ही बना लेते हैं । उन्हें इसमे कुछ भी समय नहीं लगता ।”

इस गुरु-कृपा को शास्त्रो मे गुरुप्रमाद कहा गया है । इसके प्राप्त होने पर ही शिष्य का उद्धार होता है—

परिपक्वमला ये तानुत्साद नहेतु शक्तिपातेन ।

योजयति परे तत्वे स दोक्षराचार्यमूर्तिस्थ ॥

अर्थात् “जो परिपक्व मल वाले हैं और उनका उत्सादन करने के लिये शक्तिपात के द्वारा परतत्व मे जो योजिन करता है, वही दीधा से आचार्य की मूर्ति मे स्थिति रहने वाला है ।”

यस्य देवे परा भक्तिर्या देवे तथा गुरौ

अथात् “जिसकी देव मे पराभक्ति है, वैसी ही गुरु में भी पराभक्ति देव की ही भाँति होनी चाहिए ।”

अय गुरु प्रसाद स्ततोषात्प्रोप्यो न चान्यथा ।

अर्थात् “यह गुरु का प्रमाद है जो तोष से प्राप्त करने के योग्य होता है अन्यथा नहीं मिलता है ।”

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिश्नेन सेवया ।

अर्थात् “उसको प्रणिपात के द्वारा—परिश्रन से और सेवा के द्वारा जानना चाहिए ।”

आत्मविद्या चानन्तर्मुखस्य गुरुकारुण्यरतितस्य न
वेदशास्त्रमात्रेणोत्पद्यते ।

“आत्म-विद्या अनन्तर्मुख—गुरु की दया से शून्य को केवल वेद-
शास्त्र से उत्पन्न नहीं होती है ।”

गुरु-कृपा से ही इस सप्ताह को पार किया जा सकता है—

सद्गुरो, सम्पसादेऽस्य प्रतिवन्धक्षयस्तत ।

दुर्भविना तिरस्काराद्विज्ञाना मुक्तिदक्षणात् ॥

अर्थात् “सद्गुरु के सत्प्रसाद के होने पर मनुष्य के जो प्रतिवन्ध
हुए करते हैं, उनका क्षय हो जाता है । दुर्भविना का जब तिरस्कार
होता है, तो विज्ञान एक ही क्षण में मुक्ति देने वाला हो जाता है ।”

माहात्म्य—

सूत सहिता में शक्तिपात की महिमा का वर्णन करते हुए कहा
गया है—

तत्त्वज्ञानेन मायाया बाधो नात्येन कर्मणा ।

ज्ञान वेदान्तवाक्योत्थ ब्रह्मात्मैकत्वगोचरम् ॥

तत्त्व देवप्रसादेन गुरो साक्षान्तिरीक्षणात् ।

जायते शक्तिपातेन वाक्यादेवाधिकारिणाम् ॥

‘तत्त्व-ज्ञान के अतिरिक्त और किसी उपाय से माया का निराम
नहीं हो सकता । यह तत्त्व-ज्ञान ब्रह्म और आत्मा की अभेद सिद्धि का
निष्पण करने वाले वेदान्त वाक्यों से प्राप्त होता है । इसका अधिकार
तुम द्वारा शिष्य को शक्तिपात में ही दिया जाता है ।’

शक्तिपात समायोगाद्यते तत्वानितत्वत ।

तद्व्याप्ति स्तद्विशुद्धिश्च ज्ञातुमेव न शक्यते ॥

—शिवपुराण वायवी महिता

अर्थात् “शक्तिपात के समायोग के अनाव में तुत्वत तत्वों का ज्ञान, आत्मा की व्यापकता और उसके शुद्ध-वुद्ध स्वरूप का ज्ञान कभी भी सम्भव नहीं है ।”

तन्त्र का यही मन है कि गक्तिपात अथवा भगवन् कृष्ण के बिना जीव को पूर्णत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

सन्त ज्ञानेश्वर ने ‘ज्ञानेश्वरी’ दीक्षा में लिखा है कि शक्तिपात हाने पर, होने को तो वह जीव ही रहता है परन्तु वह महेश्वर के हपान माना जाता है ।

लाभ—

शक्तिपाताद्विशेषण ।

शक्तिपात के द्वारा विशेषता से शक्ति जाग उठती है । इसमें विशेषता यही है कि बिना शिष्य के परिश्रम के गुरु-कृष्ण से शक्ति का जागरण हो जाना है । इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए शिष्य को बहुत कष्ट सहने पड़ते हैं और साधना में असावधानी बरतनी जाए तो हानि उठाने की भी सम्भावना रहती है ।

शक्तिपात होने पर यौगिक क्रियाओं की अपेक्षा नहीं रहता । वह साधक की प्रकृति के अनुरूप स्वरूप होने लगती है । प्रबुद्ध कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र की ओर प्रवाहित होने के लिए छटपटानी है, इसी से सभी क्रियाएँ होने लगती हैं । व्यवहारिक रूप से ऐसा देखा गया है कि जिन साधकों ने कोई अभ्यास नहीं किया था और न ही विशेष अध्ययन किया था, वह इन क्रियाओं को ऐसे करने लगते हैं, जैसे वह वर्षों से इसका अभ्यास कर रहे हो । हठयोग की क्रियाओं में थोड़ी-सी त्रुटि होने पर बहुत हानि उठाने की सम्भावना रहती है, परन्तु इस साधक के अभ्यास में आ जाती है और आमन, प्राणाश्राम, मुद्रा आदि अपने आप होन लगते हैं । इसे गुरु-कृष्ण का ही प्रसाद समझना चाहिए ।

शक्तिपात से माधक के आत्मिक भेन मे क्रातिकारी परिवर्तन हो जाना है। उसमे भगवद्भवित का विकास, विद्वात्मा का प्रकाश होता है, मन्त्र-मिद्धि होनी है जिसमे थद्वा-विश्वास का जागरण होना है, सब शास्त्रों का ग्रथज्ञान हो जाता है, मन्त्र तत्वों को स्वायत्त करने की सामर्थ्य प्राप्त होनी है, शीर-भाव जाना रहना है, जित्वत्व लाभ होता है। रत्नमाला ग्रागम की साक्षी है—

यस्मिन्काले तु गुरुणा निर्विकल्प प्रकाशितम् ।

तर्देव किल मुक्तोऽसौ यन्त्रं तिष्ठति च वलम् ॥

“जिस समय गुरु-कृपा से निर्विकल्प बोध हो जाना है, तब उसे मुक्ति-लाभ होता है, केवल वह पत्र को तरह नीं जीवन व्यतीत करता है।”

कृष्ण के शक्तिपात स इस तरह प्रज्ञुन को आत्मानुभूति हुई, इसका हृदयानुग्रही वर्णन ज्ञानेश्वरी गीता मे हुआ है—“तब भगवान ने अर्जुन को दाया हाथ फैलाकर अपने हृदय से लगा लिया। दोनो हृदय एक हो गए। जो कुछ एक मे था, वह दूसरे मे डाल दिया। हैत भी बना रहा परन्तु अर्जुन को भगवान ने अपने जैसा बना लिया।” यही गुरु-कृपा का विशेष लाभ होता है।

शास्त्र के अनुसार—

शक्तिपातेन सयुक्ता विद्या वेदान्तवाक्यजा ।

यदा यस्य तदा तस्य विमुक्तिर्नात्रि सशय ॥

“शक्तिपात से सयुक्त साधक को जब वेदान वाक्यों की विद्या प्राप्त होती है, उसी समय से उसे मुक्ति प्राप्त होनी है, इसमे कुछ भी सशय नहीं है।”

लक्षण—

शक्तिपात का मुख्य लक्षण है—माधक मे भगवद्भवित का उन्मेष होना। मन्त्रर मन्त्र को मिद्धि भी प्राप्त होती है। वह सभी प्राणघारियों को अपने अनुकूल बनाने की योग्यता वाला हो जाता है।

उसके प्रारंभ कर्म समाप्त हो जाते हैं, उनके बिना भोगे ही उसकी मुचित हो जाती है। ऐसा तब तक होता रहता है जब तक शरीर रहता है, उसके साथ सुख-दुख तो सयुक्त रहते ही हैं, उनका उस पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, वह अलिप्त भाव से उन्हे ग्रहण करता है। सभी परिस्थितियों में आनन्द की मुद्रा ही उसकी विशेष मुद्रा बन जाती है। साधक पर समस्त शास्त्रों का ज्ञान प्रकट हो जाता है और उसे कविता रचने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है।

शास्त्रों में शक्तिपात के लक्षण इस प्रकार से वर्णित किए गए हैं ।

देहपातस्तथा कम्प परमानन्दहर्षणे ।

स्वेदो रोमञ्च इत्येतच्छक्तिपातस्य लक्षणम् ॥

शिष्यस्य देहे विप्रेन्द्रा, धरण्या पतितेसति ।

प्रसाद, शाङ्करस्तस्य द्विज सज्जात एव हि ॥

यस्य प्रसाद सञ्जातो देहपातावसानक ।

कृतार्थ एव विप्रेन्द्रा न स भूयोऽभिजायते ॥

“शक्तिपात होते ही शरीर भूमि पर गिर जाता है, कम्पन हीने लगते हैं, मन में घपार प्रसन्नता का उदय होता है और परम आनन्द की प्राप्ति होती है, जिससे रोमाच होता है, प्रस्वेद होता है। इम तरह से शक्तिपात से देहपात के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे तो यह जानना च हिए कि शिव की कृपा हुई। शक्तिपात से देहपात के लक्षण आन पर कृतार्थता का भ ना चाहिए, क्योंकि इसके बाद फिर जन्म करने “मृगी रहती” ॥

प्रमादस्य स्वरूपं तु मया नारायणेन च ।
रुद्रे गापिमुरा वक्तु न शक्य कल्पकोटिभि ॥

केवल लिङ्गगम्यं तु न प्रत्यक्षं गिवम्यं च ।
गिवायाश्च हरे साक्षात्मम्, चात्यस्य चास्तिका ॥

“देहवारियों के कर्मों की समता होने पर भी शब्द का प्रमाद आचार्य के अवलोकन से है सुरगण । विशिष्ट श्रनिशय बाला जाना गया था । उस प्रमाद का स्वरूप मेरे द्वारा, नारायण के द्वारा और शब्द के द्वारा भी है सुरगण । करोड़ों कर्मों में भी बनाया नहीं जा सकता है । केवल लिंगगम्य है, शिव का प्रत्यक्ष तो होता ही नहीं । है नाम्निको । शिव का—हरि का—मेरा और अन्य का भी साक्षात् नहीं होना है ।

प्रहृष्टं स्वरनेत्राङ्गविक्रिया कम्पनं तथा ।
स्तोमं शरीरपातश्च भ्रमणं चोद्गतिस्तथा ॥

आकाशेऽवस्थितिर्देवा शरीरान्तरसस्थिति ।
अदर्शनं च देहस्य प्रकाशत्वेन भासनम् ॥

अनधीतस्य शास्त्रस्य स्वत एव प्रकाशनम् ।
निग्रहानुग्रहे शक्ति पर्वतादेशच भेदनम् ॥

एवमादीनि लिङ्गानि प्रकाशस्य सुरपंभा ।
तीव्रतीव्रतर शम्भों प्रसादो न समो भवेत् ॥

एवरूपं प्रसादश्च गिवया च शिवेन च ।
ज्ञायते न माया नान्यर्नेव नारायणेन च ॥

अन्, सर्वं परित्यज्य गिवादन्यत्तु दैवतम् ।
तमेव शरणं गच्छेत्सद्यो मुक्ति यदीच्छति ॥

अर्थात् “प्रकृष्ट हर्ष का उत्पन्न होना, स्वर, नेत्र और अङ्गों विशेष की क्रिया का होना, कम्पन, स्तोम, शरीर का पात, भ्रमण, उद्गति, आकाश में अवस्थान, अन्य शरीर में स्थिति है देवगण ! देह का

दिवलाई न देना, प्राशस्त्र मे भासित होना, अवीत शान्ति का स्वत ही प्रकाशन होना, नियम और गनुप्रह शक्ति तथा पर्वत आदि का भेदन हे सुरश्रेष्ठो । दसी प्रकार के निंग हैं, जो प्रकाश के होते हैं । तीव्र से भी तीव्रनर शम्भु का प्रगाढ सम नहीं होता है । इस प्रकार के रूप वाले प्रगाढ को शिव — शिव के द्वारा ही जाना जाता है । मेरे द्वारा, अन्य सभी देवों को त्याग गिर की शरण मे जाओ, यदि सच हो मुक्ति की इच्छा रखते हो ।'

सति तस्मिश्च चिह्नानि तस्येत्तानि विलक्षयेत ।

तत्रैतत्प्रथम चिह्न रुद्र भक्ति. सुनिश्चला ॥

द्वितीयमन्त्रसिद्धिस्त्यात्सद्य प्रत्ययकारिका ।

सर्वात्मव विशित्व च त्रुतीय तस्य लक्षणम् ॥

प्रारब्ध कर्म निष्पन्निश्चिह्नमाहुश्चतुर्थकम् ।

कवित्व पञ्चम ज्ञेय सौलङ्घारमनोहरम् ॥

सब शास्त्रार्थ वेत्तुत्व अकस्मात्स्य जायते ॥

अथर्वि "उमक हीन पर उसके इन चिन्हों को देखना चाहिए ।

उनमे प्रथम चिन्ह यही कि रुद्र मे सुनिश्चल भक्ति है । द्वया मन्त्र की सिद्धि है जो तुम्हीं ही विश्वाम कराने वाली है । तीसरा उसका लक्षण यह है कि ममस्त जो मे रुद्र मे कर लेना है । प्रारब्ध कर्म की निष्पन्नि चौथा चिन्ह है । कवित्व पांचदाँ चिन्ह है, जो अलकारो से युक्त पात्र सुन्दर हो । अकस्मात ही सब शास्त्रों का ज्ञाता होना उसको पैदा हो जाता है ।"

राम को गुरु वशिष्ठ मे जब यह प्रगाढ पात्र द्वारा या अर्थात् वशिष्ठ ने जब राम को शक्तिपात का प्रसाद दिया था, तो राम को इस मौतिन उगत से बेराग्य हो गया, गजवैभव की सभी सुन-सुविधाओं का तो त्याग ही दिया । खाना, पीना, पहनना और ओढ़ना आदि सापारण कियाएं भी उनसे छूट गई तो उसी तरह म उह राज-सभा मे बुलनाया

गया । वहाँ ऋषियों ने उन्हें उपदेश दिया । वहाँ पर महर्षि विश्वामित्र भी उपस्थित थे । उन्होंने महर्षि वशिष्ठ को सम्बोधित करने हुए कहा—

हे वशिष्ठ महाभाग ब्रह्मपुत्र महानमि ।
गुरुत्व शक्तिपात्रेन तत्कलगादेव दर्शितम् ॥

“हे महाभाग वशिष्ठ ! तुम ब्रह्मा के पुत्र हो । तुमने राम के प्रति शक्तिपात्र करके अपने गुरुत्व का तत्कलगा ही प्रदर्शन कर दिया है ।”

घटनाएँ—

शास्त्रो में यथा नव गुरु-कृपा ने शिष्य के शक्तिपात्र के उदाहरण उपलब्ध हो जाने हैं । वहाँ जाना है कि स्वामी रामकृष्ण परमहंस न स्वामी विवेकानन्द पर शक्तिपात्र के उनकी शक्ति का जागरण किया था । तभी रामितक ने उन्हें स्वामी विवेकानन्द बन भवे । मत ज्ञानेश्वर के अनुमार भावान वृष्णि ने अर्जुन पर शक्तिपात्र किया था ।

मन एकनाथ की भागवत टीका में भद्र-अद्वृत मवाइ में दत्तात्रेय द्वारा भद्र पर शक्तिपात्र करने की घटना दी गई है । इसमें स्पश-दीक्षा न आत्मबोध कराया गया । आर्तिगत करने हो आनन्द का स्नान उमड़ पड़ा । उब वह आदर्श न रोका जा सका, तो दाहर म्वेद और नेत्राशुद्धि उत्तम पर्याप्त में निकल पड़ा । अर्गीर का अग-अग लिलविला-मा उठा । रोमाच हान लगा, मन अमन हो गया, देहभाव की सुचिं बृचि न रही । अग्नि में कम्पन आ गया । सकृत्प-विकृत्प की समाप्ति हुई । शिष्य ने अदना जीव भाव गुरु की समर्पित किया । इसमें शक्तिपात्रके सभी लक्षण द्वारा गण हैं ।

सत एकनाथ ने भागवत टीका में अपने जनार्दन स्वामी का भी उदाहरण दिया है कि उन्हें किम प्रकार दत्तात्रेय द्वारा शक्तिपात्र का अनुग्रह प्राप्त हुआ । वह अपने गुरु की दत्तात्रेय की शिष्य-परम्परा में

मानते हैं। गुरु ने शिष्य के मस्तक पर हाथ रखा और शक्ति का जागरण हो गया।

प्रकार—

शक्तिपात तीन प्रकार का होता है—तीव्र, मध्य और मन्द। इन तीनों के तीन भेद होते हैं। भेद होने के कारण उनके लाभों में अत्यन्त तो स्वाभाविक ही है, जैसे विद्युतचालित पसे में मन्द, मध्य और तीव्र गति का प्रभाव तुरन्त वायु की गति से परिलक्षित होने लगता है। उदाहरण के लिए तीव्र शक्तिपात के तीन प्रकार हैं—तीव्र-तीव्र, मध्य तीव्र और मन्द तीव्र। तीव्र तीव्र शक्ति के आगे तीन भेद हैं—अत्यन्त तीव्र, मध्य तीव्र और मन्द तीव्र। अत्यन्त तीव्र से उसी समय शरीर क्षूट जाता है। मध्य-तीव्र तीव्र में कुछ समय लगता है और मन्द तीव्र-तीव्र से अपने आप ही शरीर का नाश होता है। अत्यन्त तीव्र-तीव्र में तो प्रारब्ध कर्मों का भी नाश ही हो जाता है। शेष में भी प्रारब्ध का नाश शक्तिपात की तीव्रता पर निर्भर करता है।

तीव्र तीव्र शक्तिपात से तो शरीर का नाश होना है, परन्तु मध्य तीव्र में ऐसा नहीं होता, उसमें अज्ञान का नाश और ज्ञान का उदय होता है। इस ज्ञानाजन से कर्मों का क्षय होता है। गीता के शब्दों में—

यथेष्ठ सि ममिद्वोऽग्निर्भस्मसात्कृरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्नि सदकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥

अर्थात् “हे अर्जुन! तेजी से जली हुई अग्नि जिस तरह ई घनों को जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञान रूपी अग्नि भी समस्त कर्मों को भस्मसात् कर दिया करती है।”

मन्द तीव्र शक्तिपात से मन में विवेक के प्रनिजिज्ञासा उत्थन होती है, मद्गुरु का प्राप्ति की इच्छा जाग्रत होती है। तत्त्व को जानने की चक्षठा ही इसका लक्षण है। इच्छा होने पर सद्गुरु की प्राप्ति भी

होती है। गुरु की प्राप्ति होने पर जिज्ञासाओं का शमन होता है। शिष्य मुक्तिपथ को और अग्रमर होता है।

अधिकार—

शक्तिपात के लिए गुरु की मामध्य का होना तो आवश्यक है, परन्तु शिष्य को इसके लिए कोई तैयारी नहीं करनी पड़ती। तैयारी की आवश्यकता न होने पर भी उसका अधिकार तो उसे प्राप्त होना ही चाहिए अन्यथा शक्तिपात तो एक खेन मात्र बनकर रह जायेगा। इस अधिकार के लिए शास्त्र ने कुछ मर्यादाएँ नियन की हैं, उनका पालन व विकास आवश्यक है, तभी वह मद्गुरु का पात्र बन पाना है। शिष्य में किन गुणों का विकास होना चाहिए। इसका बणन इस प्रकार किया गया है—

“जो इन्द्रियों को जीने वाला, व्रह्मचारी, गुरुभक्त हो, उसी के सम्मुख यह रहस्य प्रकट करना उचित है।”

—हसोपनिषद्

“इस पैष्पलाद ऋषि को प्राप्त हुए महाशास्त्र को चाहे जिस किसी को न देना चाहिए। नास्तिक, कृत्यन, दुर्वृत्त, दुरात्मा, दाम्भिक, नृशस, शठ और अमत्यभाषी को इसे कदापि न दे। जो सुव्रतधारी, सच्चा भक्त, शुद्ध वृत्ति वाला, सुशील, गुरुभक्त, शमदम वाला, धर्मवृद्धि वाला, व्रह्मचर्य म चित्त लगाने वाला, भक्ति-भावना वाला हो, कृत्यन न हो उसी को इसे देना चाहिए। यदि ऐसा न मिले, तो किसी को न देकर उसकी रक्षा करनी चाहिए।”

—शरभोपनिषद्

“यह ज्ञान शकर का महान् शास्त्र है। उसे जो कोई नास्तिक, कृत्यनी, दुरात्मा हो उसको नहीं देना। पर जिसका मन्त्र करण गुरु भक्ति से शुद्ध हो, ऐसे व्यक्ति को एक महीना, छँ।

महीना या वर्ष भर तक परीक्षा करने के उपरान्त ही इस शास्त्र को देना ।”

—तेज विन्दु उपनिषद्

“यह ब्रह्म का ज्ञान उमे नहीं देना चाहिए, जो अत्यन्त शान्त न हो, जो पुत्र न हो, शिष्य न हो और एक वर्ष पाय न रहा हो । अतजान कुल शील वाले को भी नहीं देना चाहिए और न मुनाना चाहिए । जिसको परमात्मा के ऊपर और परमात्मा के समान ही गुरु के ऊपर परम भक्ति हो, उसी के लिये यह वाक्य कहे गये हैं और ऐसी आत्मा को ही ये प्रकाशवान करते हैं ।”

—सुवाल उपनिषद्

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्
प्रशान्त चित्ताय शमात्त्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच ता तत्त्वतो ब्रह्म विद्याम् ।

—मुण्डक १।२।१३

“वह ज्ञानी गुरु उस श्रद्धापूर्ण, शान्तचित्त एव तितिक्षा और साधना निष्ठ शिष्य को ब्रह्म-विद्या का उपदेश करे, जिससे वह अविनाशी सत्स्वरूप आत्मा को जानले ।”

यह भी ध्यान रखने की बात है कि सत्पात्र, श्रद्धालु और विश्वासी शिष्य ही गुरु कृपा का लाभ उठा सकता है । जिसमे यह गुण नहीं, उस ऊपर भूमि मे किसी भी गुरु का बोध गया ज्ञान-बीज नहीं जम सकता है । गुरु के एक पक्षीय प्रयत्न से भी शिष्य का कल्पाणा नहीं हो सकता । दोनों ही पक्षों की श्रेष्ठता से गुरु-शिष्य संयोग का सच्चा लाभ मिलता है । कहा भी है—

गुरुद्वेदुद्धरत्यज्ञमात्मीयात्पीरुपाहते ।
उष्ट्र दान्त वलीवर्द तत्कस्मान्नोद्धरत्यसौ ।

—यीग वशिष्ठ ५।४३, १६

“यदि गुरु किसी अविचारी और पुरुषार्थीन का उद्धार कर सकते होते तो ऊंट, हाथी, बैन आदि का उद्धार क्यों न करते ?”

मच्छ्रिष्यन्तु कुलेशानि गुभनक्षणसयुतम् ।
 समाविमाधनोपेत गुणशीलममन्वितम् ॥
 स्वच्छदेहाम्बर प्राज्ञ धर्मिक शुद्धमानसम् ।
 हृष्टव्रत मदाचार श्रद्धाभक्तिसमन्वितम् ॥
 दक्षमलग्नशिन गृहचित्त निर्व्यजसेवकम् ।
 विनृष्ट्यकारिण वीर मनोदारिद्रयवर्जिजनम् ॥

अथात् “जो व्यक्ति मनावि के माध्यनो, गुण और शील से समन्वित हो, वही दीक्षा का श्रेष्ठ अधिकारी है । जो स्वच्छ वस्त्र धारण करने वाला, धार्मिक शुद्ध मन वाला, हृष्ट व्रती, सदाचारी, श्रद्धा-भक्ति से युक्त, विचारवान, उदारचित्त, गम्भीर, मिताहारी, सम्मन कर्मों में दक्ष, अभिमान शून्य, वीर और निष्ठाम भाव वाला है, वही दीक्षा का अधिकार रखता है ।”

शिष्य के भी गुरु के प्रति अनेक कर्तव्य हैं । उन सबमें आवश्यक कर्तव्य है मच्चवी श्रद्धा और भक्ति-भावना का होना । यही वह आकर्षण है, जिसके बल पर शिष्य गुरु के हृदय में से आवश्यक नहायता और कृपा प्राप्त कर सकता है । यदि वच्छडा यन को चूमेगा नहीं, तो गाय उसके मुख में अपना दूध उडेल नहीं सकेगी । जिसके मन में भक्ति-भावना का अभाव है, केवल चिन्ह-पूजा के लिए अथवा प्रयोजन विशेष के लिए किमी गुरु को वरण किया है, तो ऐसे लोग वह प्रसाद प्राप्त नहीं कर सकते, जो श्रद्धा-भावना वाले शिष्य प्राप्त करते हैं ।

शिष्य को आरम्भ में गुरु-भक्ति की स्थापना हृदय में करनी पड़ती है और यही आगे चलकर ईश्वर-भक्ति के रूप में परिणाम हो जाती है । गुरु-भक्ति ईश्वर-भक्ति का ही प्रारम्भक एव स्थूल रूप है ।

यस्य देवे परा भवितर्यथा देवे तथा गुरी । तस्यैते कथिता
ह्यार्था प्रकाशन्ते महात्मन । प्रकाशन्ते महात्मन ।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्

“जिसके मन मे परमात्मा की भवित के समान ही गुरु की भी
भवित है, उसी महान् आत्मा वाले के हृदय मे यह ज्ञान प्रकाशित
होता है ।”

शक्तिपात का अधिकार प्राप्त करने के लिए निष्काम भाव का
विकास अत्यन्त प्रावश्यक है । गीता मे भी कहा है—

वर्मज बुद्धियुक्ता हि फल त्यक्त्वा मनोषिण ।

जन्मबन्ध विनिर्मुक्ता पद गच्छत्यनामयम् ।

—गीता २।५१

अर्थात् “समत्व बुद्धि से युवन जो ज्ञानी पुरुष कर्मफल का
त्याग करते हैं, वे जन्म के बन्धन से मुक्त होकर ईश्वर के दुख विरहित
पद को जा पहुँचते हैं ।”

उभी भगवान ने कहा है—

न मा कर्मणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्मृता ।

इति मा योऽभिजानाति कर्मभिन्नं स बध्यते ॥

—गीता ४।१४

अर्थात् “मुझे कर्म का लेप अर्थात् बाधा नहीं होती, क्योंकि कर्म
के फल मे मेरी इच्छा नहीं है । जो मुझे इस प्रकार जानता है, उसे
कर्म की बाधा नहीं होती ।”

ऐसा निष्काम साधक ही शक्तिपात का उत्तम अधिकारी माना
जाता है । इसे पर-शक्तिपात कहा जाता है ।

जिनमे निष्कामता का अभाव रहता है और फल की इच्छा रहती
है, उन्हे निम्न कोटि का अधिकार प्राप्त होता है । इसे अपर-शक्तिपात
कहा जाता है । निष्काम साधक के लिए गुरु को बाह्य उपकरणों की
आवश्यकता नहीं रहती परन्तु जिनमे इन गुण का अभाव रहता है,

उनके लिये वाह्य उपकरणों की अपेक्षा रहती है और शास्त्रीय मर्यादा का पालन करना पड़ता है।

वैज्ञानिक प्रक्रिया—

शक्तिपात एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसमें गुरु शक्ति का सचार शिष्य में रहता है। गुरु को आध्यात्मिक शक्तियों से प्रोत्-प्रोत होना आवश्यक बनाया गया है। उनके पट्टचक्र और कुड़लिनी का जागरण होना आवश्यक है, तभी वह शिष्य के इन महत्वतूर्ण केन्द्रों को प्रभावित कर सकता है। शिष्य की वह शक्तियाँ मुप्त अवस्था में होती हैं, उन्हें जगाना मात्र होता है। माचिस की डिढ़वी पर जलाने की सामर्थ्य वाली मामग्री लगी रहती है, परन्तु वह अपने आप नहीं जल सकती। उसे जलाने के लिए वाह्य उपकरण की अपेक्षा रहती है जो उसमें विद्यमान शक्तियों को उत्तेजित कर सके। माचिस की तीली पर भी ऐसी रामायनिक सामग्री लगी रहती है, जो डिढ़वी पर नगी सामग्री को उत्तेजित करने की क्षमता रखती है। शक्तिपात वही व्यक्ति कर सकता है, जो अपनी आध्यात्मिक शक्तियों को एकत्रित करना जानता है।

मावारणत हाथ के स्पर्श से शक्तिपात किया जाता है। आधुनिक विज्ञान की भी यही मान्यता है कि हाथ के पोस्थों में विद्युत का सचार रहता है और अपनी प्राण-विद्युत को दूसरे के शरीर में प्रवेश करके उसके शरीर व मन में परिवर्तन लाये जा सकते हैं। हिंनोटिजम आदि कुछ ऐसी वैज्ञानिक प्रणालियों का आविष्कार किया जा चुका है, जिनमें हाथ की विद्युत में चमत्कारिक अनुभूतियाँ दिखाई देती हैं। भारतीय सन्न तो नाखों वर्षों से इस अभ्यास को करते आ रहे हैं। वे हाथ के स्पर्श व मार्जन आदि क्रियाओं से कष्टमाध्य रोगों का निवारण तक करते देखे गये हैं। यह जादू नहीं, वैज्ञानिक मत्य है कि हमारे प्राणों में रोग-निवारक शक्ति होती है। जब वच्चे को चोट लगती है, तो माँ उस स्थान पर फूँक देती है और वच्चा सुख अनुभव करता है। रोता

हम्रा बच्चा जब गोद मे आता है, चुप हो जाता है, व्योकि वह व्यक्ति के शरीर की विद्युत के स्पर्श मे आता है और उसके शरीर मे एक शक्तिशाली प्रवाह दोड़ने लगता है। प्रियजनो का चुम्बन, उनसे आलिंगन, हाथ मिलाना और गुरुजनो के चरण स्पर्श से असाधारण प्रसन्नता प्राप्त होती है। इन क्रियाओं की सफलता मे भी यही रहस्य निहित है कि एक व्यक्ति की विद्युत दूसरे के शरीर मे उस क्रिया विशेष के माध्यम से प्रवेश करती है।

भारतीय ऋषि जानते थे कि किस माध्यम से शक्ति का सचार सरल रीति से होना सम्भव है। प्राण-विद्युत तो सारे शरीर मे रहती है, परन्तु उसका सचार प्रमुख रूप से ह्रासो से ही किया जा सकता है, वैसे आलिंगन भी एक सशक्त प्रक्रिया है। सामर्थ्यवान् गुरु के सारे शरीर मे शक्ति की विद्युत का प्रवाह चलता है, जो भी उससे स्पर्श करता है, उस शक्ति से लाभान्वित होता है, परन्तु यदि उसका सचार एक विशेष विधि-विधान और प्रबल इच्छा-शक्ति से किया जाए तो उसका प्रभाव विशेष होता है। शक्तिपात जिन परिस्थितियों मे किया जाता है, दोनों पक्षों की ओर से पवित्र और अनुकूल भावनाओं का आदान-प्रदान होता है, इससे उस प्रक्रिया को और अधिक बल प्राप्त होता है।

शक्तिपात मे निष्कामता परिलक्षित होती है। जिसके पास शक्ति का भड़ाग एक्षित हो गया है, वह उसे अपने तक सीमित नहीं रखना चाहता वरन् योग्य पात्रों को वितरण करना चाहता है। यह जनहित की भावना ही समाज मे सुव्यवस्था लाने मे सहायक सिद्ध होती है। आजकल म्याति विपीत है। अपने अह की पुष्टि और विस्तार के लिए वह अपनी विद्या को अपने तक ही सीमित रखना चाहता है। जिसके पास किसी प्रकार का भी भडार एक्षित हो गया है, वह उसका नाजायज लाभ उठाना चाहता है। प्राचीन बाल मे ऐसा न था। वे

करने के लिए गुरु प्रयत्नशील रहते थे, चाहे वे विद्या भौतिक हो या आध्यात्मिक। शक्तिपात तो उदार हृदय का प्रत्यक्ष प्रमाण है, जिससे गुरु अपनी शक्ति का व्यय करके गिर्ज की मामर्घ्य को बढ़ाता है। अपने तप की पूँजी में से खर्च करके शिष्य का देना परमाय और निस्वार्थ भावनाओं का परिणाम है। यह परम्परा निरन्तर चलती रहती है। जब गिर्ज की शक्तियों का पूर्ण विकास हो जाता है, तो वह अपने से कम विकसित व्यक्तियों को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करता है। वह इसे अपना नैतिक उत्तारदायित्व समझता है।

अत शक्तिपात एक ऐसा वैज्ञानिक और आध्यात्मिक साधन है, जिसमें मुख्य शक्तियों का जागरण किया जाता है।

• • •

कुरुक्षेत्रिनी शक्ति-जागरण और प्रभाव

पिंड को ब्रह्माड का एक छोटा नमूना बताया गया है। वृक्ष का सारा कलेवर एक छोटे-से बीज में समाया रहता है। नन्हे-से ध्रुव कीट में मनुष्य-शरीर का ढाँचा विद्यमान है। सौर-मण्डल के ग्रहों का पारस्परिक आकर्षण और क्रिया-कलाप जिस ढग से चलता है, उसकी एक नन्ही-सी प्रक्रिया परमाणु परिवार के इलेक्ट्रोन, न्यूट्रोन, प्रोटोन आदि प्रदर्शित करते हैं। इसी प्रकार समस्त ब्रह्माड मनुष्य-देह-पिंड में—एक लघु कलेवर में हृषिगोचर होता है। हमारी इस छोटी-सी देह में वह सब कुछ विद्यमान है, जो इम निखिल विश्व ब्रह्माड में उपस्थित हश्य और अहश्य इकाइयों में पाया जाता है। इम पृथ्वी की समस्त विशेषताओं को भी हम अपनी इस छोटी-सी देह में विद्यमान देख सकते हैं।

पृथ्वी की समस्त शक्तियों, विशेषनाओं और विभूतियों के केन्द्र उसके सन्तुलन बिन्दु उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव हैं। यहीं से वह सूत्र-सचालन होता है, जिसके कारण यह घरती एक मत्रीव पिंड एवं अगणित जीवधारियों की कीड़ा-स्थली बनी हुई है। यदि ध्रुवों की स्थिति में किसी प्रकार आघात पहुंच जाय या परिवर्तन उपस्थित हो जाय, तो फिर इस भू-मण्डल का स्वरूप बदलकर कुछ और ही तरह का हो जायगा। कहा जाता है कि किसी ध्रुव के मन्त्रुनन्द केन्द्र-विन्दु पर यदि

एक घूँसा मार देने जितना आवात भी पहुँचा दिया जाय, तो यह पृथ्वी अपनी कक्षा से लाखों करोड़ों मील इवर-उधर हट जायगी और तब दिन, रात्रि, श्रृंतु, वर्षा, गर्भी आदि का सारा स्वरूप ही बदलकर किसी दूसरे क्रम में परिणत हो जायगा। यह छोटा-सा घूँसा-आधात भू-पिड़ को किसी अन्य ग्रह-नक्षत्र से टकराकर चूर-चूर हो जाने की स्थिति में दाल सकता है। कारण स्पष्ट है—घूँव ही तो सारी धरती का नियन्त्रण करते हैं और उन्हीं के शक्ति सम्पादन कठपुतली की तरह इस भू-मडल का विभिन्न कोडा-कलाप करने की प्रेरणा एवं क्षमता प्रदान करते हैं। दोनों घूँव ही तो उसकी क्रिया और चेतना के केन्द्र-विन्दु हैं।

जिस प्रकार पृथ्वी में चेतना एवं क्रिया उत्तरी-दक्षिणी घूँवों में से प्राप्त होती है, उसी प्रकार मानव पिड़-देह के भी दो ही अति-मूर्ख शक्ति-सम्पादन हैं। उत्तरी घूँव है—ब्रह्मरन्ध—मस्तिष्क सहस्रार कमल। दक्षिणी घूँव है—सुपुम्ना सम्पादन—कुड़लिनी केन्द्र मूलाधार चक्र। पौराणिक वृथा के अनुसार क्षीर-सागर में, सहस्र फन वाले सर्प पर विष्णु भगवान् शयन करते हैं। यह क्षीर-सागर मस्तिष्क में भरा इवेत सघन स्नेह सरोवर ही है। सहस्रार कमल एक ऐसा परमाणु है, जो अन्य कोणों की तरह गोल न होकर आगे के दाँतों की तरह बोण-कलेवरों में आवेषित है। इन दाँतों को सर्प-फन कहते हैं। चेतना का केन्द्र-विन्दु—इसी घूँवकण में प्रतिष्ठित है। चेतन और अचेतन मस्तिष्कों के अगणित घटकों को जो हन्दियजन्य एवं अतीत्रय ज्ञान प्राप्त होता है, उसका आधार यही घूँव-विष्णु घथवा सहस्रार कमल है। ध्यान से लेकर समाधि तक और आत्मा-चिन्तन से भवितयोग तक की सारी आध्यात्मिक साधनायें तथा मनोवल, आत्म-वल एवं सकल्पजन्य मिद्धियों का केन्द्र-विन्दु इसी स्थान पर है।

दूसरा दक्षिण घूँव—मूलाधार चक्र, सुमेरु-सम्पादन, सुपुम्ना-के द्र है। जो मल-मूत्र के स्थानों के बीचों-बीच अवस्थित है। कुड़लिनी, Hinduism Discord Server <https://dsc.gg/dharma> | MADE

महासर्पिणी, प्रचड क्रिया-शक्ति इसी स्थान पर सोई पड़ी है। उत्तरी ध्रुव का महासर्प अपनी सहचरहरी सर्पिणी के बिना और दक्षिणी ध्रुव की महामर्पिणी अपने सहचर महासर्प के बिना निरानन्द मूर्छित जीवन व्यतीत करते हैं। मनुष्य-शरीर विश्व की समस्त विशेषताओं का प्रतीक प्रतिविम्ब होते हुए भी तुच्छ-सा जीवन व्यतीत करते हुए—कीट पतंगों की मौत मर जाता है, कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि प्राप्त नहीं कर पाता। इसका एकमात्र कारण यही है कि हमारे पिंड के, देह के दोनों ध्रुव मूर्छित पड़े हैं, यदि वे सज्जा हो गये होते, तो ब्रह्माड जैसी महान् चेतना अपने पिंड में भी परिलक्षित होती।

मूत्र-स्थान यो एक प्रकार मे घृणित एव उपेक्षित स्थान है। पर तत्त्वत उसकी सामग्र्य मस्तिष्क मे अवस्थित ब्रह्मरन्ध जितनी ही है। वह हमारी सक्रियता का केन्द्र है। नाक, कान आदि छिद्र भी मल विसर्जन के लिए प्रयुक्त होते हैं, पर उन्हें कोई ढकता नहीं। मूत्र-यन्त्र को ढकने की श्रनादि एव श्रादिम परिपाठी के पीछे वह सतकंता है, जिसमे यह निर्देश है कि इस सस्थान से जो अजस्र शक्ति प्रवाह बहता है, उसकी रक्षा की जानी चाहिये। शरीर के अन्य अङ्गों की तरह यो प्रजनन अवयव भी माँस-मज्जा मात्र से हो बने हैं, पर उनके दर्शन मात्र से मन विचलित हो उठना है। अश्लील चित्र अथवा अश्लील चिन्तन जब मस्तिष्क मे उथल-पुथल पैदा कर देता है, तब उन अवयवों का दर्शन यदि भावनात्मक हृलचल को उच्छ्रूत्त्व बनादे तो अशर्चर्य ही क्या? यहीं यह रहस्य जान लेना ही चाहिये। मूत्र सस्थान के मूल मे वर्णी हुई कु डलिनी शक्ति प्रसुप्त स्थिति मे भी इतनी तांत्र है कि उसकी प्रचड वारायें खुनी प्रवाहित नहीं रहने दी जा सकती है। उन्हे आवरण मे रखने से उनका अपव्यय बचता है और अन्यों के मानसिक सतुलन को क्षति नहीं पहुंचती। छोटे बच्चों को भी कटिवन्द इपीलिये पहनाते हैं। ब्रह्मचारियों को घोरी के अतिरिक्त लंगोट भी वाघे रहना पड़ता है। पहलवान भी ऐसा ही करते हैं। सन्यास और वानप्रस्थ मे भी यहीं प्रक्रिया अपनानी पड़ती है।

ब्रह्मरध्म मस्तिष्ककी सामर्थ्य में हम सभी परिचित हैं पर कु डलिनी क्रिया-शक्ति के केन्द्र विन्दु मूलाधार का रहस्य बहुत कम लोगों को मालूम है। उसी सम्मान का जादू है कि मनुष्य अपने यमान एक नये मनुष्य को बना कर तैयार कर देता है, जबकि भगवान् भी अपने जैसा नया भगवान् बना सकने का माहम न कर सका। इन अवयवों का पारस्परिक स्पर्श होने से नर नरी के बीच एक असाधारण भावना प्रवाह बहने लगता है। साथी के दुश्म्रित्र और अविश्वस्त होने की वात मानते हुए भी परम्पर इतना आकर्षण हो जाना है कि व्यभिचार परायण नर-नारी भी एक दूसरे के लिये सभी मर्यादायों दो नोडकर गोग, कलक, पाप, परिवार-विग्रह एवं धन हानि की क्षति रठाते दखे गये हैं। विशुद्ध दाम्पत्य जीने वाले पति-पत्नी के पारस्परिक आकर्षण का कन्द्र जर्हा उनकी धर्म भावना हैं, वहाँ वह शारीरिक क्रिया कलाप भी हैं, जिनके कारण कु डलिनी विन्दुओं का स्पर्श एक दूसरे के शरीर एवं मन पर जादुई प्रभाव डालता है और एक दूसरे को अपना वशवर्ती कर लेता है।

शिव निंग के पूजा-प्रचलन में एक महान् आध्यात्मिक तत्त्व-ज्ञान का सकेत है, जिसमें व्यक्ति को सचेत किया गया है कि वह शरीर के इस अवयव में ईश्वरीय दिव्य शक्ति का अन्ति उपकृष्ट अश समाविष्ट समझे और इस ब्रह्माण्ड को ईश्वर की क्रियाशक्ति—कु डलिनी का प्रतीक माने। शिवनिंग का जल-प्रभिषेक करने का एक तात्पर्य यह भी है कि इस शक्ति के महान् लाभों को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उसे शीतल रखा जाय, उदीप न होने दिया जाय। योगी-यती अपनी साधनाओं में यह तत्त्वज्ञान सजोये ही रहते हैं कि उन्हें ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना चाहिए, ताकि पिछ की—देह की—मूलाधार क्रियाशक्ति कु डलिनी का अपव्यय न हो और वह वहिमुर्खी होकर अस्त-व्यस्त बनने, उच्छ्रूत्वा होने की अपेक्षा लौटकर ऊँच्चगामी दिशा पकड़ती हुई ब्रह्म-रन्ध्र अवस्थित महासर्प के साथ तादात्म्य होकर परमानन्द—ब्रह्मानन्द का लक्ष्य प्राप्त कर सके।

कु डलिनी का एक अमोघ चमत्कार प्रजनन-शक्ति—काम-क्रीड़ा और उसकी अनुभूतियों और प्रतिक्रियाओं के रूप में देखा और समझा जाता रहा है। इस रूप में उसका उपयोग करने की इच्छा वो ववान् बालकों से लेकर अशक्त वयोवृद्धों तक में पाई जाती है, भले ही वे उसे मूर्त्त रूप देने में तरुणों की तरह सफल न हो सके। इतना मात्र परिचय वस्तुन् बहुत ही स्वल्प है। कु डलिनी काम-वासना के रूप में हमें जितना प्रभावित करती है, उससे लाखों गुना अधिक प्रभावित वह कर सकती है, सर्वांगीण—सर्वतोमुखी—क्रिया शक्ति के रूप में। भू-खड़ों को काटकर वीरान बनाती चलने वाली उच्छृङ्खल नदियों को जब बाँध के रूप में रोका और नहरों के रूप में प्रवाहित किया जाता है, तो उससे सहस्रों एकड़ जमीन सीधी जाती और उससे प्रचुर धन-धार्य की उत्पत्ति होती है। ठीक इसी प्रकार प्रजनन-शक्ति के कामुकता की उच्छृङ्खलता से रोककर यदि अन्य रचनात्मक कार्यों में लगा दिया जाय, तो उसके सत्परिणाम आश्चर्यजनक होते हैं। इम तथ्य को ध्यान में रखते हुए आध्यात्मिक साधनाओं में हन्द्रिय संयम को—ब्रह्मचर्य को बहुत महत्व दिया गया है।

मल मूत्र स्थान के मध्य श्रवस्थित मूलाधार चक्र का वेद्द-विन्दु एक तिकोना करता है, जिसे 'सुमेरु' अथवा कूम कहते कहते हैं। शरीर में समस्त जीवन-करण गोल है, केवल दो ही ऐसे हैं जिनकी आकृति में अन्तर है—एक ब्रह्मरन्ध्र स्थित सहस्रार कमल नाम से पुकारा जाने वाला आगी की नोकों जैसी आकृति का ब्रह्मरन्ध्र—उत्तरी ध्रुव। दूसरा मूलाधार में श्रवस्थित चपटा, बीच में चठा हुआ—कद्मुए की आकृति वाला—दक्षिणी ध्रुव। इन दोनों पर ही जीव की सारी आधारशिला रखी है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के—अन्तर्मय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोशों के—अन्त करणाचतु ष्य में, सप्त प्राणों के—मूलाधार यही दो ध्रुव हैं। इन्हीं की शक्ति और प्रवृत्ति में हमारा वाह्य और अन्तरद्वंद्व जीवन-क्रम चलते रहने में ममर्य होता है।

उत्तरी ध्रुव सहस्रार कमल में विक्षोभ उत्पन्न करने और उसकी शक्ति को अस्ति-च्यस्त करने का दोप, लोभ, मोह, धहङ्कार जैसी दुष्प्रवृत्तियों का है। मन्त्रिष्ठ उन चिन्तनों में दौट जाता है, तो उसे आत्म-चिन्तन के लिए—व्रह्मशक्ति सचय के लिये अवसर ही नहीं मिलता। इसी प्रकार दक्षिणी ध्रुव—मूलावार में भरी प्रचरण क्षमता को कार्य-शक्ति में लगा दिया जाय, तो मनुष्य पर्वत उठाने एवं समुद्र मध्यने जैसे कार्यों को कर सकता है। क्रियाशक्ति मानव-प्राणी में अमीम है। किन्तु उसका क्षय कामुकता के विषय-विकारों में होना रहता है। यदि इस प्रवाह को गलत दिशा से रोककर सही दिशा में लगाया जा सके, मनुष्य की कार्य-क्षमता साधारण न रहकर दैत्यों अथवा देवताओं जैसी हो सकती है।

पुगणों से समुद्र-मन्थन की कथा आती है। यह मारा चित्रण सूक्ष्म रूप ये मानव शरीर में अवस्थित कु डलिनी शक्ति के प्रयोग प्रयोजन का है। हमारा मूत्र मस्थान खारी जल से भरा समुद्र है। उसे अगणित रत्नों का भाराहागार भी कह सकते हैं। म्यून और सूक्ष्म शक्तियों की सुविस्तृत रत्नराशि इसमें छिपी हुई है। प्रजापति के सकेत पर एक बार समुद्र मथा गया। देव और दानव हमका मन्थन करने में जुट गये। श्रसुर उसे अपनी ओर खीचने थे प्रथम् कामुकता की ओर घसीटते थे और मुर उसे रचनात्मक प्रयोजनों में नियोजित करने के लिए तत्पर थे। इमीं खीच तान को दूब में से मक्खन निकालने वाली बिलोने की, मन्थन-की क्रिया वित्रित की गई है।

समुद्र-मन्थन उपाख्यान में यह भी वर्णन है कि भगवान् ने कच्छुए का रूप बनाकर आधार स्थापित किया, उनकी पीठ पर सुमेरु पर्वत 'रई' के स्थान पर अवस्थित हुआ। शेषनाग के साढ़े तीन फेरे उस पर्वत पर लगाये गये और उसके द्वारा मन्थन-कार्यं सम्पन्न हुआ। कच्छर और सुमेरु मूलावार चक्र में अवस्थित वह शक्ति-त्रीज है, जो

जो दूसरे कणों की तरह गोल न होकर चपटा है और जिसकी पीठ, नाभि, की ओर उभरी हुई है। इसके चारों ओर महासप्तिणी, कुड़ालिनी साढ़े तीन फेरे लपेटकर पड़ी हुई है। इसे जगाने का कार्य मन्थन का प्रकरण लद्दाम वासना के उभार और दमन के रूप में होता है। सुर और असुर दोनों ही मनोभाव अपना-अपना जोर आजमाते हैं और मन्थन आरम्भ हो जाता है। कामुकता भड़काने और उसे रोकने का खेल ऐसा है, जैसे सिंह को क्रूङ्घ और उत्तेजित करने के उपरात उससे लड़ने का साहस करना। कृष्ण की राससीला का अध्यात्म-रहस्य कुछ इसी प्रकार का है। तथा मेरे वर्णित पांच भावों (मद्य, मांस, मीन, वा मुद्रा, मैथुन सेवन) में पांचवा भाग मैथुन का है। उस प्रकरण की गहराई में जाने और विवेचन करने का यह अवसर नहीं। यहाँ तो इतना ही समझ लेना पर्याप्त है कि कामुकता की उद्दीप्त स्थिति को प्रति-रोध द्वारा नियन्त्रित करने का पुरुषार्थ—समुद्र-मन्थन का प्रयोजन पूरा करता है।

समुद्र-मन्थन कुड़लिनी की स्थूल प्रेरणा कामुकता को प्रथ्य दिशा में नियोजित करना है। यो कामुकता भी विषयानन्द और सन्तान लाभ का सुख देती है, पर यह दो छोटे लाभ नगरण है। समुद्र-मन्थन में १४ रत्न निकले थे। जिनमें अमृत, कल्प-वृक्ष, कामधेनु, जैसे अति उत्कृष्ट और अति महत्त्वपूर्ण भी थे। यह ऐतिहासिक अथवा पौराणिक उपाख्यान हमारे जीवन में चरितार्थ किया जा सकता है। कुड़लिनी जागरण साधना में काम वासना का निय्रह समुद्र-मन्थन की भूमिका प्रस्तुत करता है। यो आगे चलकर आत्म-प्राण और महा-प्राण को इटा-पिंगला के द्वारा सुपुस्ता तक पहुँचाने की साधना भी समुद्र-मन्थन का दूषण कार्यक्रम प्रस्तुत करती है, पर उसका प्रथम सोपान तो इन्द्रिय निय्रह पर ही अवलम्बित है। उत्तरी ध्रुव महस्तार विचार-शक्ति का और दक्षिणी ध्रुव, मूलाधार क्रिया शक्ति का केन्द्र है। यह दोनों ही

शक्तियाँ अद्भुत एवं महान् हैं इनका समन्वय ही शक्ति की मौतिक एवं आर्मिक प्रियत को समुच्चित बनाने में समर्थ होता है। महस्तार्णी विचारणामक साधनायें प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि स्तर की हैं। उनके अनेक प्रयोग और प्रयोजन हैं। उनकी वर्ती भी अयत्र की गई है। यहाँ तो कृगडलिनी शक्ति का आर्मिक परिचय कराना और उसका प्रयम सोपान प्रभुत्व करना ही अभीष्ट है। अभुत्यही इनका समझना और समझाना ही पर्याप्त है कि हम कुडलिनी के द्वारा स्वरूप की महत्वा समझे अनुमान लगावें कि यदि उसे अन्तस्मुखी वताकर्ष प्रसृत दिव्य शक्तियों के जागरण में विविदत् प्रयुक्त किया जा सके तो अद्भुत एवं अनुपम नाम उपलब्ध किये जा सकते हैं।

नौकिकान एवं का भी यदि कोई मूल्याक्तन किया जाय, तो वह भी अपर्मी व्यक्तियों को दी प्राप्त होता है। कुडलिनी की सचित, परिपुराट एवं परिष्कृत दक्षित ही मौतिक प्रयोजनों का पूर्ण वर मन्त्री है। जो उनके माय छिलबाड़ करने रहते हैं, उन्हें तो शारीरिक ग्रहकिन और मानसिक अपमाद ही ताथ लगत वाने हैं। गृहम्य जीवन में भी ऋद्धवृत्त्य की श्रविकार्दिक मर्त्तादाम्रों का पालन किया जाना रहे, तो उसमें मनुष्य की शारीरिक एवं मानसिक दृढ़ता अक्षुण्णा वर्णी रह कर अनेक महान् दृढ़यों की पूनि हो सकती है।

• • •

नाद-साधना

सत-समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग अनहृत नाद की उपासना करता है। राघास्वामी, रैदास, कबीर और नानक आदि ने तो विशेष रूप से इसी योग का प्रचार किया था। इन सतों के अलग-अलग सम्प्रदाय बने, जिन्हे इसी साधना का उपदेश दिया गया।

आत्मोत्थान के लिए हमारे वेद-शास्त्रों में जितने भी उपायों का प्रतिपादन किया गया है, उनमें नादयोग को उत्कृष्ट की सज्जा दी गई है क्योंकि मन की स्थिरता के लिए यह उपयोगी साधन सिद्ध हुआ है। योग और तात्रिक सभी प्रकार की साधनाओं में इसका उच्च स्थान है। तात्रिक आचार्यों का मत है कि “नव (ग्राणव शब्द) नाद सुनने में नहीं आता, वह विक्षिप्त, क्षिप्त श्रवण मूढ़ दशा है, किन्तु जब नाद श्रुतिगोचर होता है, वह एकाग्र अवस्था ज्ञान की अवस्था है और जब नाद-अवण स्थगित हो जाता है—वह चित्त की निरोध अवस्था है, तब मन की वृत्ति नहीं रहती। सस्कार-मात्र रूप से मन विद्यमान रहता है, किन्तु यह सस्कार भी जब नहीं रहता, तब चित्तमात्र या शुद्ध आत्मा की स्वरूप स्थिति जाननी चाहिए।

हठयोग में भी नाद-साधना का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ इसे श्वेष साधना माना जाता है। इस योग में चार नाद-भूमियों का आरम्भ, घट, परिचय और निष्पत्ति का उल्लेख आता है। अन्तिम भूमि को सिद्धावस्था माना जाता है।

याग्नियों का विचार है कि जिम तरह गगा का अवतरण विष्णु-पद से विव के मस्तक पर हुआ था, उसी तरह यह नाद-गगा के प्रवाह का अवतरण भी विश्व-कल्याण के लिए हुआ है। तात्रिकाचार्यों का कथन है कि यह नाद प्रवाह ऊपर से भ्रूमध्य में गिरता है। इनीमें मारे विश्व की उत्पत्ति होती है और इत्यन्न होकर सारे जगत् में यही प्राण और जीवनी शक्ति के रूप में विद्यमान रहती है। मानव-शरीर में च्वास-प्रश्वास का खेल प्राण करता है। तात्रिक भाषा में इसे हस कहते हैं। 'ह' शब्द या पुन्य तत्त्व का और 'स' शक्ति या प्रकृति-तत्त्व का पर्याय है। जहा इन दोनों का मिलन होता है, वही नाद की अनुभूति होती है। नमी शिव-सहिता पे कहा गया है—

न नादसहृदो लय ।

“मन को नय करने वाले मात्रनो में, नाद की तुलना करने वाला और कोई मात्रन नहीं है।”

भगवान बड़ुराचार्य ने भी ‘योग तारावली’ में नाद-तत्त्व की शमा दी है—

मदा गिवोक्तानि सपादलक्ष—

लयाववानानि वसन्ति लोके ।

नादानुमन्धानसमाधिमेक

मन्यामहे मात्यरम् लयानाम् ॥

नादानुमन्धान नमोऽस्तु तुभ्य

त्वामन्महे तत्त्वपद लयानाम् ।

भवत्प्रसादात् पवनेन साध

विलीयते विष्णुपदे मनो मे ॥

सवचिन्ता परित्यज्य साववानेन चेतसा ।

नाद एवानुमन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥

“भगवान् शिव ने मन के लय के लिये मवा लक्ष साधनों का

निर्देश किया है, परन्तु उन सबमें नादानुसंधान। सुनभ और श्रेष्ठ है। हे। हे नादानुसंधान। आपको नमस्कार करता हूँ। आप परमपद में मियनि-लाभ करते हैं। आपकी कृग से मेरे प्राण और मन दोनों विष्णु के परन पद में लीन हो जायेंगे। यदि योग-साम्राज्य में गति प्राप्त करने की आकाशा हो, तो समस्त निन्नाप्रो से मुक्त होकर सावधानी से मन को एकाग्र करके अनहृद नाद का अवशण करो।”

परिभाषा—

ब्रह्मविन्दोपनिषद् में नाद-साधक को वेदज री सज्जा दी गई है।

‘शब्द’ को ब्रह्म कहा है वयोर्कि ईश्वर और जीव को एक शृङ्खला में बांधने का काम शब्द द्वारा ही होता है। सृङ्खि री उत्पत्ति का प्रारम्भ भी शब्द से हुआ है। पच तत्त्वों में सबसे पहिले आकाश वना, आकाश की की तत्त्वावाद शब्द है। अन्य समस्त पदार्थों नी भाँति शब्द भी दो प्रकारका हैं सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म शब्द को विचार करते हैं और स्थूल शब्द को नाद।

ब्रह्म लोक से हमारे लिये ईश्वरीय शब्द-प्रवाह सदैव प्रवाहित होता है ईश्वर हमारे साथ वार्तनिप करना चाहना है, पर हम में से बहुत कम लोग ऐसे हैं जो उमे सुनता चाहते हैं या सुनने की इच्छा करते हैं। ईश्वर निरन्तर एक ऐसी विचारवारा प्रेरित करता है, जो हमारे लिए अतीव कल्पाणकारी होती है। उसको यदि सुना और समझा जा सके तथा उमके अनुसार माण निर्वारित किया जा सके तो निससन्देह जीवनोद्देश्य की ओर द्रुत गति से अप्रतार हुमा जा सकता है। यह विचारवारा हमारी आत्मा में टकराती है।

हमारा अन करण एक रेडियो है, जिसकी ओर यदि अभिमुख हुआ जाय, अपनी वृत्तियों को अन्तमुख बनाकर आत्मा में प्रस्फुटित होने वाली दिव्य विचार-नहरियों को सुना जाय, तो ईश्वराय वाणी हमे प्रत्यक्ष में सुनाई वड मरी है। इसी को प्राणशब्दाणी कहते हैं।

हमे क्या फूरना चाहिए, क्या नहीं? हमे क्या उचित है और क्या

अनुचित ? इसका प्रयत्न मन्देश ईश्वर की ओर से प्राप्त होता है । अन्त करण की पुकार आत्मा का आवेश, ईश्वरीय मन्देश, आकाशवाणी-विज्ञान आदि नामों से इसी विचारवारा को पुकारते हैं । अपनी आत्मा के यन्त्र को स्वच्छ करके जा इन दिव्य मकेन का मुनने से मफनता प्राप्त कर लेते हैं, वे आत्मदर्शी एवं ईश्वर-परायण कहलाते हैं ।

ईश्वर उनके लिए विलक्ष्ण ममीप होता है, वे ईश्वर की बातें मुनते हैं और अपनी उम्मे कहते हैं । इस दिव्य मिनन के लिए हाड़-माम के स्थूल नेत्र या कानों का उपयोग करने की आवश्यकता नहीं पड़ती । आत्मा की ममीनता से इस कार्य को आमतौर से पूरा कर लेता है । यह अत्यन्त मूर्ख ब्रह्म शब्द, विचार तब तक घुघले रूप से दिखाई पड़ता है, जब तक कपाय-कलमप आत्मा से बन रहते हैं । जितनी आनंदिक पवित्रता बढ़ती जाती है, उन्ने ही वह दिव्य मन्देश विनष्टुन न्पष्टु रूप से मामने आते हैं । आरम्भ में अपने निए कर्तव्य का बोध होता है, पाप-पुण्य का सकेत होता है । बुरा कर्म करते समय अतर मे भय, धृणा, लज्जा, मकोच आदि का होना तथा उत्तम कार्य करते समय—आत्मसन्तोष, प्रमज्ञना, उत्साह आदि का होना इसी स्थिति का बोधक है ।

यह दिव्य सदेश आगे बढ़कर भून, भविष्य वर्तमान की सभी घटनाओं को प्रकट करता है, किसके लिये क्या मन्त्रव्य बन रहा है और भविष्य में किसके लिए क्या घटना घटिन होने वाली है, यह सब कुछ उम्मे प्रकट हो जाता है । और भी ऊँची स्थिति पर पहुँचने पर उसके निए सृष्टि के सब रहस्य खुन जाने हैं । कोई ऐसी बात नहीं होती, जो उम्मे छिपी हो, परन्तु जैसे ही इनना बड़ा ज्ञान उम्मे मिलता है, वैसे ही वह उनका उपरोक्त करने में अपना माववान हो जाता । बाल-नुद्धि के लोगों के हाथों में यह दिव्य ज्ञान पड़ जाय, तो उसे बाजीगरी के स्विनवाड खड़े करने में ही नष्ट कर दें, पर अधिकांशी पुरुष अपनी

निर्देश किया है, परन्तु उन सबमें नादानुसंग्रहान् । सुनभ और श्रेष्ठ हैं । है नादानुमयान् । आपको नमस्कार करता हूँ । आप परमपद में मिथ्यनि-नाभ कराते हैं । आपकी कृगा में मेरे प्राण और मन दोनों विष्णु के परन पद में लीन हो जायेंगे । यदि योग-साम्राज्य में गति प्राप्त करने की आकाशा हो, तो समस्त नित्यान्द्रो से मुक्त होकर माववानी से मन को एकाग्र करके अनन्हद नाद का श्रवण करो ।”

परिभाषा—

ब्रह्मविन्दोपनिषद् में नाद-मावक को वेदज्ञ की मज्जा दी गई है ।

‘शब्द’ को ब्रह्म कहा है क्योंकि ईश्वर और जीव को एक शृङ्खला में बांधने का काम शब्द द्वारा ही होता है । सृष्टि ती उत्पत्ति का प्रारम्भ भी शब्द से हुआ है । पच तत्त्वों में सबमें पहिले आकाश वना, आकाश की की तत्त्वात्रा शब्द हैं । अन्य सप्तस्त पदार्थों ती भाँति शब्द भी दो प्रकारका हैं सूक्ष्म और स्थूल । सूक्ष्म शब्द को विचार कहते हैं और स्थूल शब्द को नाद ।

ब्रह्म लोक से हमारे लिये ईश्वरीय शब्द-प्रवाह सदैव प्रवाहित होता है ईश्वर हमारे साथ वार्तालाप करना चाहता है, पर हम में से बहुत कम लोग ऐसे हैं जो उसे सुनता चाहते हैं या सुनने की इच्छा करते हैं । ईश्वर निरन्तर एक ऐसी विचारधारा प्रेरित करता है, जो हमारे लिए अतीव कल्याणकारी होती है । उसको यदि सुना और समझा जा सके तथा उसके अनुसार माग निर्वाहित किया जा सके तो निस्सन्देह जीवनोद्दैश्य की ओर द्रुत गति से अप्राप्त हुमा जा सकता है । यह विचारधारा हमारी आत्मा से टकराती है ।

हमारा अन करण एक रेडियो है, जिपकी ओर यदि अभिमुख हुआ जाय, अपनी वृत्तियों को अन्तमुँख बनाकर आत्मा में प्रस्फुटित होने वाली दिव्य विचार-लहरियों को सुना जाय, तो ईश्वरीय वाणी हमें प्रत्यक्ष में सुनाई पड़ मरी है । इसी को आकाशवाणी कहते हैं । हमें क्या करना चाहिए, क्या नहीं? हमें क्या उचित है और क्या

अनुचित ? इसका प्रत्यक्ष मन्देश ईश्वर की ओर से प्राप्त होना है । अन्त करण की पुकार आत्मा का आवेश, ईश्वरीय मन्देश, आकाशवाणी-विज्ञान आदि नामों से इसी विचारवारा को पुकारते हैं । अपनी आत्मा के यन्त्र को स्वच्छ करके जो इस दिव्य सकेन को मुनने में सफलता प्राप्त कर लेते हैं, वे आत्मदर्शी एवं ईश्वर-परायण-कहलाते हैं ।

ईश्वर उनके लिए विलक्षुन ममीप होना है, वे ईश्वर की वातें मुनने हैं और अपनी उमसे कहते हैं । इस दिव्य मित्रता के लिए हाड़-मास के स्थूल तेत्र या कानों का उपयोग करने की आवश्यकता नहीं पड़ती । आत्मा की समीक्षा में बैठा हृषा अन्त करण अपनी दिव्य इन्द्रियों की सहायता से इस कार्य को आपानी में पूरा कर लेता है । यह अत्यन्त मूर्ख व्रह्म शब्द, विचार तब तक बुँधले रूप में दिखाई पड़ता है, जब तक कपाय-कल्प आत्मा में बने रहते हैं । जितनी आत्मिक पवित्रता बढ़ती जाती है, उनमें ही वह दिव्य मन्देश विलक्षुन म्पष्ट रूप से मामने आते हैं । आरम्भ में अभने लिए कर्तव्य का बोध होता है, पाप-पुण्य का सकेत होना है । बुरा कर्म करते समय अतर में भय, घृणा, लज्जा, मकोच आदि का होना तथा उत्तम कार्य करते समय—आत्मसन्तोष, प्रमग्नना, जत्साह आदि का होना इसी स्थिति का बोधक है ।

यह दिव्य सदेश आगे बढ़कर भूत, भविष्य वर्तमान की सभी घटनाओं को प्रकट करता है, किमके लिये क्या मन्तव्य बन रहा है और भविष्य में किमके लिए क्या घटना घटिन होने वाली है, यह सब कुछ उमसे प्रकट हो जाता है । और भी कौची स्थिति पर पहुँचने पर उसके लिए सृष्टि के सब रहस्य खुन जाते हैं । कोई ऐसी वात नहीं होती, जो उमसे छिपी हो, परन्तु जैसे ही इनना बड़ा ज्ञान उसे मिलता है, वैसे ही वह उपका उपग्रोता करने में ग्रापन मावता हो जाता । वाल-तुद्धि के लोगों के हाथों में यह दिव्य ज्ञान पड़ जाय, तो उसे बाजीगरी के खिलवाड़ खड़े करने में ही नष्ट कर दें, पर अविकारी पुरुष अपनी

इस शक्ति का किसी को परिचय नहीं होने देते और उसे भौतिक वसेडों से पूर्णतया बचाकर अपनी तथा दूसरों की आत्मोन्तति में लगाते हैं।

शब्द ब्रह्मा का दूसरा रूप जो विचार-सदेश की अपेक्षा कुछ सूक्ष्म है, वह नाद है। प्रकृति के अन्तराल में एक ध्वनि प्रतिक्षण उठता रहती है, जिसकी प्रेरणा से आधातों के द्वारा परमाणुओं में गति उत्पन्न होती है और सृष्टि का समस्त क्रिया-कलाप चलता है। यह प्रारम्भिक शब्द 'ॐ' है। यह ॐ ध्वनि जैसे-जैसे अन्य तत्त्वों के क्षेत्र में होकर गुजरती है, वैसे ही उसकी ध्वनि में अन्तर आता है। वशी के हिंद्रों में हवा फूँकते हैं, तो उसमें एक ध्वनि उत्पन्न होती है। पर आगे के छिद्रों में से जिस छिद्र में जितनी हवा निकाली जाती, उसी के अनुसार भिन्न-भिन्न स्वरों की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, इसी प्रकार ॐ ध्वनि भी विभिन्न तत्त्वों के सम्पर्क में आकर विविध प्रकार की स्वर-लहरियों में पर्याप्त हो जाती है। इन स्वर लहरियों का सुनना ही नादयोग है।

डा० सम्पूर्णनिन्द ने नाद तत्त्व की व्याख्या इस प्रश्नार की है—

इम जगत् मे पञ्चीकृत महाभूत काम कर रहे हैं। उनके एक-एक अणु मे कम्पन है। उस कम्पन मे यह जगत् शब्दायमान हो रहा है। जहाँ कम्पन है, वहाँ शब्द है। सूक्ष्मभूत अपचीकृत हैं, पर उनके परमाणुओं मे भी कम्पन है, और उस कम्पन से एक सूक्ष्म शब्द-राशि उत्पन्न होती है। जो साधक को 'अनाहत शब्द' प्रतीत होता है। वीर ने कहा है—'तत्त्व भ कार ब्रह्म डमाही'। उस शब्द-राशि का नाम अनाहत नाद है, पीछे के महारमाय (१) के शब्दों मे भी अनहद नाद है। जिस समय तक अस्यासी इस अनाहत नाद को नहीं सुन पाता, तब तक उसका अस्यास कच्चा है। पुन वीर के शब्दों मे—'जोग जगा अनहद धुनि सुनिके।' जब अनाहत सुन पड़ने लगा, तब इसका अर्थ यह है कि योगी का धीरे धीरे अन्तर्जंगत मे प्रवेश होने लगा। तब अपने भूले

हुए स्वरूप को कुछ-कुछ पहचानने लगा। शक्ति, वैभव और ज्ञान के भंडार की भलक पाने लगा अर्थात् महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती के दर्शन पाने लगा, जो अम्बासी वही उलझकर रह गया—और दुख का विषय है कि सचमुच बहुन-से अम्बासी इसके आगे नहीं बढ़ते। पर जो तलनीनता के साथ बढ़ना जाना है, वह क्रमशः ऊपर के लोकों में प्रवेश करता जाना है। अन्त में वह अवस्था आती है, जहाँ वह आकाश की सीमा का उल्लंघन करने का भविकारी हो जाना है। वही शब्द का अन्त है।

शिव और शक्ति का संयोग और पारस्परिक सम्बन्ध ही “नाद” कहलाता है। इसे अव्यक्त व्यनि और अचल अक्षर मात्र भी कहा जाता है।

मध्यम वाणी को नाद की सज्जा दी जाती है। नवनादों की समष्टि को भास्कर राय ने मध्यमा कहा है। यह परा-वाणी की तरह न तो अत्यन्त सूक्ष्म है और न वैवरी की तरह अ-यन्त्र स्थूल। इसलिए इसे मध्यमा कहते हैं। (वरिवस्या रहस्य १ अश पृ १७)

नाद को सदाशिव कहा जाता है। प्रपञ्चवार विवरण (प्रथम पटल) में कहा है—

विन्दुरीश्वर नादस्तस्याद्विचत्मश रूप पुरुषाख्यम।
बीजमचिदश ।

अर्थात् “विन्दु ईश्वर का नाद है। उससे मिश्रित चित्र स्वय पुरुष नाम वाला अचित् का अश है।”

एक तत्रशास्त्री के अनुपार “यह शिव विन्दु, समूर्ण प्राणियों में नादात्मक शब्द के रूप में विद्यमान रहता है। अपने से अभिन्न विश्व का परामृष्ट करने वाला परावग्रुह विमर्श ही शब्द है। सब भूजों में ‘जीवहना’ के रूप में स्फुरेत हो। के कारण उसे नाद कहते हैं।”

अनइद नाद का शुद्ध रूप है—प्रग्रहा नाद। ‘आहन’ नाद वे

होते हैं, जो किसी प्रेरणा या आधात से उत्पन्न होते हैं। वाणी के आकाश तत्त्व से टकराने अथवा किन्हीं दो वस्तुओं के टकराने वाल शब्द 'आहत' कहे जाते हैं। बिना किसी आधात के दिव्य प्रकृति के ग्रन्तराल से जो घटनियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें 'अनाहत' या 'अनहद' कहते हैं। इस शब्द को मुनने की साधना को 'सुख कहते हैं। अनहद नाद एक बिना नाद की दैवी सन्देश-प्रणाली है। मावक इसे जानकर सब कुद्द जान सकता है। इन शब्दों में 'ॐ' घटनि आत्म-कलगणकारक और विभिन्न प्रकार की सिद्धियों की जननी है।

तन्त्र का मत है कि प्राणात्मक उच्चार से जो एक अव्यक्त घटनि निकलती है, उसी को अनाहत नाद कहा जाता है। इसका कर्ता और बाधक कोई नहीं है। यह नाद हर प्राणी के हृदय में अपने आप घटनित होता रहता है—

एको नादात्मको वर्णं सर्ववर्णाविभागवान् ।
सोऽनस्तमितरूपत्वाद् अनातन इवोदित ॥

अर्थात् 'एक ही नाद के स्वरूप वाला वर्ण है, जो सब वर्णों का अविभाग वाला है। वह अनस्तमित रूप वाला होने से अनाहत की भाँति उदित होता है।'

नाद-प्रवाह का प्रतिपादन करते हुए 'सेतुब च' में कहा गया है—
"नाद सबसे पहले परा स्वरूप होकर भूलाधार से उठकर मणिपूर और अनाहत चक्रों में आता है। वहाँ प्राण और मन में मिलकर पश्यन्ती और मध्यमा का रूप ग्रहण करता है। फिर गले में आकर बैखरी रूप वर्णों में परिणित हो जाता है। नाद को समस्त वर्णों का कारण रूप बहा गया है। जिस तरह बीज में फल और पुष्प रहते हैं, उसी तरह नाद में सूक्ष्म रूप से वर्ण रहते हैं।

प्रकार—

अनाहत या अनहद शब्द प्रमुखत दस माने जाते हैं, जिनकी

ध्वनियाँ श्रलग-श्रलग हैं—१ महारक की पायजेव की भकार जैसी, २ पालक की सागर की लहर-सी, ३ सृजक की मृदङ्घ-सी, ४ सहस्र-दल कमल की शङ्ख-सी, ५ चिदानन्दम डल की मुरली-सी, ७ सच्चिदानन्द मडल की बीन-सी ८ अख ड अर्द्धमात्रा की सिंह-गजन-सी, ९ श्रगम मंडल की नफोरी-सी, १० अलखमडन की बुनबुल-सी ।

जैसे अनेक रेडियो-स्टेशनों से एक ही समय में अनेक प्रोग्राम ब्राउकास्ट हीने रहते हैं, वैसे ही अनेक प्रकार के अनाहत शब्द भी प्रस्फुटित होते रहते हैं । उनके कारण, उपयोग और रहस्य अनेक प्रकार के हैं । चौंसठ अनाहत शब्द नक गिने गये हैं, पर उन्हें सुनना हर किसी के लिये सम्भव नहीं । जिन ही अतिमिक शक्ति जिननी ऊँची होगी वे उतने ही सूक्ष्म शब्दों को सुनेंग । पर उपयुक्त दम शब्द मामान्य आत्म-बल वाले भी आसानी से सुन सकते हैं ।

विराट रूप—

नाद के विराट रूप का वर्णन करते हुए स्वामी नयनानन्द सरस्वती ने लिखा है—

“विराट् मे जितने मडल है—उनमें से दस मडनों ने शब्द भी जारी किए हैं । इन मडनों में प्रथेक मडन अपना एक शब्द रखता है । विराट् मे कुन छत्तीस मडन हैं और वे सब अपना-अपना पक-एक शब्द रखते हैं । परन्तु केवल दस का शब्द प्रकट स्वर में चालू है और शेष छत्तीस मडनों के शब्द स्वर रूप से गुस आवाज में चालू रहते हैं । उपर्युक्त ३६ मडल श्रलग-श्रलग अपना रग, रूप, शब्द और अधिकार रखते हैं । उन सबकी अद्व मात्राएँ अलग हैं, उनके बीज यानी शिव भी श्रलग-श्रलग हैं । प्रत्येक मडन से जो सूत्र यहाँ आता है, वह स्वर या शब्द के रूप में ही होता है । इसराज नामक वाजे में जो ३६ तार होते हैं, वे ३६ मजिल के स्मारक हैं और ३६ प्रकार के अनाहत नाद के द्योतक हैं । दस प्रकार का अनहृद कान से सुना जाता है । वाकी २६

प्रकार का अनहद—जो स्वर-रूप है—केवल अनुभव के कान से सुनाई पड़ता है। वे लोग यथार्थ नहीं जानते, जो अनहद को केवल दम ही प्रनार का जानते या मानते हैं। कारण यह कि जो दम मण्डल अखड़ प्रद्वंसात्रा के नाचे अर्द्ध चन्द्राकार घेरे में आबाद है—वही से प्रकट शब्द हुआ करता है और अनहद नाद के जितने प्रचारक सासार में आये, वे सब उन मड़नों के ही 'शिव' लोग थे। अखण्ड प्रद्वंसात्रा से लेकर पूर्ण मात्रा तक जिननी मजिले हैं—या जितने मण्डल हैं, उनके शिव या कारण—रारीर इम मायिक भूमिका पर नहीं आये। इसीलिए उनके मड़नों का स्वर लोगों को सुनाई नहीं पड़ा। हाँ, परमरम्य भविष्य महाकाल में वे सब इन भूमि पर अरनार लेंगे, उनी समय छत्तीम तार वाला इसराज बजेगा।"

लाभ—

पच सत्त्वों से पतिष्ठनित हुई अंहार की स्वर-नहरियों की सुनने की नाद योग-साधना कई दृष्टियों से बड़ी महत्वरूपी है। प्रथम तो इस दिव्य सगीत को सुनने में इनना आतन्द प्राप्ता है, जिनना फिरी मधुर-सेमधुर वाद्य या गायन सुननेमें नहीं आता। दूसरे, इस नाद-श्रवण से मानसिक तनुप्रो का प्रफूल्य होना है। साप जब सगीत सुनता है, तो उसकी नाडियों में एक विशुद्ध-लहर प्रवाहित हो उठती है, मृग का मस्तिष्क मधुर सगीत सुनकर इतना उत्साहित हो जाता है कि उसे तन-बदन का होश नहीं रहता। योरोप में गायें दुहते समय मधुर बाजे बजाये जाते हैं, जिससे उनका स्नायु-पमूह उत्तेजित होकर अधिक मात्रा में दूध उत्पन्न करना है। नाद का दिव्य सीन सुनकर मानव पस्तिष्क में भी ऐसी स्फुरणा होती है, जिसके कारण मनें गुप्त मानसिक शक्तियाँ विकसित होती हैं, इस प्रकार भौतिक और आत्मिक दोनों ही दिशाओं में प्रगति होती है।

तीसरा लाभ एकाग्रता है। एक वस्तु पर—नाद पर ध्यान एकाग्र होने से मन की विद्वारी हुई शक्तिगाँ एकत्रित होती है और इस

प्रकार मन को वश मे करने तथा निश्चित कार्य पर उसे पूरी तरह दान देने की साधना सफल हो जाती है। यह सफलता किंतु शानदार है, इसे प्रत्येक अध्यात्म-मार्ग का जिज्ञासु भली प्रकार जानता है। आत्मी काच द्वारा एक-दो इच जगह की सूर्य-किरणें एकत्रित कर देने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है। मानव प्राणी अपने सुविस्तृत शरीर मे विखरी हुई अनन्त दिव्य-शक्तियों का एकीकरण कर ऐसी महान् शक्ति उत्पन्न करता है, जिसके द्वारा इस ममार को हिलाया जा सकता है और अपने लिए आकाश मे मांग बनाया जा सकता है।

नाद मडल यमलोक से बहुत ऊँचे बताए जाते हैं। इसलिए नाद-साधक को यमदून पकडने की सामर्थ्य नहीं रखते।

नाद साधक की बुद्धि का विकास इतना होता रहता है, जिससे वह सत्य का अन्वेषण करता रह सके और विवेक की अनुभूति प्राप्त कर सके।

नाद-मडलों का विवरण ऊपर दिया गया है। उनमे मे साधक जिस भूर तक पहुँच जाता है और मृत्यु-समय जिस शब्द को पकडने की मिथ्यनि मे होता है, उसकी आत्मा उसी मडल मे जा पहुँचती है।

नाद साधक का इतना आत्मिक उत्थान हो जाता है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि षट्-रिपु उस पर कोई प्रभाव नहीं दिखा सकते। आक्रमण करना तो इनका स्वभाव ही है, परन्तु नाद-साधक पर यह विजय प्राप्त नहीं कर सकते। वह सदा इनसे अप्रभावित ही रहता है, इसलिए दिनो-दिनो उसकी शक्तियों का विकास होता चलता है।

नाद-साधना से अन्तिम सीढ़ी नक पहुँचना सम्भव है।

साधना-१

नाद की स्वर-सहरियों को पकडते-पकडते साधक 'अ' की रस्सी पकडता है श्रुति उस उद्गम से बहुत पहुँच जाता है, जो आत्मा का अभीष्ट Hinduism Discord Server <https://dsc.gg/dharma> | MADE

स्थान है। ब्रह्मलोक की प्राप्ति, दूसरे शब्दों में मुक्ति, निर्वाण, परमपद आदि नामों से पुकारी जाती है। नाद के आधार पर मनोलय करता हुआ साधक योग की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचता है और अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेना है। नाद का अभ्यास किस प्रकार करना चाहिये अब इस पर कुछ प्रकाश डालते हैं —

अभ्यास के लिये ऐसा स्थान प्राप्त कीजिये जो एकान्त हो और जहाँ बाहर की सार्यक आवाज न आती हो। तीक्ष्ण प्रकाश इस अभ्यास में बाधक है। इसलिये कोई अधेरी कोठरी ढूँढनी चाहिये। एक पहर रात हो जाने के बाद से लेकर सूर्योदय से पूव तक का समय इसके लिये बहुत ही अच्छा है। यदि इस समय की व्यवस्था न हो तो प्रात् ६ बजे तक और शाम को दिन छिपे बाद का कोई समय नियत किया जा सकता है। नित्य नियमित समय पर अभ्यास करना चाहिये। अपने नियत कमरे में एक आसन या आराम कुर्भी बिछाकर बैठो। आसन पर बैठो तो धीठ पीछे कोई मसनद या कपड़े की गठरा आदि रखलो। यह भी न हो तो अपना आसन एक कोने में लगाओ। जिस प्रकार शरीर को आराम मिले, उस तरह बैठ जाओ और शरीर को ढीला छोड़ने का प्रयत्न करो।

भावना करो कि मेरा शरीर रुई का ढेर मात्र है और मैं इस समय इसे पूरी तरह स्वतन्त्र छोड़ रहा हूँ। थोड़ी देर में शरीर विलकुल ढीला हो जायगा और अपना भार अपने आप न सहकर इच्छर-उधर को ढुलन लगेगा। आराम कुर्भी, मसनद या दीवार का सहारा ले लेने में शरीर ठीक प्रकार अपने स्थान पर बना रहेगा। साफ रुई की मुनायम सी दो डाटे बनोकर उन्हें कानों से लगाओ कि बाहर की कोई आवाज भीतर प्रवेश न सके। उज्ज्ञलियों से कान के छेद बन्द करके भी काम चल मरता है। अब बाहर की काई आवाज तुम्हे मुनाई न पड़ेगी भी उस और ध्यान से हटाकर अपने मूर्धा स्थान पर ले जाओ और वहाँ जो शब्द हो रहे हैं, उन्हें ध्यानपूर्वक सुनने का प्रयत्न करो।

आरम्भ में शायद कुछ भी सुनाई न पड़े, पर दो चार दिन प्रयत्न करने के बाद जैसे-जैसे सूक्ष्म वर्णन्दिय निर्मल होती जायगी, वैसे शब्दों की स्पष्टता बढ़ती जायगी। पहले पहल वई शब्द सुनाई देते हैं। शरीर में जो रक्त प्रवाह हो रहा है, उसकी आवाज रेल की तरह वक्-धक्-धक् सुनाई पड़ती है। बायु के आने-जाने की आवाज वादल गरजने जैसी होती है, रसों के पकने और उनके आगे की ओर गति करने की आवाज चटकने की-सी होती है। यह तीन प्रकार के शब्द शरीर की क्रियाओं द्वारा उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार दो तरह के शब्द मानसिक क्रियाओं के हैं। मन में चचलता की लहरें उठती हैं, वे मन पर विशिष्ट प्रक्रिया करती हैं। वे मानस-तन्तुओं पर टकराकर ऐसे शब्द करती हैं, मानो टीन के ऊपर मेह वरम रहा हो और जब मस्तिष्क बाह्य-ज्ञान को ग्रहण करके अपने में धारण करता है तो ऐसा मालूम होता है मानो कोई प्राणी सास ले रहा हो। यह पाँचों शब्द शरीर और मन के हैं। कुछ ही दिन के अभ्यास से साधारणत दो-तीन सप्ताह के प्रयत्न से यह शब्द स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ते हैं। इन शब्दों के सुनने से सूक्ष्म इन्द्रियाँ निर्मल होती जाती हैं और गुप्त शक्तियों को ग्रहण करने की उनकी योग्यता बढ़ती जाती है।

जब नाद व्यवण करने की योग्यता बढ़ जाती है, तो वशी या सीटी से मिलती जुलती अनेक प्रकार की शब्दावलियाँ सुनाई पड़ती हैं, यह सूक्ष्म लोक में होने वाली क्रियाओं की परिचायक है। बहुत दिनों से विलुडे हुए वच्चे को यदि उसकी मात्रा की गोद में पहुँचाया जाता है, तो वह आनन्द से त्रिभोर हो जाता है—ऐसा ही आनन्द सुनने वाले को आता है।

जिन सूक्ष्म शब्द-धर्वनियों को आज वह सुन रहा है, वास्तव में यह उसी तत्व के निकट से आ रही है, जहाँ से घातमा और परमात्मा का विनगाव हुआ है और जहाँ पहुँचकर दोनों फिर एक हो सकते हैं।

स्थान है। ब्रह्मलोक की प्राप्ति, दूसरे शब्दो में मुक्ति, निर्वाण, परमपद आदि नामों से पुकारी जाती है। नाद के आधार पर मनोलय करता हुआ साधक योग की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचता है और अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेना है। नाद का अभ्यास किस प्रकार करना चाहिये अब इस पर कुछ प्रकाश डालते हैं —

अभ्यास के लिये ऐसा स्थान प्राप्त कीजिये जो एकान्त हो और जहाँ बाहर की सार्थक आवाज न आती हो। तीक्ष्ण प्रकाश इस अभ्यास में बाधक है। इसलिये कोई अंधेरी कोठरी हूँडनी चाहिये। एक पहर रात हो जाने के बाद से लेकर सूर्योदय से पूव तक का समय इसके लिये बहुत ही अच्छा है। यदि इस समय की व्यवस्था न हो तो प्रात् ६ बजे तक और शाम को दिन छिपे बाद का कोई समय नियत किया जा सकता है। नित्य नियमित समय पर अभ्यास करना चाहिये। अपने नियत कमरे में एक आसन या आराम कुर्भी विछाकर बैठो। आसन पर बैठो तो पीठ पीछे कोई मसनद या कपड़े की गठरों आदि रखलो। यह भी न हो तो अपना आसन एक कोने में लगाओ। जिस प्रकार शरीर को आराम मिले, उस तरह बैठ जाओ और शरीर को ढीला छोड़ने का प्रयत्न करो।

भावना करो कि मेरा शरीर रुई का ढेर मात्र है और मैं इस समय इसे पूरी तरह स्वतन्त्र छोड़ रहा हूँ। थोड़ी देर में शरीर विलक्षण ढीला हो जायगा और अपना भार अपने आप न सहकर इवर-उघर को दुलन लगेगा। आराम कुर्भी, मसनद या दीवार का सहारा ले लेने में शरीर ठीक प्रकार अपने स्थान पर बना रहेगा। साफ रुई की मुनायम सी दो डाटे बनोकर उन्हें कानों से लगाओ कि बाहर की कोई आवाज भीतर प्रवेश न सके। उझलियों से कान के छेद बन्द करके भी काम न सकता है। अब बाहर की कोई आवाज तुम्हे सुनाई न पड़ेगी भी उस ओर ध्यान से हटाकर अपने मूर्धा स्थान पर ले जाओ और वहाँ जो शब्द हो रहे हैं, उन्हें ध्यानपूर्वक सुनने का प्रयत्न करो।

आगम्भ में शायद कुछ भी सुनाई न पड़े, पर दो चार दिन प्रयत्न करने के बाद जैसे-जैसे सूक्ष्म वर्णोन्द्रिय निर्मल होती जायगी, वैसे शब्दों की स्पष्टता बढ़ती जायगी। पहले पहल वई शब्द सुनाई देते हैं। शरीर में जो रक्त प्रवाह हो रहा है, उसकी आवाज रेल की तरह घक-घक-घक् सुनाई पड़ती है। बायु के आने-जाने की आवाज बादल गरजने जैसी होती है, रमो के पकने और उनके ग्रामों की ओर गति करने की आवाज चटकने की-सी होती है। यह तीन प्रकार के शब्द शरीर की क्रियाओं द्वारा उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार दो तरह के शब्द मानसिक क्रियाओं के हैं। मन में चचलता की लहरें उठती हैं, वे मन पर विशिष्ट प्रक्रिया करती हैं। वे मानन-तनुभ्यो पर टकराकर ऐसे शब्द करती हैं, मानो टीन के ऊपर मेह वरम रहा हो और जब मन्त्रिक वाह्य-ज्ञान को ग्रहण करके अपने में धारणा करता है तो ऐसा मालूम होता है मानो कोई प्राणी साँझ ले रहा है। यह पाँचों शब्द शरीर और मन के हैं। कुछ ही दिन के अन्यास से साधारणत दो-तीन सप्ताह के प्रयत्न में यह शब्द स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ते हैं। इन शब्दों के सुनने से सूक्ष्म इन्द्रियां निर्मल होती जाती हैं और गुप्त कान्तियों को ग्रहण करने की उनकी योग्यता बढ़ती जाती है।

जब नाद श्रवण करने की योग्यता बढ़ जाती है, तो वशी या भीटी से मिलती जुननी अनेक प्रकार की शब्दावलियाँ सुनाई पड़ती हैं, यह सूक्ष्म लोक में होने वाली क्रियाओं की परिचायक है। बहुत दिनों में ब्रिछुड़े हुए वच्चे को यदि उसकी माता की गोद में पहुँचाया जाता है, तो वह आनन्द से बिभोर हो जाता है—ऐसा ही मानन्द सुनने वाले को आता है।

जिन सूक्ष्म शब्द-व्यञ्जियों को आज वह सुन रहा है, वास्तव में यह उसी तत्त्व के निकट से आ रही है, जहाँ से आत्मा और परमात्मा का विलगाव हृथा है और जहाँ पहुँचकर दोनों फिर एक हो मकते हैं।

धीरे-धीरे यह शब्द स्पष्ट होने लगते हैं और अभ्यासी को उनके सुनने में ग्रदंभुत आनन्द आने लगता है। कभी-कभी तो वह उन शब्दों में मस्त होकर आनन्द से विहवल हो जाता है और अपने तन-मन की सुप्रभूल जाता है। अन्तिम शब्द ३० है, यह बहुत ही सूक्ष्म है। इसकी ध्वनि घटा-ध्वनि के समान होती है। घडियाल में हथोड़ी मार देने पर जैसे वह कुछ देर तक भनभनाती रहती है, उसी प्रकार '३०' का घटा-शब्द सुनाई पड़ता है।

३०कार ध्वनि जब सुनाई पड़ने लगती है, तो नि द्रा, त द्रा पा वेहोशी जैसी दशा उत्पन्न होने लगती है। उसी मिथ्यति के ऊपर बढ़ने वाली आत्मा परमात्मा में प्रवेश करती जाती है और पूर्णतया परमात्म-प्रवस्था प्राप्त कर लेती है।

विन्दु-सधना

महिमा—

शास्त्रो मे विन्दु-साधना का महत्त्व इस प्रकार वर्णित है—

मिद्रे विन्दो महादेवि कि न मिद्यति भूतले ।

‘हे पार्वती ! विन्दु के मिथ हो जान पर ऐसी कीन-मी सिद्धि है, जो माघ को प्राप्त न हो सके ।’

ऊर्वरेता भवेद् वावत तावत कालभय कुन ।

—हठयोग प्रदीपिका

“जब तक साधक विन्दु को ऊर्वरामी रखना है, तब तक उसको मृत्यु का भय नहीं होता ।”

मर विन्दुपातेन जोवन विन्दुवारण् ।

—शिव-महिता

“विन्दु का पतन ही मृत्यु और विन्दु का बारण (स्थिरता) ही जीवन है ।”

परिभाषा और व्याख्या—

विन्दु-साधना का एक अर्थ ब्रह्मचर्य है। इस विन्दु का अर्थ ‘वीर्य’ भी है। आनन्दमय कोश की साधना मे विन्दु का अर्थ होगा--परमाणु। सूक्ष्म-म-सूक्ष्म जो अणु है, वहाँ तक अपती गति हो जाने पर भी ब्रह्म की समीपता तक पहुँचा जा सकता है और सामीप्य-सुख का अनुभव किया जा सकता है।

किसी वस्तु को कूटकर यदि चूर्ण बनालें और चूर्ण को खुर्दबीन से देखें, तो छोटे-छोटे टुकड़ों का एक ढेर दिखाई पड़ेगा। यह टुकड़े कई और टुकड़ों से मिलकर बने हैं। इन्हे भी वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता से कूटा जाये, तो श्रृंत में जो न ढूटने वाले, न कूटने वाले टुकड़े रह जायेंगे, इन्हे परमाणुओं कहेंगे। हन परमाणु को लगभग सौ जातियाँ शब तक पहचानी जा चुकी हैं, जिन्हे अणुतत्व कहा जाता है।

अणुओं के दो भाग हैं—एक सजीव, दूसरा निर्जीव। दोनों ही एक पिण्ड या ग्रह के रूप में पूर्ण मालूम पड़ते हैं। पर वस्तुत उनके भीतर और भी टुकड़े हैं। प्रत्येक अणु अपनी धूरी पर बड़े वेग से परिभ्रमण करता है। पृथ्वी मी सूर्य की परिक्रमा के लिए प्रति सौकिंड १८॥ मील की चाल से चलती है, पर १०० परमाणुओं की गति चार हजार मील प्रति सौकिंड मानी जाती है।

यह परमाणु मी अनेक विद्युत कणों से मिलकर बने हैं, जिनकी दो जातियाँ हैं—१ ऋण-कण और २ घन-कण। घन-कणों के चारों ओर ऋण-कण प्रति सौकिंड एक लाख अस्सी हजार मील की गति से परिभ्रमण करते हैं। उधर घन-कण, ऋण की परिक्रमा के केन्द्र होते भी शान नहीं बैठते। जैसे पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा लगाती है और सूर्य अपने सौर-मङ्गल को ले हर कृतिका नक्षत्र की परिक्रमा करता है, वैसे ही घन कण भी परमाणु को 'प्रत्तरणति' का कारण होते हैं। ऋण-कण, जो कि द्रुतगति से निरन्तर परिभ्रमण में सलग्न हैं, अपनी शक्ति-सूर्य से अथवा विश्व-व्यापी अग्नि-तत्व से प्राप्त करते हैं।

वैज्ञानिकों का कथन है कि यदि एक परमाणु के भव्यतर का शक्ति-पुञ्ज छूट पड़े तो भर में लन्दन जैसे तीन नगरों को भस्म कर सकता है, इउ परमाणु के विस्फोट की विद्या मालूम करके ही एटम वस्तु का आविष्कार हुआ है। एक परमाणु के फोड़ देने से जो भयच्छुर विस्फोट होता है, उसका परिचय गन महायुद्ध में मिल चुका

है, इसकी और भी भयकरता का पूर्ण प्रकाश होना अभी वाकी है, जिसके लिए वैज्ञानिक लगे हुए हैं।

यह तो परमाणु-शक्ति की बात रही, अभी उनके शङ्ख—ऋण-कण और घन-कणों के भी सूक्ष्म भागों का पता चला है। वे भी अपने से अनेक गुने सूक्ष्म परमाणुओं में बने हुए हैं जो ऋण-कणों के भीतर एक लाख छियामी हजार तीन सौ तीस मील प्रति मीट्रेंड की गति से परिभ्रमण करते हैं। अभी उनके भी अतर्गत कर्पाणुओं की खोज हो रही है और विश्वास किया जाना है कि उन कर्पाणुओं की अपेक्षा ऋण-कण तथा घन-कणों की गति तथा शक्ति अनेकों गुनी है। उसी अनुपात से इन सूक्ष्म, मूल्यपत्र और सूक्ष्मतम अणुओं की गति तथा शक्ति होगी।

जब परमाणुओं के विस्कोट की शक्ति लन्दन जैसे तीन शहरों को जना देने की है, तो मर्गाणु की शक्ति एवं गति की कल्पना करना भी हमारे लिए कठिन होगा। उसके अन्तिम सूक्ष्म-केन्द्र को अप्रतिम, अप्रमेय, अचिन्त्य ही कह सकते हैं।

देखने में पृथ्वी चपटी मालूम पड़ती है पर वस्तुन वह लट्टू की तरह अपनी चुंगी पर धूपती रहती है। चौबीस घण्टे में उसका एक चक्कर पूरा हो जाना है। पृथ्वी की दूसरी चाल भी है, वह सूर्य की परिक्रमा करती है। इस चक्कर में उसे एक वष लग जाता है। तीसरी चाल पृथ्वी की यह है कि मध्ये अपने ग्रह-उपग्रहों को साथ लेकर बड़े वेग से अभिजिन नक्षत्र की ओर जा रही है। ग्रनुमान है कि वह कृतिका नक्षत्र की परिक्रमा करता है, इसमें पृथ्वी भी उसके साथ है। लट्टू जब अपनी चीन पर धूपना है, तो वह इवर-उवर झुकता-उठता भी रहता है, इसे मैडनाने की चाल कहते हैं। जिसका एक चक्कर करीब २६ हजार वर्ष में पूरा होना है। कृतिका नक्षत्र भी सौर मडल आदि में अपने उपग्रहों को लेकर ध्रुव की परिक्रमा करता है, उस दशा में पृथ्वी की गति पाँचवी हो जाती है।

सूक्ष्म परमाणु के सूक्ष्मतम भाग तक मानव-बुद्धि की पहुंच ह्रृद्दि है और बड़े मे-बड़े महापरमाणुओं के रूप में पाँच गति तो पृथ्वी की विदित ह्रृद्दि । आकाश के अस्त्रय ग्रह नक्षत्रों का पारस्परिक सम्बन्ध न जाने कितने बड़े महा-अणु के रूप में पूरा होता होगा, उस महानता की कल्पना भी मस्तिष्क को थका देती है । इसे भी अप्रतिम, अप्रमेय और अचिन्त्य ही कहा जायेगा ।

सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महत्-मे-महत् केन्द्रों पर जाकर बुद्धि थक जाती है और उससे छोटे या बड़े की कल्पना नहीं हो सकती, उस केन्द्र को विन्दु कहते हैं ।

अणु को योग की भाषा में 'अण्ड' भी कहते हैं । वीर्य का एक कण 'अण्ड' है । वह इनना छोटा होता है कि खुर्दबीन से भी मुश्किल से ही दिखाई देता है, पर जब वह विरुद्धित होकर म्यून रूप में आता है, तो वही बड़ा अण्डा हो जाता है । उस अण्डे के भीतर जो पक्षी रहता है, उसके अनेक अ-प्रत्यग होते हैं, उन विभागों में अमरुप सूक्ष्म विभाग और उनमें भी अगणित कोपाड रहते हैं । इस प्रकार शरीर भ एक अणु है, इसी को अ-ड या पिंड कहते हैं । अखिल विश्व ब्रह्माड में अगणित सौर-मडल, आकाश-गगा और ध्रुव-चक्र हैं ।

इन होंकों की दूरी और विस्तार का कुछ ठिकाना नहीं । पृथ्वी बहुत बड़ा पिंड है, पर सूर्य तो पृथ्वी से भी तेरह लाख गुना बड़ा है । सूर्य से भी करोड़ों गुने ग्रह आकाश में मोजूद हैं । इनकी दूरी का अनुमान इसमें लगाया जाता है कि प्रकाश की गति प्रति सेकंड एक लाख मील है और उन ग्रहों का प्रकाश पृथ्वी तक आने में तीस लाख वर्ष लगते हैं । यदि कोई ग्रह आज नष्ट हो जाय, उसका अस्तित्व न रहने पर भी उसकी प्रकाश-किरणें आगामी तीस लाख वर्ष तक यहाँ आती रहेंगी । जिन नक्षत्रों का प्रकाश पृथ्वी पर आता है, उनके अतिरिक्त ऐसे ग्रह बहुत अधिक हैं, जो अत्यधिक दूरी के कारण पृथ्वी पर

दूरवीनो से भी दिखाड़ि नहीं देते वन्ते वटे और दूरस्थ ग्रह जब अपनी परिक्रमा करते होंगे, अपने ग्रह-मडल को साय लेकर परिच्छमग्रह को निकलने होंगे, तो वे अपने अधिक विस्तृत धून्य से प्रम जान होंगे, उस धून्य के विस्तार की कल्पना कर लेना मानव-मस्तिष्क के लिए बहुत कठिन है।

इतना बड़ा ब्रह्माड़ भी एक अगुया श्रणड है। इसलिए उन्हें ब्रह्म + श्रणड = ब्रह्माड़ कहते हैं। पुण्यगो में बग्गन है कि जो ब्रह्माड़ हमारी नानकारी में है, उसके अनिविक्त भी ऐसे ही और अगणित ब्रह्माड़ हैं और उन मध्य का एक महान् अड़ है। उस महा-अड़ की तुलना में पृथ्वी उससे छोटी बैठती है, जितना कि परमाणु की तुलना में वर्गाण्य छोटा होता है।

इन लघु-से-लघु और महान्-से-महान् अड़ में जो शक्ति व्याप्त है, इन मध्यको गतिशील, विकसित, परिवर्तित और चेतन्य रूपनी है उस मत्ता को 'विन्दु' कहा गया है। यह विन्दु ही परमात्मा है, उसी को छोटे से-छोटा और बड़े-से-बड़ा कहा जाना है। "अणोरण्यान् महरो-महीयान्" कहकर उपनिषदों ने उस परब्रह्म का परिचय दिया है।

जर्मन दार्शनिक इमेंगुएन बाट ने इन दोनों शक्तियों के ममदन्व में अपनी एक पुस्तक के उपमहार में लिखा है—

"समार में मुझे केवल दो बातों से मय लगता है—पहिली बात यह है कि जब मैं रात को मिरार्ने से मरे आकाश की ओर देखता हूँ तो मेरे मन में विनार आना है कि यह सृष्टि कितनी विशाल है। जिस तरह से पृथ्वी को भी वैज्ञानिक एक मिनान मानते हैं, केवल इसी को विशालता का अनुमान लगायें, तो मस्तिष्क चकराने लगता है। इसने सूर्य पौत्र लात गुना बड़ा है। सूर्य से बड़ा एक ज्येष्ठा तारा है, वह उससे कई लात गुना बड़ा है। पृथ्वी सूर्य के आस-दास चकरर काट रही है। इसका नियन्त्रण कैसे होता है और कौन करता है? इन जात्यों

करोड़ों तारों को देखकर तो मुझे भय लगता है। विचार आता है कि उनका सचालक कितना शक्तिशाली है, कितना महान् है? उसके सामने मेरी शक्ति किननी सीमित है, नगरेय है। जब सृष्टि के सचालक की असीम शक्ति और अपनी सीमित शक्ति में बहुन अन्तर पाता हूँ तो मुझे भय लगता है, मेरा मन काँप उठता है।

दूसरे प्रकार के भय का कारण यह है कि मैं जब कोई बुरा काम करने लगता हूँ, तो मेरे अन्तर में एक शक्तिशाली आवाज आती है कि यह अनुचित कार्य है, इसे मन करो। उस व्वनि में एक प्रकार का अनुशासन होता है, आज्ञा होती है। ऐसा लगता है कि वह मुझसे बड़ा है, जो अविकारपूर्व आदेश देता है। तब मैं सोचता हूँ कि जिस प्रकार का आदेश मेरे प्रन्तर में आता है, उस प्रकार का जीवन मैं नहीं बना पाता। जब उस आदेश और अनने जीवन की यथार्थता की बात मेरे मन में आती है, तो मुझे भय लगता है क्योंकि उन दोनों में बहुन अन्तर है।'

आगे काट साहब लिखते हैं—“आकाशस्थ तारों का सचालन करने वाली महान् शक्ति और मेरे प्रन्दर छिरी शक्ति मुझे एक ही जान पड़ती है।”

तात्रिक शास्त्रियों से विभिन्न प्रकार से विन्दु की परिभाषा की है। कहा है कि “यह विन्दु शक्ति को वह अव्यावशेष है, जहाँ से उसकी सृष्टि-क्रिया प्रारम्भ होती है। विन्दु नवों को ईश्वर तत्व के नाम से भी पुकारते हैं। इस श्रवस्था में शक्ति चिद्रूपिणी होकर अव्यवन इदम् को तादात्म्य-भाय में लाकर उसके साथ चिद्विन्दु का रूप धारण करती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इस श्रवस्था में (अहम्) अपनी चेनना में अविन (इदम्) को देखता है।”

पाचरात्र और भागवन सम्प्रदाय में वैष्णव आगम के अन्तर्गत जो ‘विशुद्ध तत्व’ कहा जाता है, उसी को विन्दु कहते हैं।

शिव की समवायिनी शक्ति दो तरह की है—एक ज्ञान शक्ति और दूसरी क्रिया-शक्ति। क्रिया-शक्ति को ही 'विन्दु' नाम से अभिहिन किया गया है।

महामहोगाध्याय प० गोपीनाथ कविराज ने अपनी पुस्तक 'भारतीय सम्झौते और सावना' में लिखा है—

"तत्त्वानीन अवस्था में शिव और शक्ति का सामर्जस्य रहता है। उम समय शिव-शक्ति के गर्भ में अन्त महान भाव में अर्थात् शक्ति के साथ अभिन्न रूप से, विद्यमान रहता है। परन्तु, जब पराशक्ति स्वेच्छा से अपने स्फुरण को स्वयं ही देखती है, तभी विश्व की सृष्टि होती है, वस्तुन्, इस स्फुरण का दर्शन ही विश्व-दर्शन है और विश्व-दर्शन ही सृष्टि है। इस अवस्था में हृषि ही सृष्टे है। अनुत्तर दशा में स्वरूप में अभिन्नतया रहने पर भी विश्व देखा नहीं जाना। इसी से वह अवस्था सृष्टि-व्यापार नहीं है। इस हृषि या सृष्टि-व्यापार में शिव तटस्थ रहते हैं। उनकी स्वरूपभूता स्वनान्तङ्ग-शक्ति ही सब कुछ करती है। शिव अभिन्नस्वरूप हैं, सर्वतानि अथवा प्रलयातल स्वरूप। शक्ति सोमस्वरूपा। दोनों का साम्य ही तात्रिक भावा में विन्दु नाम से कहा जाता है।"

श्री वीरमणिप्रसाद उपाध्याय (एम० ए०, डी० लिट०) के अनुसार—

"परशिव-स्वरूप प्रकाश जब प्रपञ्च के अनुसवान अथवा उन्मीलन की इच्छा से अपने में ही विश्रान्, परा, प्रकृति, माया, अविद्या, आदि पदों से व्यवहितमाण, जगद्वैजभूत विमर्श को परमार्थत्, अपने में ही कायम रखते हुए भी वाह्य सा विसर्जन करता है, तब विमर्श 'विमृज्यते इति विसर्ग' इस व्युत्तरति के अनुसार 'विसर्ग' कहलाता है। पुन वही शिवरूप प्रकाश जब प्रपञ्च के सहार अर्थात् निगिरण की इच्छा से प्रकृति को अपने में निमीनिन करने लगता है, तब प्रकाश 'विन्द्यनेऽविच्छयत्' इस व्युत्तरति के अनुसार विन्दु कहलाता है।

डा० शिवशङ्कर अवस्थी ने 'मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य' पुस्तक में इसका विभिन्न प्रकार से स्पष्टीकरण किया है।

समस्त सृष्टि-चक्र का मूल बिन्दु के नाम से अविहित किया गया है। यह आख्या वस्तुत आकारहीन ब्रह्म के सृष्टिरूप मन्त्र की रचना के अनुरूप ही है। अपार ससार के विविध भावों स्थूल आकार-प्रकारों को अपने में सूक्ष्म रूप से सनेटे हुए अवाज्ञमनसगोचर पर-तत्त्व सर्वप्रथम बिन्दु के रूप में आकलित होता है। शब्दातीत परतत्व की ही सज्जा महाबिंदु है, जिसे अनिर्देश्य, अग्राह्य, अशन आदि निषेधों द्वारा कहा जाता है।

जगत् रूप श्रकुर का कन्द होने के कारण उसे ही कारण-बिन्दु कहते हैं। प्रपञ्चसार तत्र में कहा गया है—

विचिकीषुर्धनीभूता सा चिन्मयेति बिन्दुताम् ।

— (प्र० सा० प्रथम पटल)

अर्थात् 'विशेष रूप से करने की इच्छा वाला पुरुष का वह धनी भूत वह ज्ञान बिन्दु के स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।'

कर्माभिन्न रूप ही बिन्दु है। प्रकृति का ही, प्रलयावस्था से जो परिपक्व दशा के अनन्तर सृष्टयुन्मुख कर्मों से अभिन्न, स्व आकार से निरूपित रूप है, वही बिन्दु है।

कार्य, बिन्दु, नाद और बीज का—पश्यन्ती, मध्यपा और वैखरी के रूप में वर्णन किया गया है। चित्प्रधान काल-लक्षण ईश्वर ही कार्य-बिन्दु है। आचार्य पद्मपाद ने लिखा है—“यह बिन्दु परम पुरुष रूप है।”

झाद, तीक्षणता और दाहकता से अविच्छिन्न, प्रमाण, प्रमेय और परिमित प्रभात रूप सोम, सूय और ग्रन्ति भी आश्रयभूत क्रिया-शक्ति के भिन्न-भिन्न रूपों में प्रस्फुरित होने पर भी उपाधिघून्ध, पूण, पर-प्रकाश, विदिक्रिया में स्वतन्त्र, पर-प्रमातृ रूप परमेश्वर शिव ही बिन्दु के नाम से कहे जाते हैं।

'तत्त्व रक्षा-विधान' नामक ग्रन्थ में स्वयं परमेश्वर ने दृढ़य,

भ्रूमध्य, द्वादशान्त—स्थानों में विद्यानि-भेद से नर, अक्षित, शिवात्मक, हृच्छाद्वात्मक तथा विवन्त्व, विद्यानत्व और आत्मनत्व के रूप में वेद-यिता परप्रकाश रूप विन्दु ही विड्व के ग्रवमानन की इच्छा में प्रस्फुर्गित होता है, ऐसा कहा है।

विन्दु का स्थान आज्ञाचक्र के बाद बनलाया जाता है। योग की मापा में इसे तृनीय नेत्र और ज्ञान-चक्र भी कहते हैं।

ध्यानविन्दुपनिषद् (३७) में विन्दु-माव्रक को वेदज्ञ माना गया है—

तैलधारामिवाच्छन्त दीघघण्टानिनादवत् ।

अवाच्य प्रगणवस्याग्र यस्त वेद स वेदवित् ।

अर्थात् “तेल की धारा के समान अविच्छन्त और दीर्घ घण्टा-निनाद के सहशय विन्दु, नाद, कला से अतीत को जो जानता है, वह वेदज्ञ है।”

एक तत्राचार्य ने ईश्वर-माक्षात्कार के लिए विन्दु-सावना को आवश्यक बनाया है—“विन्दु की बात पहले ही कही गई है। इस भूमि में ज्योतिमय ज्ञानरूप से ईश्वरबोध की मूर्चना होसी है। यहाँ प्रवेश हुए त्रिना जागतिक ज्ञान विलुप्त नहीं हो सकता। ममाविज्ञित प्रजा से यह ऊपरी अवस्था है, ममाविज्ञित ज्ञान उत्कृष्ट होने पर भी जागतिक ज्ञान ही है। किन्तु अद्वमात्रा का ज्ञान चिन्मय अनुभव है, इसलिए यह श्रेष्ठ है। लोकिक ज्ञान त्रिपुटीका लोप नहीं होता, विराट् अभेद ज्ञान का उदय से भी भेदज्ञान की निवृत्ति क्रमशः होती है। वह भेदज्ञान क्रमशः स्तर-भेद करते-करते कटना है। तब पहले के देश-काल का ज्ञान रहता है सही, पर वह रनिक दूसरे प्रकार का होना है। योगियों को जिन पञ्च-शून्यों का परिचय मिलता है, उसमें विन्दु ही प्रथम शून्य है। विन्दु के स्तर में वीज नहीं रहता अर्यात् प्रकृति का स्फुरण नहीं रहता इसलिए उनको पुरुष का अभिन्स स्वरूप भी कहा जा सकता है।”

वैज्ञानिक स्पष्टीकरण—

विन्दु का वैज्ञानिक स्पष्टीकरण करते हुए श्री सत्यव्रत शर्मा ने लिखा है—

“शाकत मत के अनुसार विश्व-प्रपञ्च का पथवासीन एक ‘विन्दु’ में होता है। इस विन्दु को हम ‘आधामरहित गणितीय विन्दु’ कह सकते हैं। इस विन्दु को एक गणितीय रेखा लपेटे हुए है, जो इसके प्रत्येक पृष्ठभाग को स्पर्श भी करती है अर्थात् यह दोनों मिलकर एक ‘विन्दुमय’ हो जाते हैं। ब्रह्माड-मकोच का इस प्रक्रिया पर विचार प्रकट करते हुए अन्तर्धीय ऋण्टिप्राप्त खगोल-शास्त्री अर्नेंट जे० विदिक ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है—

‘सश्पूण ब्रह्माड (सारा गैलेक्सी समुदाय अपने जीवित या मृत सूर्यों और ग्रहों के साथ) अपने को एक सूक्ष्म आकाश या विन्दु में लय कर देगा।’

रेखा शक्ति वी वृत्तीय प्रकृति है, इसलिए वस्तुओं में गोलाई और वक्रना (Curvature) है। ‘सापेक्षतावाद’ के अनुसार, चूँकि सरल रेखा में गति सम्भव ही नहीं है, इसलिए प्रत्येक ग्रह-उपग्रह वक्र पथों पर गतिशील हैं। और इस प्रवार विदिक ब्रह्माडो (Spheroids) का निर्माण करते हैं।

अबिन अपने दो रूपों—स्थैतिक अर्थात् कु डलिनी और गतात्मक अर्थात् प्राण में प्रकट होती है। यह एक सामन्य वात है कि प्रत्येक मन्त्रार की एक स्थैतिक पृष्ठभूमि होती ही है। शरीर में यह मिथित वेन्द्र मूलाशार में मिथित कु डलिनी जक्कि है। यह जक्कि ही मम्पुर्ण शरीर और इसमें प्रवाहित सभी प्राण शक्तियों का आधार है। यह जक्कि-वेन्द्र चित् का श्वूल रूप है।

‘इनेक्ट्रन थियरी’ के अनुसार ‘अणु’ सौर मण्डन से मिलाता-जुनता एक मृद्दन ब्रह्माड है। अणु-केन्द्र में धनात्मक श्रावेश वाले

‘प्रोटोन’ का निवान है। इसके चारों ओर ऋणात्मक आवेश के तमाम इलेक्ट्रोन विभिन्न वक्षाओं में गतिशील हैं। दोनों आवेश मिलकर अग्नु को सन्तुलित रखते हैं, जिसमें यह माधारणा रूप में भग्न न हो जाय—‘पिडे पिटे ब्रह्माडे ब्रह्माडे’ के अनुमार अग्नु में घटने वाली यही घटना समग्र विश्व में हो रही है। विश्व में सारे ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं और सूर्यचक्र मार्ग ग्रह-मड़न भी किसी अन्य मापेक्ष स्थिर केन्द्र के चारों ओर घूमता है और इस प्रकार हम ‘ब्रह्म-विद्’ तक पहुँच जाते हैं, जिस निष्पेक्ष विषय दिन्दृ के चारों ओर सारे मटल घूमते हैं और यही विन्दु भवनियता है।

साधना—

इस विद्या का चिन्तन करने में आनन्दमय कोश स्थित जीव को उप प्रब्रह्म के रूप की कृद्य भाँवी होती है और उसे प्रतीत होता है कि परब्रह्म की—महा शब्द की तुलना में मेंग अस्तित्व, मेंग पिड़ किनना तुच्छ है। इस तुच्छता का मान होने से अव्याहार और विगलित हो जाते हैं। इसी ओर जब अपने पिड़ की—शरीर की—तुलना करते हैं, तो प्रतीत होता है कि अदृष्ट शब्द के अक्षय मड़ार सर्गाणु की इतनी अदृष्ट मरणा और शक्ति जब हमारे भीतर है, तो हमें अपने को अशक्त सम्मन का कारण नहीं है। उष्म शक्ति का उपयोग जान लिया जाय, तो ससार में होते वाली कोई भी वात हमारे लिए अमम्भव नहीं रह सकती।

जैसे महा-शब्द की तुलना में हमारा शरीर अत्यन्त ध्वनि है और हमारी तुलना में उभका विष्वार अनुपमेय है। इसी प्रकार सर्गाणुओं की हृषि में हमारा पिड़ (शरीर) एक महाब्रह्माड जैसा विशाल होगा। इसमें जो स्थिति समझ में आती है वह प्रकृति शब्द से भिन्न एक दिव्य शक्ति के रूप में विदित होती है। लगता है कि मैं मध्य-विन्दु हूँ, केन्द्र हूँ, सूक्ष्म में सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल में मेरी व्यापकता है।

“घुता-महता का एकान चिन्तन ही विन्दु-नावन कहलाता है।

इस साधना के साधक को सासारिक जीवन की अवास्तविकता और तुच्छना का भी प्रकार बोत्र हो जाता है कि मैं अनन्त शक्ति का उदागम होने के कारण इस सृष्टि का महत्वपूर्ण केन्द्र हूँ। जैसे जापान पर फटा हुया परमाणु बम ही 'ऐनिझाविन् एडम बम' के रूप में चिरस्मरणीय रहेगा वैसे ही जब अपने शक्ति पुञ्ज का सदर्योग किया जाता है, तो उसके द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से समार का भारी परिवर्तन करना सम्भव हो जाता है।

विश्वामित्र ने राजा हरिश्चन्द्र के पिंड को एटम बम बनाकर 'असत्य' के साम्राज्य पर इस प्रकार विस्फोट किया था कि लाखो वर्ष बीत जाने पर भी उसकी एकिटव किरणें अभी समाप्त नहीं हुई हैं और अपने प्रभाव से अनेकों को वरावर प्रभावित करनी चली आ रही हैं। महात्मा गांधी ने बचपन में राजा हरिश्चन्द्र का चरित्र पढ़ा था, उनने अपने आत्म-चरित्र में लिखा है कि मैं उसे पढ़कर इनना प्रभावित हुआ कि स्वयं भी हरिश्चन्द्र बनने की ठान, ठान ली। अपने सकल्प-बल द्वारा वे सचमुच हरिश्चन्द्र बन भी गये। राजा हरिश्चन्द्र आज नहीं हैं, पर उनकी आत्मा आज भी उसी प्रकार अपना महान् कार्य कर रही है, न जाने किनने अप्रकृट गांधी उसके द्वारा निर्मित होने रहते होगे। गोताकार आज नहीं है, पर आज उनकी गी॥ निन्होंको अमृत पिला रही है। यह पिंड का सूक्ष्म प्रभाव ही है, जो ब्रकट या अप्रकृट रूप से स्वपर कल्पाण का महान् आयोजन प्रस्तुत करता है।

कालमार्क्स के सूक्ष्म शक्ति-केन्द्र में प्रस्फुटिन हुई चेतना आज आधी दुनिया को कम्युनिट बना चुकी है। पूर्वकाल में श्रीकृष्ण, महात्मा ईमा, मुहम्मद, बुद्ध आदि ऐसे अनेक महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने समार पर वडे महत्वपूर्ण प्रभाव डाले हैं। इन प्रकट महमुष्यों के अनिरिक्त ऐसी अनेक अप्रकृट आत्मायें भी हैं, जिन्होंने समार की सेवा में, जीवों के कल्पाण में गुप्त रूप में बड़ा भागी काम किया है। हमारे देश में

योगी अरविन्द, महर्षि रमण, रामकृष्ण परमहेम, मर्मर्य गुरु रामदास आदि द्वारा जो कार्य हुआ तथा आज भी अनेक महापुरुष जो कार्य कर रहे हैं, उसको स्थूल हृषि से नहीं समझा जा सकता है। युग-परिवर्तननिकट है, उसके लिए रचनात्मक और ध्वमात्मक प्रवृत्तियों का सूक्ष्म जगत्‌में जो महान् आयोजन हो रहा है, उस महाकार्य को हमारे चर्म=क्षु देखपावें तो जानें कि कैमा अनुपम एव अभूतपूर्व परिवर्तन-चक्र प्रस्तुत हो रहा है और वह चक्र निकट भविष्य में ही कैसे-कैसे विलक्षण परिवर्तन करके मानव-जानि को एक नये प्रकाश की ओर ले जा रहा है।

विषयात्मक चर्चा करना हमारा प्रयोजन नहीं है। यहाँ तो हमें यह बताना है कि लघुना और महत्ता के चिन्हन की विदु-साधना में आत्मा का भौतिक अभिमान और लोभ विगलित होता है। माथ ही उस आत्मिक शक्ति का विस्तार होता है, जो स्वपर कल्याण के लिए आयन ही महत्वपूर्ण है।

विन्दु-साधक की आत्म-स्थिति उज्ज्वल होती जाती है, उसके विकार मिट जाते हैं। फलम्बन्ध उसे उस अनिवचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है, जिसे प्राप्त करना जीवन-धारण का प्रमुख दद्देश्य है।

एक तन्त्र-शास्त्री ने विन्दु साधना का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—“इसी विन्दु से ज्ञान-भूमि की सूचना मिलती है। चित्त को एकाग्र करके उपमहत किये विना अर्थात् विक्षिप्त अवस्था में, विन्दु में स्थित नहीं हो सकती। विन्दु-अवस्था में स्थित होने पर भी यथार्थ लक्ष्य की प्राप्ति में अनेकों व्यवधान रह जाते हैं। यद्यपि विन्दु भूमि में सावक अहभाव में प्रतिष्ठित होकर आपेक्षिक दृष्टा वनकर निम्नवर्ती समस्त प्रपञ्च को निरपेक्ष भाव से देखने में समर्थ होता है, तथापि जब तक वह विन्दु पूर्णत तिरोहित नहीं हो जाता अर्थात् पूर्णत अहभाव का विमर्जन अथवा आत्म-समर्पण नहीं होता, तब तक महाविन्दु अथवा शिव-भाव की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इसीलिए विन्दु-भाव को

पाप होकर साधक को क्रमशः कनाकथ उत्तरते करते पूर्णतया विगतकन घटस्या म उपनीत होना पड़ता है।”

विन्दु-मारु के निए प्रह्लाद का नाश आपश्वक है। बड़े-बड़े उपनीत साधक भी इस महारोग में फँसे देखे गये हैं। शृणि मुनि भी इसमें नहीं बच सके हैं, परन्तु विन्दु साधक का तो लक्ष्य ही यही है। इसमें इस साधना की महत्ता की कल्पना सदृज में ही की जा सकती है।

हमारे शास्त्रों ने भी आत्म-विनाम के जिजामु को इसमें बचने का आग्रह दिया है।

गीता १८।१६ “जो सद्गुरु बुद्धि न होने के कारण यह न समझे कि मैं ही अकेगा कर्ता हूँ, समझना चाहिए कि वह दुर्मति कुछ नहीं जानता।” १८।५८ “मुझने नित रवो न तू मेरे मनुष्यद्वारा संसारों को मर्थात् कर्म के शुगाशुभ फनों को पार कर जावेगा। परन्तु यदि प्रह्लाद के वश हो मेरी न सुरोगा, तो नाश पावेगा।” ईशावास्योपनिषद् (६) “जो मनुष्य अविद्या की उत्तरासना करते हैं, वे अज्ञान-घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो मनुष्य विद्या में रन हैं मर्थात् मिथ्याभिमान में रत हैं, वे उपसे भी मानों अविद्यार अन्धकार में प्रवेश करते हैं।” महोपनिषद् में “प्रह्लाद के कारण विज्ञति प्राप्ति है, प्रह्लाद के कारण दुष्ट मनो-अवधियाँ उत्तर्वन होती हैं। प्रह्लाद के कारण कामनायें उत्तर्वन होती हैं। प्रह्लाद से बड़कर मनुष्य का कोई दूषरा शाशु नहीं है।”

अहकार हमारी आत्मिक शक्तियों पर जीव का-या काम करना है, यह ठीक है। इसमें बचना आवश्यक है, परन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं कि हम अपने आत्मगौरव को सबसा भूल जाये और अपने को पतित, पापी, नीच, दुष्ट, दुर्गमी, निर्वैल, निष्पद्वाय और असमर्थ समझने लगें। हमें शरीर-भाव से ऊंच उठकर आत्म-भाव में स्थित होना होगा। वेदों की मन्त्ररात्मा को प्रकट करने वाली उपनिषदों की

उस ललकार को मुनना होगा, जिसमें उन्होंने सोइहम्, तत्त्वमसि, अप्रमात्मा ब्रह्मा, सोहमस्मि का पिहनाइ किया है और कहा है कि मनुष्य तुच्छ कीड़ा नहीं, बरन् मचिच्चदानन्द परमात्मा का पवित्र अश है। उसे अपने निज स्वरूप की वास्तविकता का बोव होना चाहिए। ब्रह्मविन्दूरनिषद् में कहा है—“जो अकिञ्च यह भावना करता है कि ‘वह ब्रह्म में ही है’ वह उम भावना के द्वारा ब्रह्म ही हो जाता है।”

हमें यह जानना होगा कि मनुष्य वस्तुत तुच्छ, घूढ़, नाचीज, घूढ़, नश्वर, हाड़-माँप का पुनरा, वासनाप्रो का गुनाम नहीं है, वह निविल, ब्रह्माडब्बागी, मृष्टिकर्ता, मचिच्चदानन्द अनुनत्त्व की नेत्रस्वी वौद है। सप्राटो-के-सप्राट परमात्मा का वह सच्चा उत्तरग-विकारी राजकुमार है। इतनी बड़ी नृष्टि का मुकुटमणि बनाकर शामन करने योग्य शारीरिक और मानसिक विनश्चाण शक्तियों की नेता देकर, अनेकानेक साधन और सुविवायें देकर, सुप्रज्ञन युवराज की तर्ह प्रजा का पालन करनेके लिए नसार्गमे इश्वर्णे उन्मे भेजा है। वह अपने क्षेत्र का उत्तरदायी अफमर गवर्नर जनरल है—क्या यह कन गौरव की वात है ? वह चौरासी लाख योनियों में भ्रवण करने वाले कोटानिकोटि जीव्र जिम पद को प्राप्त करने में अनमर्य हैं, उन सृष्टि के नवोच्च अफमर का पद प्राप्त करना कोई मामूली वान है ? जिन मुँडों, सोमारयों, नुविवायों, मावनों, शक्तियों, योग्यतायों का स्वप्न भी अनन्य प्राणी न कर पाने होंगे, उनसे बव प्रकार सु-सम्बन्ध होना क्या कोई कम वान है ? निष्मन्देह आत्मा, परमात्मा के ही समान महान् है। उसमें अपने पिता की नमूण शक्तियाँ और सम्भावनायें छिरी हुई हैं। करोड़ों, कुंवरों के खजाने, ऋद्धि-सिद्धियों के अगणित भडार उमके रोम-गोम में छिपे पड़े हैं। मनुष्य पारस्पर पन्थर है, मनुष्य चिन्तामणि है, मनुष्य कल्प-वृज है, मनुष्य देवतायों का देवता है। विश्व की महाननम श्रेष्ठ वस्तु मनुष्य है। उससे कैची और कोई वस्तु इस लोक में नहीं है। नृष्टि

का जर्ज-जर्ज उमड़ी ममता के नामने मम्तक झुग्गिये खड़ा है, प्रकृति उसकी आरती उतार रही है, बहुण उमड़ा चौंवर डुला रहा है, हृदय उसके चरण धो रहा है। सूर्य और चन्द्र उमड़ी देहरा पर दीपक की तरह टिप्पटिमा रहे हैं। करोड़ों कठ से हमें कहने दीजिए कि मनुष्य का गोरव महान् है।

इस गोरव की जो वास्तविक अनुभूति कर लेता है वही मच्चा विंदु साधक है।

* * *

कला-साधना

कला का अर्थ है—किरण। प्रकाश यो तो अत्यन्त मूळम है, पर उस मूळमता का ऐसा समूह, जो हमें एक निश्चित प्रकार का अनुभव करवे, 'कला' कहलाता है। सूर्य से निकलकर अत्यन्त सूक्ष्म प्रकाश-तरगे भू-नन पर आनी हैं, उनका एक समूह ही इस योग्य बन पाना है कि नेत्रों से उमका अनुभव किया जा सके। सूर्य-किरणों के सात रग प्रसिद्ध हैं। परमाणुओं के अन्तर्गत जो 'प्रमाण' होते हैं, उनकी विद्युत-तरगे जब हमारे नेत्रों से टकरानी हैं, तभी किसी रग-रूप का ज्ञान हमें होता है। रूप को प्रकाशवान बनाकर प्रकट करने का काम कला द्वारा ही होता है।

कलायें दो प्रकार की होनी हैं—१ आस्ति, और २ व्याप्ति। आस्ति वे हैं जो प्रकृति के अगुणों में प्रस्फुटित होती हैं। व्याप्ति वे हैं जो पुरुषों के अन्तराल से आविर्भूत होनी है इन्हें 'तेजस' भी कहते हैं। वन्तु ये पञ्च तत्त्वों में बनी हुई होती हैं, इनलिए परमाणुओं में निकलन वाली किस्से अपने प्रधान तत्त्व की विशेषता भी साय लिए होनी ई। यह विशेषता रग द्वारा पहचानी जाती है। किसी वस्तु का प्राकृतिक रग देखकर बनाया जा सकता है कि इसमें कौन सा तत्त्व किस मात्रा में विद्यमान है।

व्याप्ति कला, किसी मनुष्य के तेजस में परिलक्षित होनी है। वह तेजस मुख के आस-पास प्रकाश-मड्डन की तरह विशेष रूप से केला होता है, यो तो मारे शगेर के आस-पास प्रकाश रहता है। इसे श्रेष्ठी

मेरे “ओरा” और स्त्रुति मेरे “तेजोवलय” कहते हैं। देवताओं के चित्रों मेरे उनके मुख के आस पास एक प्रकाश का गोला मा चित्रित होता है यह उनकी कला का ही चिह्न है। अवतारों के सम्बन्ध मेरे उनकी शक्ति का माप उनकी कथित कलाओं से किया जाता है। परशुरामजी मेरी तीन, रामचन्द्रजी मेरी दोहरा, कृष्ण मेरी सोनहरे कलाये बनाई गई हैं। इसका तात्पर्य है कि उनमेरे सावारण मात्रा मेरे इनतीन गुणी आत्मिक-शक्ति थीं।

सूक्ष्मदर्शी लोग किसी व्यक्ति या वस्तु की आत्मिक स्थिति का पता उसके तेजोवलय और रूप-रग, चमक तथा चैतायता को देखकर मालूम कर लेते हैं।

‘कला’ विद्या की जिसे जानकारी है, वह भूमि के अन्तर्गत छिपे हुए पदार्थों को, वस्तुओं के अन्तर्गत छिपे हुए उनके गुण, प्रभाव एवं महत्वों को आसानी से जान लेता है। किसी मनुष्य मेरे कितनी कलाये हैं, उसमेरे क्या-क्या शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक विशेषतायें हैं तथा किन किन गुण, दोष, योग्यताओं, सामर्थ्यों की उसमेरे कितनी न्यूनाधिकता है? यह सहज ही पता चल जाता है। इस जानकारी के होने से किसी व्यक्ति से समुचित सम्बन्ध रखना सरल हो जाता है।

वला-विज्ञान का ज्ञाता अपने शरीर की तात्त्विक न्यूनाधिकता का पता लगाकर इसे आत्म बल से ही सुधार सकता है और अपनी कलाओं से समुचित सशोदन, परिमार्जन एवं विवास वर सकता है। कला ही सामर्थ्य है। अपनी आत्मिक सामर्थ्यों का, आत्मिक उन्नति का माप कलाओं की परीक्षा करके प्रकट हो जाता है और साधक यह निश्चय वर सकता है कि उन्नति हो रही है अಥवा नहीं? उसे सन्तोष-जनक सफलता मिल रही है या नहीं?

सब ओर से चित्त हटाकर, नेत्र बदवा के भृकुटी के मध्य भाग मेरे ध्यान एकत्रित करने से मस्तिष्क मेरे तथा उसके आस-पास रङ्ग बिरङ्गी धजियाँ, चिन्द्रियाँ तथा तितलियाँ-सी उड़ती दिखाई पड़ती हैं।

दृष्टके रगों का आधार हमें पर निभा होता है । पूरी तरह ही रग पीला, जल वा श्वेत अरिग दा लाल, बायु का हरा, पाराज वा तीला होता है । जिस रङ्ग की किलविन होती है उसा से आराम पर यह जाना जा सकता है । इस गमय हपमे चिन रहने तो जगित्तन थार किनी न्यूनता है ।

प्रथेत रङ्ग में जगती-शपनी विजेपना होती है । ऐने रग में क्षमा, गम्भीरता, रक्तादत विरता, वैभव, मत्तूनी मज्जीदणी, मारी-पन । श्वेत रङ्ग में रमिक्ता, कोमलता, शीघ्र प्रभावित रग, त्रिति शीतलता, चु-दारा, वृद्धि, प्रेम । लाल रग म—गर्भी दामाता, द्राय ईर्ष्या, द्वेष, अनिष्ट, शूरता सामर्थ्य, रक्तेजना, रामुरता, तेज पभाव शीलता, चमा, न्यूर्णि । हरे रग में—चक्षुनता, कलरता, स्वरागीलता, हरनापन, जट्ठडता, दर्द, प्रपहरण, रुतंता, गन्धिलता फिलोद, इगनि शीलता, प्रणा-पोषण, परिवर्तन । तीने रग में विवारणीतता, वृद्धि सूक्ष्मता विद्धार, सात्त्विकता, प्रेरणा, व्यापकता, मशोषन, मबर्देन, गिचन, आकर्षण भ्रादि गुण होते हैं ।

जड या चेन तिक्की भी पदाथ के पठुट रग एव उसमे निवलने वाली सूक्ष्म प्रकाश ज्योति से यह ज ना जा सकता है कि इस वस्तु या प्राण का गुण, क्षम स्वभाव एव प्रभाव कैसा हो सकता है ? मादा रणन यह पाँच तत्त्वों की कला है, जिनके द्वारा यह काय हो सकते हैं—
(१) वाक्तियो तथा पदार्थों की शानदिक स्थिति को समझना, (२) शपने शारीरिक तथा मानसिक क्षेत्र मे असन्तुलित किसी गुण दोष को सतुलित करना, (३) दूसरो की शारीरिक तथा मानसिक विकृतियो का संशोधन करके सुव्यवस्था स्थापित करना, (४) तत्त्वो के मूल आधार पर पहुँचकर तत्त्वो की गतिविधि तथा क्रिया-पद्धति को जानना (५) तत्त्वो पर अधिकार करके सासारिक पदार्थों का निर्माण, पोषण तथा विनाश करना ।

यह उपरोक्त पाँच लाभ ऐसे है, जिनकी व्याख्या की जाये, तो वे Hinduism Discord Server <https://dsc.gg/dharma> | MADE

शृङ्खि सिद्धियों के समान गाइचयजनक प्रतीत होग । यह पाँच भौतिक कलाये हैं, जिनका उपयोग राजयोगी, हठयोगी, मन्त्रयोगी तथा नात्रिक अपने अपने ढग से करते हैं और इस तात्रिक शर्ति का अपने-अपने ढग से सदुपयोग दुरुपयोग करके भले-बूझे परिणाम उपस्थित करते हैं । कला द्वारा नास्तिक भोग-वैभव भी मिल सकता है । आत्म-कल्पणा भी हो सकता है और किसी को शोषित अभिचारित एवं दुखी, शोक-सतत भी बनाया जा सकता है । पञ्च-तत्त्वों को वलाये ऐसी ही प्रभावपूर्ण होती है ।

आत्मिक कलाएँ तीन होती हैं—सत, रज और तम । ततोगुणी कलाओं का मध्य केन्द्र शिव है । रावण, हिरण्यकश्यप, भस्मासुर, कुम्भकरण, मेघनाद आदि असुर इन्हीं तामसिक कलाओं के मिद्द पुरुष थे । रजोगुणी कलाएँ विष्णु से आती हैं । इन्द्र, कुवेर, वरुण, वृहस्पति, अजुन, भीम, युधिष्ठिर, वर्ण आदि में इन राजसिक कलाओं की विशेषता थी । सतोगुणी सिद्धियाँ ब्रह्मा से आविभूत होती हैं । व्यास, वशिष्ठ, अत्रि, बुद्ध, महावीर, ईसा, गांधी आदि ने सात्त्विकता के केन्द्र से ही शक्ति प्राप्त की थी ।

आत्मिक कलाओं की साधना गायत्री योग के अन्तर्गत ग्रथि भेद द्वारा होती है । रुद्र-ग्रथि और ब्रह्म ग्रन्थि खुलने से इन तीनों ही कलाओं का साक्षात्कार साधक को हाता है । पूर्वकाल में लोगों के शरीर में आकाश तत्व अधिक था, इसलिए उन्हें इन्हीं साधनाओं से अत्यधिक आश्चर्यमयी सामर्थ्य प्राप्त हो जाती थी । पर आज के युग में जन-समुदाय के शरीरों में पृथ्वी-तत्व प्रधान है । इसलिए अणिमा महिमा आदि तो नहीं, पर सत, रज-तम की अधिवत्ता से अब भी आश्चर्यजनक हित साधन हो सकता है ।

प्रकार—

कुलाग्न तथ मे विभिन्न प्रजाग दी कलाओं रे नाम और गुण
इम प्रजार दिए यह है—

अग्नि-सूर्य-नुक्रहे-न्द्रविष्णु-न्द्रमदागिवे ।
चनु-विश्वनिमन्त्रौ म्यान्मच्छचैव पगमृतम् ॥
अमृता मानदा पूषा तुष्टि पुष्टि रतिवृत्ति ।
जगिनी चन्द्रिका कान्तिजय त्स्ता श्री प्रोतिरङ्गदा ॥
पूर्णा पूर्णामृता चेति कथिता कुलनायिके ।
मौम्या कामप्रदायित्य पोडिग म्वरजा कला ॥
तपती नापिनी वृम्मा मरीचिजर्वलिनी रुचि ।
सुपुस्ता भोगदा विव्रा रोविनी धार्मिणी धमा ।
कभाद्या वमृदा मौग्नष्टान्ता द्वादशेरिता ॥
वूम्राच्चिरुज्मा ज्वलिनी ज्वालिनी विम्फुलिज्जिनी ।
सुश्री सुरुश कपिला हव्यकव्यवहे अपि ॥
आगनेया यादिवरण्डिया दग धर्मप्रदा कला ।
मृष्टि मेंवा मृतिर्कृद्धि कान्तिर्लङ्घमोद्युति स्थिरा ॥
स्थिति मिद्विरिति प्रोक्ता कचवर्गकला दश ।
अकारप्रभवा व्रह्मजाता म्यु मृष्टप्रे कला ॥
जरा च पानिनी जान्तिरीश्वरी रतिकामिके ।
वरदाह्लादिनीप्रीतिदीर्घा स्युष्टनवर्गजा ॥
उकारप्रभवा विष्णुजाता म्यु मिथ्यनये कला ।
तीर्थणा रोद्वी भया निद्रा तद्रा छुन कोविनी क्रिया ॥
उत्कारी मृत्युरित्युक्ता पथवर्गकला दग ।
मकारप्रभवा रुद्रजाता सहनये कला ॥
अर्थात् “अग्नि, सूर्य, इन्दु, व्रह्मा, इन्द्र, विष्णु रुद्र और सदा-
शिव के चौबीस मन्त्रों से मर्द्य परामृत हो जाता है। हे कुलनायिके ।

अमृता, मानदा, तूषा, तुष्टि, पुष्टि, रति, वृति, शशिनी, चन्द्रिणा, कान्ति, जयो-मूर्ता, श्री, प्रीति, अङ्गश, पूर्णी और पूर्णमूर्ता, ये परम भौम्य और कामनाओं को प्रद न करने वाली म्वरजा सोनह कलाये कही गई हैं। तपिनी, तापिनी, धूम्रा, मरीचि, ज्वालिनी, गाव, गुपुम्ता, गोगदा, विश्वा, रोधिनी, धारिणी, थमा ये कभादा मोराठडात वसु पदान करन वाली वारह कलाये बनाई गई हैं। धूम्रा, प्रचि, उषा, ज्वलिनी, ज्वालिनी पिष्टुलिनी, मृथी सुहृता, ऊरिरा और हव्य-क्वय-वहा ये आमेया या प्रणादा दश भग्न की प्रदान करन वाली कलायें कही गई हैं। मृष्टि, मेगा, स्मृति, ऋद्धि, कान्ति, लक्ष्मी, द्युति स्थिरा, स्थिति और सिद्धि ये कचनग की दस कलायें होती हैं। श्राकार मे प्रभव वाली तथा नक्ष मे जात ये मृष्टि के लिये कलायें होती हैं। जरा, पालिनी, शानि, ईश्वरी, रति, कामिका, वरदा, शाल्लादिनी, प्रीति, दीर्घा ये टत्वर्ग मे उत्तम्न होन वाली एव उकार प्रभव भगवान् विष्णु के द्वारा जान स्थिति के तिए दस कलाये होती हैं। तीक्ष्णा, रोद्रो, भया, निद्रा, तन्द्रा, क्षुन्, क्रोधिनी, क्रिया, उत्कारी, मृत्यु ये पर्यन्ग की दस कलायें मकार प्रभव और जात, सहार के लिये होती हैं।

पाँच कलाओं द्वारा तात्त्विक साधना—

पृथ्वी-तत्त्व—इम तत्त्व का स्थान मूनाधार चक्र प्रथम् गुदा से दो श्र गुन श्र ड कोश की और हटकर सीवन मे स्थित है। सुपुम्ता का आरम्भ इसी स्थान से होता है। प्रत्येक तत्त्व-चक्र का श्राकार कमल के पृष्ठ जैसा है। यह 'भूनोक का प्रतिनिधि है। पृथ्वी-तत्त्व का ध्यान इसी मूनाधार चक्र मे किया जाता है।

पृथ्वी-तत्त्व की आकृति चतुष्कोण, रङ्ग पीला, गुण गन्ध है। इसलिए इसको जानने की इन्द्रियां नासिका तथा कर्मेन्द्रिय गुदा हैं। शरीर मे पीलिया कमलवाय प्रादि रोग इसी तत्त्व की विकृति मे पैदा होते हैं। भय आदि मानसिक विकारो मे इसकी प्रशंसनता होती है।

इस नन्द के विज्ञा-मूलधारा-चक्र में न्याय विज्ञान से ग्रन्थे प्राप्त गान्धीजी जाने हैं।

साधन-विधि—सबै जब एक पढ़ा अँडगा रहे, तब उसी शब्द का यो-दर्शन प्राप्ति पर दातों पैदा हो जाते हैं और नोटर-उन दो देखते हैं। दोनों दृष्टि उन्हें के लुप्ति पर इस प्रकार होते हैं कि यह की ओर आहे। जिन नामिन के प्रयोग भाग पर हृषि-नन्द हुए मूलधारा-चक्र में 'न' वीत वाली चौकोर पीढ़े-पर जी यूर्ध्वी का न्याय है। इस प्रकार कान में नामिका मूलधारा के भागों और यही इत्यत्र जाति वाले हो जायाहे। यह नन्द के समय ऊर्ध्वी हुए हुए यूर्ध्वी नन्द के समय गुणों को अन्ती उन्हें ध्यान में लगा प्राप्त करना, तद्विषय यो-‘न’ इस दोज मन्त्र का मन-ही-मन (मन्त्र नन्द के नहीं, वास्तु न्याय नहीं, तब नन्द के जाना चाहिए)।

जन्म-नन्द—ऐहु के नीचे जननन्दिन के ऊर्ध्व मूल भाग में व्याविष्ठान चक्र में जन-नन्द का न्याय है। यह नन्द मुख लोक का प्रतिनिधि है। इह इतेन, अक्रेन अद्व चाक्राकार और गुण रसो का न्याय है। कटु ग्रन्थ, निक्त आदि रसो का न्याय इसी नन्द के जागे शाना है। उक्ती जननन्दिन निवारी-कर्मन्दिव निग है। मोहादि विज्ञान इसी नन्द की विकृति में होते हैं।

साधन-विधि—यूर्ध्वी नन्द का ध्यान नन्द के लिये बनाई हुई द्वितीय विधि में ग्रामन पर वैठक-‘व’ वीत वाले अद्व चाक्राकार चक्रमा की नन्द है जाति वाले जन-नन्द का व्याविष्ठान चक्र में ध्यान करना चाहिए। इसमें मूल-प्यास मिटानी है और महत-ग्रन्थ उत्पन्न होती है।

अरित-तत्त्व—जानि न्याय में न्यिन भणिपूर्क चक्र में अग्नि-तत्त्व जा निवास है। यह शब्द 'लोक' प्रतिनिधि है। इस तत्त्व की आकृति त्रिकोण लाल, गुण सुर है। जानेन्द्रिय तेज और दमेन्द्रिय पांव है। क्रोध-दि मानसिक विज्ञार तथा मूलन आदि यारीरक विज्ञार इस तत्त्व

की गडबडी से होते हैं। इसके सिद्ध हो जाने पर मन्दाभिन, अजीर्ण आदि पेट के विकार दूर हो जाते हैं और कुड़निनी शक्ति के जाग्रत होने में सहायता मिलती है।

साधन-विधि — नियत समय पर बैठकर 'र' बीज मन्त्र वाले विकोण आकृति के श्रीर अणि के ममान लाल प्रभावाने अग्नि-तत्त्व का मणिपूरक चक्र में ध्यान करे। इस तत्त्व के पिछ हो जाने पर सहन करने की शक्ति बढ़ जाती है।

वायु-तत्त्व — यह तत्त्व हृदय-देश से स्थित अनाहत चक्र में है एव महालोक का प्रनिनिधि है। रग हरा, आकृति यटकोण तथा गोल दोनों तरह की है। गुण स्पर्श, ज्ञानेन्द्रिय त्वचा और कर्मेन्द्रिय हाथ हैं। वात, व्याधि, दमा आदि रोग इसी की विकृति से होते हैं।

साधन विधि — नियत विधि से स्थित होकर 'य' बीज वाले गोलाकार, हरी आभा वाले, वायु-तत्त्व का अनाहत-चक्र में ध्यान करे। इससे शरीर और मन में हल्कापन आता है।

आकाश-तत्त्व — शरीर में इसका निवास विशुद्ध चक्र में है। यह चक्र कठ-स्थान से जनलोक का प्रतिनिधि है। इसका रग नीला, आकृति अडे को तरह लम्बी-गोन, गुण शब्द, ज्ञानेन्द्रिय कान तथा कर्मेन्द्रिय वाणी है।

साधन-विधि — पूर्वोक्त आसन पर 'ह' बीज मन्त्र का जप करते हुए चित्र-विचित्र रग वाले आकाश-तत्त्व का विशुद्ध चक्र में ध्यान करना चाहिए। इससे तीनों कालों का ज्ञान, ऐश्वर्य तथा अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

नित्यप्रति पाँच तत्त्वों का छ मास तक अभ्यास करते रहने से तत्त्व पिछ हो जाते हैं। फिर तत्त्व को पहचानना और उसे घटाना-बढ़ाना सख्त हो जाता है। तत्त्वों की सामग्र्य तथा कलायें बढ़ने से साधक कलाधारी बन जाता है। उसकी कलायें अपना चमत्कार प्रकट करती रहती हैं।

बलिदान का तात्त्विक रूपष्टीकरण

लोक में जिन वारगों से तथ के प्रति उपेष्या भाव व्याप्त है उनमें से एक बलिदान भी है। माधवों में यह भाव प्रचन्नित है कि ऐश्वी-देवता वलि में प्रमत्त होते हैं श्रीर इन्द्रिय वर प्रदान करते हैं। इत्य-पूजा के पोड़श उपचारों में बलिदान को प्रधान उपचार माना जाता है। परन्तु इसे गच्छ रूप में समझा गया है। एक नेत्रक द्वा बहना है कि तन्त्रों की भाषा मार्वेतिक होने के कारण नत्प्रतिपाद्य पूजा-प्राप्ति का यथार्थ निरूपण करना एक दुष्ट ह व्यापार है।' मार्वेतिक भाषा द्वा न समझकर लोगों ने प्रत्यक्ष रूप में पशुओं द्वा बलिदान करना अवश्यभ कर दिया और यह समझने लगे कि वह एक अत्यन्त उच्चकोटि द्वा धार्मिक कृत्य कर रहे हैं। परन्तु वास्तव में नहोने एक ऐसी घारणा को जन्म दिया, जिसमें लाखों करोड़ों की व्यर्थ में हत्या की गई माँमाहार की कुप्रवृत्ति को बल मिला, हिमा का विकास हुआ और साथ-साथ मानवता का हास भी। अर्थ के अन्तर्य से मानव-जानि की इतनी क्षति हई और हो रही है। तन्त्र के इस अत्यन्त आवश्यक विवान को समझना चाहिए ताकि इसे सही अर्थों में किया जा सके।

बलिदान शब्द बहुत ही उत्तम अर्थों में प्रयोग में लाया जाता है। जो व्यक्ति किसी विशेष उद्देश्य के लिए बलिदान हुए हैं, जनता उनका अपार सम्मान करती आई है। देश और जाति पर बलिदान होने वालों की महानता की छाप मानव-हृत्य पर पड़े विना रह नहीं सकती। बलिदानी की भावनाएँ, विवार और उद्देश्य इतने श्रेष्ठ और

उच्च होने हैं कि उमके नामने वह अपने समस्त नानार्थिक स्वार्थों को भूल जाता है। प्रातिसर्व भूमिका में पञ्चाहिन टोन वाला अविन ही इसका अविकारी होना है, वयोर्नि जिने अपने शरीर, परिवार और घन-ममाति में भोह है, वह बलिदान की चारदीवारी से कोसो ढूर रहता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति इन नाशवान् वस्तुओं से ऊपर उठ जाता है, वही आने आपको समर्पण करने का साहस कर सकता है। यही कारण है कि ऐसे ही व्यक्ति जनता के मनो पर अपनी छाप छोड़ जाते हैं, उन्हीं की जय-जयकार होती है, स्मारक बनते हैं, वार्षि-कोत्सव होते हैं, लोग उनकी जीवन-धटनाओं का अनुकरण करने का प्रयत्न करते हैं।

बलिदान वह वस्तु है, भावनाओं की वह उच्च स्थिति है जहाँ जाकर साधक अपनेपन को भूल जाना है। यह एक ऐसी स्वरूप्य परम्परा है, जिसका जीवन रहना आवश्यकभावी है। इसी के ऊपर राष्ट्रों और जातियों का भविष्य टिका ढूम्रा है। जिस देश के नागरिक केवल अपने स्वाध का ही ध्यान रखते हैं और परमार्थ त्याग तथा बलिदान की ओर नहीं झुकते, वह देश और जाति इन्हनि का मार्ग नहीं ढूढ़ सकती।

मुगल बादशाह शाहजहाँ की लड़की का इलाज करके एक अप्रेज डाक्टर ने अपने स्वाधीनों का बलिदान करके अपने देश के लिए एक सुविधा प्राप्त कर ली थी। उसी के कारण अग्रेज भारत में जाये और व्यापारों की हैतियन में आकर शासक बन गये तथा भारत को जॉक की तरह चूपकर चले गये। यदि सर टमस रो अपने लिए कुछ घन सम्पत्ति की आकाश्चाकरता, तो आज भारत का इतिहास ही कुछ और होता।

जिन देशवासियों की ऐसी उच्च भावनायें रहती हैं, वही देश ग्राकाश में सिवारों की तरह चमकते हैं। देश की स्वतन्त्रता पर मर

पिटने वाले भगतसिंह आदि को उगा देश भूल जाएगा ? मुमाल योग जैसे महारथियों को, जिहे परह तता की जनीनों ना लोटा के तिथि हजारों मकटों का सामना उगना पड़ा—देशव सी अपन मानस पठन से कमे दूर कर मकेगे ? जिन्होने अपना जीवन, मम-न घन-मम्पत्ति किमी विशेष उद्देश्य के लिए खपा नी है, वह जनता के हृदय मग्राट कैसे न बनेगे और इनिहासार उ है कैसे अपनी लेखनी मे दूर रख सकेंगे ?

इस वलिदान की परम्परा का इमारे दश मे असामाजण मान रहा है। यहाँ एक ऐसा वग विशेष था, जो अपने श्वार्यों की पश्चात् न करते हुए निर नर राष्ट्रोत्थान मे प्रयत्नशील रहता था। उन्होने अपनी कामनाओं, इच्छाओं और अभिनापायों का वर्ण दाता कर दिया था। जो फिसी ने दे दिया, उसे पारर ही म तुष्ट रहत थे और निरन्तर पठन-पाठन, मनन, चिन्तन साधना, तप मे मग्न रहते थे। देश मे श्रेष्ठ विचारों के प्रमार का उत्तरदायित्व उन्हीं पर था। इन्हिं निधन ब्राह्मणों का सासारिक दृष्टि मे घनवान राजा-महाराजाओं तो भी विशेष सम्मान करना पड़ता था। वह उनके आदेत के विना कोई भी काय करने का साहन नहीं कर सकते थे। जब मे ब्राह्मणों न अपनी इस त्याग वृत्ति का वलिदान दर दिया और अपनो स्वार्थपरता तथा लोभ मे लिप्न हो गए, तभी मे उनका पनन आरम्भ हुआ।

इस त्याग-वलिदान की परम्परा को बनाए रखने और जीवित रखने के लिए ही हमारे भम-शास्त्रों मे आचार्यों ने नामा प्रकार के विवान बनाए हैं, जो भिन्न-भिन प्रकार के लोगो के अनुरूप है। जिस तरह मे अलग-अलग स्तर के लोगो के लिए अलग-अलग तरह थी शिक्षा, साधना, उपासना आदि के विवान बन ए गए हैं, उसी तरह वलिदान के भी कई स्तर हैं। उनके द्वारा धीरे धीरे साधक ऊपर की उनके द्वारा जाता है।

पशुना से बचते रहने और मनुष्यता के विकास के लिए आभिष्टता की अत्यन्त आवश्यकता है। उसके बिना मनुष्य स्वेच्छाचारी हो जाता है। इसके निए हमारे यहाँ नाना प्रकार के विधान हैं। अपने हृष्टदेव का प्रसन्न करने के लिए अपने को प्रिय नगने वाली वस्तुओं का त्याग, बलिदान करना होता है। यह त्याग वस्तु के मूल्य और सौदर्य पर निर्भर नहीं करता, वग्न-सावर्ण की भावना पर अवलम्बित है। भावना ही यहाँ प्रधान रहती है। भगवान् तो शद्धापूर्वक ममर्णे किए हुए एक तुलसी पत्र से ही प्रसन्न हो जाते हैं और अशद्धापूर्वक राजय-प्रसादों का भोग लगने पर भी वह टन-पे-यन नहीं होते। हमारे इतिहास तथा पुराणों में ऐसी कथाएँ आती हैं, जिसमें अभिमानयुक्त होरे-जवाहरात देने वाले राजा की अपेक्षा प्रभु एक निर्धन ब्राह्मण की भक्ति-भावना से केवल पुष्पों से ही रीझ गए। बलिदान की इस भूमिका में पदार्पण करने वाले सच्चे साधक ही आगे बढ़ते हैं।

भावना से ऊँचा उठानुर साधक विचार की कीमा में आता है। मनुष्य की महानता या धुद्रता विचारों पर ही निर्भर है। इन्हे सात्त्विक आहार पर भी ध्यान देना पड़ता है। माँम, मदिरा, बीड़ी, सिगारेट का सेवन करने वालों के विचारों में गैंडलापन आ जाता है। वह धुँधलापन उन्हे पथ-भ्रष्ट कर देता है, सन्तार्ग से च्यून कर देता है। यह ऐसी वस्तुएँ हैं, जो उसके शारीरिक, मानसिक, आत्मिक सभी प्रकार के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सिद्ध होती हैं। उन्हे ग्रहण करने वाला दिन व दिन पनन की ओर ही जाता है। अन जीवन-लक्ष्य की ओर बढ़ने वाले को इनका बलिदान करना चाहिए। तभी विचार रूपी देव को प्रसन्नता प्राप्त होती है।

राजसिक वस्तुओं के सेवन से भी सात्त्विकता ढकी रहती है। वृत्तियों का निर्माण अन्य तथ्यों के अतिरिक्त आहार पर भी निर्भर है। राजसिक वस्तुओं के सेवन से कामुकता की वृद्धि होती है। काम का

घटना या बढ़ना जिह्वा की लोलुपता पर भी आवारित है। जिह्वा का नियन्त्रण में रखने वाला मात्रक कामेंट्रिय को श्रासानी में बाहू में कर सकता है। इसमें सभी इन्द्रियों का संयम ही जाता है। जिह्वा पर नियन्त्रण रखने के लिए अपनी प्रिय वस्तुओं का बलिदान करना पड़ता है। तीर्थों में जाने वाले यात्री वहाँ पर अपनी प्रिय वस्तुओं का त्याग कर आते हैं। इसका अभिप्राय इस त्याग व्रति के बढ़ाने में ही है। इसमें लोग मिठाई, प्याज, लहसुन, मादक वस्तुओं का बलिदान कर देते हैं।

आहार विहार का ध्यान रखता हुआ मात्रक दुर्गुणों को त्यागने और सदगुणों को प्रशंसा करने का प्रयत्न करता है। इसके लिए वह काम रूपी बकरे, क्रोध रूपी भेड़, मोह रूपी महिला आदि का बलिदान करता है। इन पशुओं का बलिदान करके 'पशु मनुष्य' मनुष्य बन जाता है। फिर 'मनुष्य-मनुष्य' अपने मनुष्योचित गणों का विकास करता हुआ देवत्व की ओर बढ़ता है। उसका जीवन एक आदश बन जाता है। सत्य, प्रेम, न्याय, दया, परोपकार ईमानदारी, मदाचार, सन्तोष आदि गुण स्वतं उसकी ओर आने लगते हैं। उसका विवेक जाग्रत भी जाता है। वह सभी प्राणियों को अपना समझता है। उसमें आपनापन देखता है, प्रभु का मानोत्त्वार करता है, कण-कण में उसे वही दिखाई है। तब वह किससे छन, कपट घोखा करे और किसमें झूँठ बोले? किसको हानि पहुँचाये और किससे प्रेम करे? उसे दूसरों का सुख दुख अपना ही सुख-दुख लगाने लगता है। ऐसा अनुभव करने पर वह अपने आपको भूल जाता है और उनका दर्द दूर करने के लिए अपनी कही जाने वाली समस्त धन-मम्पत्ति को न्यौछावर कर देता है, और का मोह त्यागकर उसकी आहृति उस जन कल्याण यज्ञ में दे देता है, वह अपनेपन का बलिदान कर देता है, अपने को सबसे और सबको अपने में देखता है। अपनी जीवात्मा को काटकर परमात्मा पर आहृति चढ़ा देता है। इस बलिदान के द्वारा परमात्मा से भक्षानवश जीवात्मा की जो

प्रयक्ता दीवती है, वह एकवारगी ही नष्ट हो जाती है और साधक उसके स्वरूप में स्थित होकर अद्विनीय ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। मबसे उत्तम वोटि का बलिदान यही आत्म-बलिदान है, जिससे साधक धर्य हो जाता है। सब प्रकार के मुख-दुखों से निवृत्त होकर आनन्द के ममुद्र में दुर्बिलियाँ नगाना हैं।

बलि में आत्माभिमान की बलि सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। देवी वा सच्चा सेवक वही माना जाता है, वे यन्त्र की तरह उनकी आज्ञाओं का पानन करता है, जिनमें कृतृत्व की भावना नहीं रहती जो सापां-तरक ममता और अभिमान की बलि देकर माता की इच्छानुमार काय करते रहते हैं। श्री रामकृष्ण परमहम कहा करते थे—‘तुम यन्त्री आमि यन्त्र, तुमि गृही आमि घर, तोमार कर्म तुमि करो मा, लोके बोले करि आमि’ अर्थात् मैं बाजा हूँ, आप बजाने वाली हैं। मैं घर हूँ तो आप घर में निवास करने वाली मालिनि हैं। आप ही सब कुछ कर रही हैं। अज्ञानता से लोग अपने को कर्ता मानते हैं।’ कर्तव्याभिमान न रखना ही सच्चा आत्मबलिदान है।

‘ऐतरेय ब्राह्मण’ की दूसरी पञ्चवान के छठे अध्याय के तीसरे खण्ड में कहा है—

सर्वभियो वा एष देवताभ्य आत्मानमालभते ।

अर्थात् यजमान सब देवताओं की तुष्टि के लिए अपने आत्मा की बलि करता है।’

परमार्थ-सार का कथन है कि—

माया परिग्रहवशाद् बोधो मलिनं पुमानं पशुर्भवति ।

अर्थात् ‘माया के कारण मलिन बुद्धि होने से मनुष्य पशु-भाव को प्राप्त होता है।’

बुद्धि मानव के जीवन पर्य की उत्तम निर्देशिका है। उसके विकास से ही मानव वी प्रगति सम्भव है। उसकी सात्त्विक, राजसिक

और तामसिक प्रवृत्तियाँ व्यक्ति को उपी रण मे रण दी हैं। प्राण-क्लयाण के सावक को सात्त्विक तुदि की ही प्रपत्ता गहनी है। नामनिर्वाचना ता पशु जीवन ही व्यनीत करना है। इस पशु जीवन से ऊर उठकर मानवना की सीमाओं से प्रवेश करना ही वास्तविक जीवन है। जीवात्मा क अच्छे और बुरे कार्य इदिनों क मान्यता म हान है। इन्द्रियाँ तरह और मोउ दोनों का वारगा बन गई हैं। यदि उनका आकृपण विषयों की ओर रहना है, तो निश्चय ही नरक की प्राप्ति हांगी। मोउ मार्ग पर बढ़न के लिए आवश्यक है कि उड़ने नियन्त्रण मे रखा जाय, अपनी इच्छा नुसार चलाया जाए, उनका नोकर न होकर स्वामी बना जाए, उनमे जो पशुना क भाव व्याप्त है, उन्हे दूर करके सात्त्विकता का विकास किया जाए। तत्र की भाषा मे इन्द्रियों की जो तामसिकतावरी पशुना है, उने अरन इष्टदेव की प्रसन्नता क लिए काट-काटकर दबी का अर्पित करना चाहिए—यही यथाय वनिदान है। शास्त्र मे जह-नहाँ पशु-वनि क आशं आए हैं, वह अनद्वारिक भाषा मे हैं। उनक विभेद अर्थ हैं, जो निम्न प्रकार हैं।

उपनिषद् का वचन है—

काम क्रोध लोभादय पशव ।

अर्थात् “काम, क्रोध लोभ मोह यह पशु हैं, इन्हीं को मारकर यज्ञ मे हवन करना चाहिए ।”

काम क्रोध सुनोभ मोह काच्छिकत्वा विवेकासिना ।

मास निर्विषय परात्म मुखद भुज्जति तेपा बुवा ॥

—मैरखयादक्ष

अर्थात् “विवेकी पुरुष काम, क्रोध, लोभ और मोह लूपी पशुओं को विवेकलूपी तत्त्वार से काट कर दूसरे प्राणियों को सुख देने वाले निर्विषयकी मांस का भज्जण करते हैं ।”

प्रयक्ता दीवती है, वह एकवारगी ही नष्ट हो जाती है और साथक उसके स्वरूप में स्थित होकर अद्विनीय ब्रह्म का साक्षात्त्वार करता है। सबसे उत्तम बोटि का बलिदान यही आत्म-बलिदान है, जिससे सापक धय हो जाता है। सब प्रकार के सुख-दुःखों से निवृत्त होकर आनन्द के समुद्र में डुर्बिलियाँ लगाता है।

बलि में आत्माभिमान की बलि मर्वशेष मानी जाती है। देवी वा सच्चा सेवक वही माना जाता है, जो यन्त्र की तरह उनकी आज्ञाओं का पालन करता है, जिनमें कृत्यत्व की भावना नहीं रहती जो सापानिक ममता और अभिमान की बलि देकर माता की इच्छानुमार काय करते रहते हैं। श्री रामकृष्ण परमहम कहा करते थे—‘तुम यन्त्री आमि यन्त्र, तुमि गृही आमि घर, तोमार कर्म तुमि करो मा, लोके बोले करि आमि’ अर्थात् मैं बाजा हूँ, आप वजाने वाली हैं। मैं घर हूँ तो आप घर में निवास करने वाली मालकिन हैं। आप ही सब कुछ कर रही हैं। आज्ञानता से लोग अपने को कर्ता मानते हैं।’ कर्तव्याभिमान न रखना ही सच्चा आत्मबलिदान है।

‘ऐतरेय ब्राह्मणा’ की दूसरी पञ्चविंशि के छठे अङ्गाय के तीसरे खण्ड में कहा है—

सवभियो वा एष देवताभ्य आत्मानमालभते ।

अर्थात् यजमान सब देवताओं की तुष्टि के लिए अपने आत्मा की बलि करता है।

परमार्थ-सार का कथन है कि—

माया परिग्रहवशाद् बोधो मलिनं पुमानं पशुर्भवति ।

अर्थात् ‘माया के कारण मलिन बुद्धि होने से मनुष्य पशु-भाव को प्राप्त होता है।’

बुद्धि मानव के जीवन पर की उत्तम निर्देशिका है। उसके विकास से ही मनव की प्रगति सम्भव है। उसकी सात्त्विक, राजसिक

गीता मे लिखा है कि मन और बुद्धि को अपण करना चाहिए (१२।१८) किन्तु दिष्यापवत् मन-बुद्धि की सज्जा पशु है और अपण ही बलि है ।

एक विद्वान् का अहना है कि पशु-जगत् मे इन्द्रियाँ सर्वोपरि हैं और उन्ही का साधन वहाँ प्रधान साधन है । किन्तु मनुष्य मे जीवात्मा सर्वोपरि है और जीवात्मा तथा इन्द्रियो के मध्य मे अन्त कारण है । इनके पशु-स्वभाव को कामात्मक रथार्थ के लिए व्यवहृत न कर ईश्वर के अनेक होने के सकल्प (एकोऽह बहुस्याम्) अर्थात् इच्छा शक्ति की, जिसकी मन्ना महाविद्या है, पूतिरूपी यज्ञ मे व्यवहृत होने के लिए महाविद्या वो सम्पित करना अर्थात् ईश्वर के दिव्य गुण, शक्ति, सामर्थ्य आदि के प्रकाशित करने योग्य बनाना ही यथार्थ पशु बलि है । जीवात्मा रूपी होता को सद्बुद्धि रूपी सूक्ष्मा मे इस पशु-स्वभाव के साथ मयोजित कर ब्रह्माण्ड मे अर्पण करना अर्थात् ब्रह्म के सृष्टि-हित-कार्य मे प्रवृत्त करना यज्ञ मे इनकी बलि करना है ।

तन्त्र के एक प्रसिद्ध लेखक ने अपने एक ग्रथ मे बकरे को काम, भैसे वो क्रोध, बिलाव को लोभ, मेडे वो मोह और ऊट को मत्स्य वहा है और इन्ही विकारो के त्याग को पशु-बलि कहा है ।

यजुर्वेद मे ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनसे यह अभिप्राय निकलता है कि अग्नि, वायु और सूर्य ही पशु हैं । यथा—

अग्नि पशुरासीत्तेनायजन्त ।

अर्थात् अग्नि पशु था, उस द्वारा यज्ञ किया ।

वायु पशुरासीत्तेनायजन्त ।

अर्थात् वायु पशु था, उस द्वारा यज्ञ किया ।

सूर्य पशुरासीत्तेनायजन्त ।

अर्थात् सूर्य पशु था, उस द्वारा यज्ञ किया ।

एतरेय ब्राह्मण १२।१० में 'पश्चो व इवा हुम्पा' इस पृथ्वी को ही पशु कहा गया है। क्या इन सबको काट-काटकर होमा जायगा? अन्त में वनी हुई वस्तु (गोटी-पुरी ग्राम) तथा खाद्य-पदार्थों को भी पशु माना गया है।

चरक सहिता में मर्ज श्रीपवि का वर्णन है—

अज्ञाना-मौषधि रज शृगति विज्ञायते ।

—चरक सहिता प्र० १

क्या उपग्रेक्त वाक्य में वर्णित 'प्रजा' वूटो के स्थान पर वक्तव्य को श्रीपवि बनाया जायगा?

महाभारत में भी अज्ञा का ग्रंथ श्रीपवि और वीज ही किया गया है—

बीजेर्यज्ञेषु यष्टव्य मिति वा वैदिकी श्रुतिः ।

अज सज्ञानि बीजानि, छाग तो हन्तुमहष ॥

नेष घम सता देवा यत्र वध्येन वै पशु ॥

—महाभारत शान्ति० ३२७

अर्थात् "बीजों का यज्ञ में हृवन करना चाहिए, ऐसी ही वेद की श्रुति है। अज सज्ञक बोज होते हैं। इसलिए वकरे का हनन करना उचित नहीं, जिस कर्म में पशु की हत्या होती है, वह सज्ञनों का धर्म नहीं।"

वैद्यक ग्रन्थों में अनेक पशुवाचक शब्द आते हैं। यथा—

अश्व—अश्वगन्धा । शृृष्टभृष्ट—शृृष्टभक्त कन्द । श्वान—कुकुरमुत्ता । वराह—वरातीकन्द । काक—काक्षमाची । अज—भजमोद । मत्स्य—मत्सयाक्षी । लोम—जटामासी । महिष—महिपाक्ष गुगुल । मेष—चकवड, मेपपर्णी । मातुल—वतूरा । मृग—सहदेवी वूटी । पशु—मोथरा । कुमारी—प्रिवकुमारी । रुषिर—केशर । पेश—जटामासी । हृद—दारचीनी ।

पशुवाचक शब्दों के अन्य प्रकार के भी अथ छोत ये—

(१) अज या छाग—तीन या सात वप के पुगने धान, राशि-चक्र में की मेप राशि ।

(२) घेनु—धाना (अथर्व० १२४।३२), पृष्ठी, अन्तरिक्ष, द्यौलोक, दिशायें आदि (अथवा० ४।३६) ।

(३) गौ—तरण्डुले, शमीवृक्ष (अथर्व० १०।१०) रस्मि, चन्द्रमा, इव, चम, वनुप की होगी आदि (निरुक्त अ० २, पा० २ खण्ड १-३) ।

(४) अश्व—तरण्डुल के कण (अथर्व० का० ११, सू० ३ पययि १, म० ५) सूर्य, अश्वपर्णी या अमगन्व श्रीपवि (यजु० ११।१८), एक नक्षत्र आदि ।

(५) अक्षा—सोफ और्दनि आदि (यजु० १०।२८।११) ।

(६) वृपभ—ओदन (अथवा० ११ १।३५), बादन, ऋषभ और्पवि आदि ।

पुरुष सूक्त में निखा है कि 'अवधन् पुरुष पशुद'—अर्थात् ईश्वर को ही पशु मान यज्ञ में समरण किया । ईश्वर के अपने को यज्ञ अथवा वलि करने से ही वृद्धि हुई और ऋषि देवता आदि ने भी उन्हीं की शक्ति की वलि अथवा प्रयोग कर सृष्टि-यज्ञ किया, यही अदि पशु-वलि हुई ।

ऊपर अनेक प्रकार के पशुवाचक शब्द बतलाए गए हैं, जो हमारे साहित्य में उपलब्ध हैं । माँस लोतुपो ने ब्रेवल उसके स्थूल ग्रन्थ को लेकर वलि करना आरम्भ कर दिया, यह अथ का अनुरूप है । अशास्त्रोक्त है ।

कुछ विद्वान तत्त्वों के उदाहरण देकर पशु-वलि का सम्बन्ध करते हैं, परन्तु वास्तव में प्रत्यक्ष पशुओं की वलि की कही भी पुष्टि नहीं की गई है । महाकाल सहिता में कहा है—

सात्त्विको जीवहत्या वै कदाचिदपि नाचरेत् ।

इक्षुदण्डच वूरमाण्ड तथा वन्यफलादिकम् ॥

क्षीरपिण्डं शालिचूर्णं पशु कृत्वा चरेद्वलिम् ।

अर्थात् “सात्त्विक विचारो के साधक वभी भी पशुओं की वलि देकर जीव-हत्या नहीं करते । वे ईख, कोहड़ा या वन्य फलों की वनि देते हैं या खोवा, आटा या चावल के पिण्ड का पशु बनाकर वलि देते हैं ।”

महानिर्वाण तन्त्र मे कहा है—

काम क्रोधो द्वौ पशु इमावेव मनसा वलिमपयेत् ।

काम क्रोधो विघ्नकृतौ वलि दत्त्वा जप चरेत् ॥

इसमें काम और क्रोध को विघ्नकारी पशु स्वीकार किया गया है । उनका वलिदान ही सच्ची उपासना मानी गई है ।

इन्द्रियाणि पशुन् हत्वा'

अर्थात् “इन्द्रियरूप पशु का वध करें ।”

तन्त्र ने इस प्रकार की वलि को स्वीकृति प्रदान की है और यही वास्तविक वलिदान है ।

यन्त्रों का प्रेरणात्मक अध्ययन

यन्त्र किसी देवी या देवता का प्रतीक होते हैं। इनका रूप ज्यामितिक होता है। यह रेखाओं, वक्त्र रेखाओं, त्रिभुजों वर्गों और वृत्तों से मिलाकर बनाए जाते हैं। ये शलग-शलग ढांग से बनाए गए हैं। कई का तो बनाना भी कठिन होता है। इनका रूप बिना उद्देश्य के नहीं होता। इन रेखाओं, त्रिभुजों, वर्गों, वृत्तों, यर्द्दा तक कि कोण, अश का भी विशेष अर्थ होता है। जिस तरह से देवताओं वी मूर्तियों के रूप-रूप विशेष गुणों का प्रतिनिधित्व करते हैं, उसी तरह यन्त्रों में गम्भीर लक्ष्य निहित होते हैं। उन्हें केवल एक निम्न वर्ग की अन्धविश्वासयुक्त उपासना और परापरा मानना भूल होगी।

इनका निर्माण पत्थर, धातु ता अन्य वरतुष्ठों के तल पर होता है। रेखाओं और त्रिभुजों आदि के माध्यम से बने चिन्हों को मढ़ल कहा जाता है। यह किसी भी देवता के प्रतीक हो सकते हैं, परंतु यह निसी विशिष्ट देवता का प्रतीक होते हैं।

अर्थ—

यन्त्र का अर्थ ग्रह होता है। यह 'यम्' धातु से बनता है, जिसमें ग्रह का ही बोध होता है किंतु यही नियन्त्रण की प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है।

हम यान्त्रिक-युग में रह रहे हैं। यन्त्र का भौतिक अर्थ मशीन होता है, जो मानव से अधिक श्रमसाध्य और चमत्कारी कार्य

कर सकती है और हर कार्य में सहायक सिद्ध होती है। मानव एक व्यक्ति को भी उठाकर थोड़ी दूरी तक नहीं जा सकता परन्तु रेल, मोटर से कठोर व्यक्तियों को मैरुडो मीन तक तीव्र गति में ले जाती हैं। हमारे नेत्र एक सीमित दूरी तक ही देख सकते हैं, परन्तु यन्त्र की महायता से मीलों दूर की वस्तु देखी जा सकती है। इसी तरह विशेष व्यक्ति को देखना हो, भी यन्त्र की अपेक्षा गड़ी है, उसकी भावना करनी पड़ती है। ताकि यन्त्र को निर्गुण व्रह्म के शक्ति-विज्ञान का प्रतीक माना जाना है।

एक लेखक ने यन्त्र के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—
 ‘जिसमें पूजा की जाये, वह यन्त्र है। तन्त्र परम्परा में इसे देवता के द्वारा प्राण-प्रतिष्ठा प्राप्त यन्त्र शगोर के रूप में देखा जाता है। यन्त्र उस देवता के रूप का प्रतीक है, जिसकी उपस्थिति को वह मूर्तिमान करता करता है और जिसका कि मन्त्र छवि प्रतीक होता है।’

यन्त्र को देवना का शरीर कहते हैं और यन्त्र को देवता की आँखा।

पूजा में यन्त्र वह वस्तु मानी जाती है, जिस पर मन केन्द्रित किया जाना है।

सर जॉन वुडफ ने ‘प्रिमिपलम आफ तन्त्र’ पुस्तक में लिखा है कि इसका यश नाम इयनिए पड़ा कि यह काम, क्रोप व दूसरे मनो विकारो व उनके दुष्परिणामो को नियन्त्रित करता है।

कुनार्णव तन्त्र के अनुमान यन्त्र के नामकरण की व्याख्या इस प्रकार है—

यमभूनादि सर्वेभ्यो भयेभ्योऽपि कुलेश्वरि ।

त्रायते सततञ्चेव तस्माद् यन्त्रमितीरितम् ॥

“यम और समस्त प्राणियों से तथा सब प्रकार के भयों से त्राण करता है। हे कुलेश्वरि! सर्वदा त्राण करने के कारण से ही यन्त्र, यह नाम कहा जाता है।”

काम क्रोधादिदोषोत्य सर्वद खनियन्त्रणात् ।
यन्त्रमित्याहुरेतस्मिन् देव प्रीणाति पूजित ॥

'काम क्रोधादि दोषों के समस्त दुखों का नियन्त्रण करने से यन्त्र—यह नाम कहा जाता है। इस पर पूजित देव तुरत्त ही प्रसन्न हो जाते हैं।'

महिमा—

यन्त्रो में लिखा है कि श्रीचक्र के एक बार के दर्शन का फल विधिपूर्वक सौ यज्ञों के सम्पादन के तुल्य है। १६ प्रकार के महादानों से जो पुण्य फल मिलता है, वह श्रीचक्र के एक बार के दर्शन से उपलब्ध हो जाता है। साढ़े तीन करोड़ तीर्थों में स्नान करने का फल एक बार के श्रीचक्र के दर्शन के बराबर है। यह माहात्म्य सभी चक्रों का है।

श्रीचक्र पादोदक का माहात्म्य का वर्णन करते हुए तत्रो में कहा गया है कि गगा, यमुना, गोदावरी, नर्मदा, पुष्कर, गोमती, वाराणसी, हरिद्वार, गया, प्रयाग, ब्रह्मकाश्रम, पिंडु, रेवा, सेतुबन्ध, सरस्वती आदि जितने भी तीर्थ इस विश्व में हैं, उनमें स्नान करने से जो पुण्य होता है, श्री चक्र पादोदक के सेवन से उनमें भी सहस्र-कोटि गुना अधिक फल प्राप्त होता है।

यन्त्रो में बिंदु, रेखा, त्रिकोण, वृत्त आदि ज्यामिति विज्ञान का प्रयोग होता है। इसकी महत्ता प्रदर्शित करते हुए यूनानी तत्त्वज्ञ प्लेटो ने अपनी पाठशाला के बाह्य कक्ष पर यह घोषणा लिखवा दी थी कि जो विद्यार्थी ज्यामिति से अपरिचित हो, वह इष पाठशाला में प्रवेश के लिए प्रयत्न न करे।

योगिनी तन्त्र में लिखा है कि देवी की पूजा मूर्ति, मण्डल अथवा यन्त्र के द्वारा होनी चाहिए। आध्यात्मिक उन्नति के विशेष स्तर तक पहुँचने पर ही साधक इषर्सी पूजा का अधिकारी होता है। सिद्ध योगी

श्रात्तर-पूजा मे प्रवेश करते हुए यत्र की पूजा मे आरम्भ करता है, जो ब्रह्म-विज्ञान का मर्त्तत है।

उद्देश्य —

यन्त्र केवल रेखाओं व त्रिलोणों आदि मे बने ज्यामिति विज्ञान के प्रदर्शक चित्र ही नहीं है, उतकी रचना विशेष आध्यात्मिक दृष्टिकोण से की जाती है। जिस प्रकार से विभिन्न प्रकार के देवी देवताओं के रग-रूप के रहस्य होने हैं, उसी तरह सभी यत्र विशेष उद्देश्य से बनाए गए हैं, ताकि उमका ध्यान कर सकें। वास्तव मे यत्रों मे पिंड और ब्रह्माड का दशन पिरोया हुमा है। भारतीय दशन का यह मत है कि जो कुछ ब्रह्माड मे है, जैसे— सूर्य, चन्द्र, ग्रह नक्षत्र आदि। वह देव-शक्तियाँ हमारे सूक्ष्म शरीर मे विद्यमान रहती हैं पर तु हम उमका अनुभव नहीं कर पाते। मानव का गौरव महान है, परन्तु खेद है कि वह इससे अपरिचित है। जब साधक मूर्ति-पूजा, पाठ, स्तुति, जाप, यज्ञ आदि विविध विधि-विवानों द्वारा आत्मिक प्रगति के स्तर तक पहुँच जाता है, तो गुरु उसे यन्त्र-पूजा का अविकार प्रदान करते हैं। इसका अर्थ यह है कि उसे अपने पिंड में विद्यमान आध्यात्मिक शक्तियों को अनुभव करने के मार्ग पर चलना है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रों की शक्तियाँ हमारे लिए प्रत्यक्ष चमत्कार दिखाई देती हैं। हमारा पिंड उस विश्व ब्रह्माड का सक्षित स्करण है, अन हमारे पिंड मे ध्यास वह शक्तियाँ भी उतनी चमत्कारी हो सकती है, यदि उन्हे विधिपूर्वक जगा मके। यत्र का ध्यान करते हुए साधक ब्रह्माड का ध्यान करता है। अपने पिंड को वह ब्रह्म जिनना ही विस्तृत अनुभव करने लगता है। एक समय आता है जब दोनों मे काई अन्तर नहीं रहता और वह अपने शरीर—अपनी ही पूजा करता है। उसके ध्यान मे पिंड और ब्रह्माड का एक य हो जाता है। वह भगवती को अभना ती रूप ममक्षता है। फिर उसे सारा जगत् ही अपना रूप लगने लगता है, वह अपने दो सद्मे समाया हुआ

पाता है, अपने अतिरिक्त उमे और कुछ हथिगोचर ही नहीं होता । उह अहेन सिद्धि के मार्ग पर प्रशस्त होना है और ऐसी अवध्या मे प्रा जाता है फिर जाता, जान और जेप एक ही रूप लगाने लगते हैं । साथर का शरीर आब घनन विश्व प्रीर अखड ब्रह्म का रूप धारण कर लेता है । या की पूजा करते हुए जिन शब्दों का उच्चारण किया जाता है, उससे भी यही भाव निरलता है । वे शब्द यह है—“आहुति ब्रह्म है, होपी जाने वाली सामग्री भी ब्रह्म है, ब्रह्मरूपी अभिन मे ब्रह्मरूपी होता आहुति देता है । जो ब्रह्म को आहुति देने से एकाग्र हो जाता है, उसे ही ब्रह्म की एकासिद्धि प्राप्त होती है ।”

यह द्वारा इम आन्तम लक्षा तक पहुँचने के लिए विभिन्न प्रकार की साधारणे करनो पड़ती है । इनका सकेन या के विभिन्न आओ से परिलक्षित होता है । उनमा चितन-मनन करना होता है । विचार, साधना से ही उत्कर्ष होता है । यथ के बीच मे चिन्दु होता है, खह गतिशीलता रूप द्वारा है । शरीर और ब्रह्माड का प्रत्येक परमाणु अपनी धूमी पर तीव्रतम गति से हर धरण नष्टकर काट रहा है । यह सर्वव्यापक है । यव हमे भी उन्नति के मार्ग पर सन्तुष्ट नहीं रहना है, हर धरण आगे बढ़ने के लिए तत्पर और गतिशील रहना है, तभी शरीर, मन, बुद्धि और भावमा कियाशील हो सकते हैं । चिन्दु आकाश तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है तथोकि इससे अनुप्रवेश भाव रहना है, जो आकाश का गुण है ।

चतुरस (Square) मे बहुमुराना का भाव है, जिससे विस्तार का सकेन मिलता है, जो पृथ्वी का गुण । अत चार य ग्रहिक गुजाप्रो वाले आकाश पृथ्वी के द्योतक मारे जाते हैं ।

चित्र मे जब ऊपर का ओर नोह निकली हो, याए द्वारा सकेत हुआ हो गा भग्नि दिसा बनी हो, तो वह उन्नति का भाव प्रदर्शित करता है तथोकि भग्नि का स्वभाव ऊपर को उठने का ही है । उसे

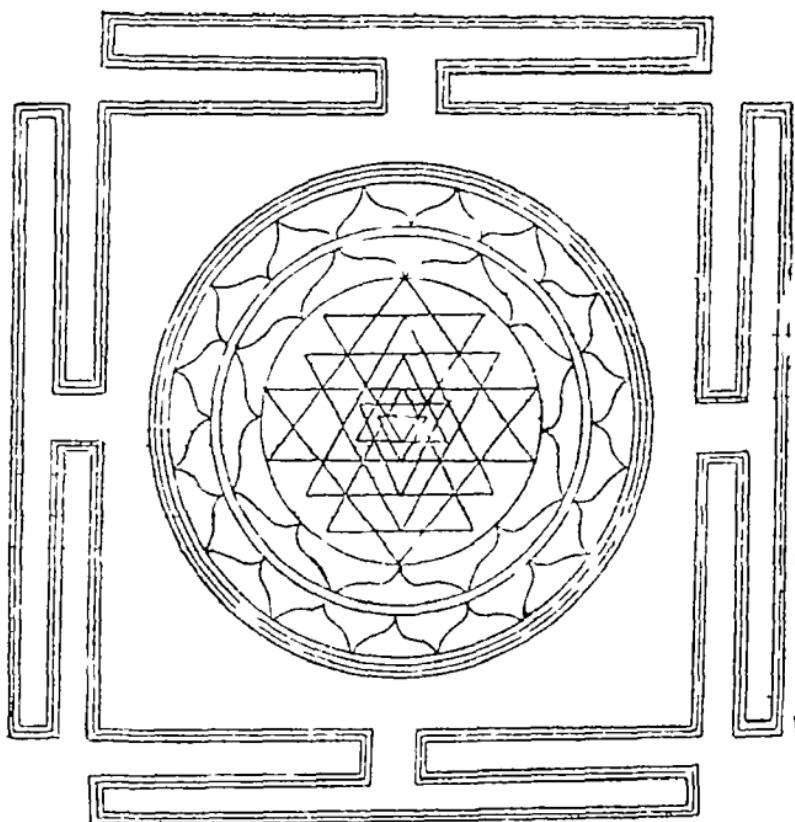
कितना ही टोका जाए, वह ऊँची ही उठना चाहेगी । त्रिभुज का शीर्ष कोण (Vertical Angle) जब ऊपर वी आर बना होता है, तो यह अग्नि-शिखा का ही प्रतीक माना जाता है । जब यह शीर्ष ऊँचे नीचे की ओर होता है, तो जल-तत्व वा द्योतक माना जाता है क्योंकि नीचे की ओर पवारिन होना ही जल वा स्वभाव है ।

वृत्त (Circle) वायु का द्योतक माना जाता है क्योंकि वृत्त में चक्राकार गति के लक्षण पाये जाते हैं । जब एक विदु दूसरे के चारों ओर चक्राक लगता है, तो वृत्त दृष्ट है । वायु भी घूमती है और जिसके साथ सम्पर्क में आती है, उसे घुमाने लगती है । अग्नि और जल दोनों के साथ यही मिथिति रहती है । अर्द्ध वृत्त या वृत्त के किसी भाग को वायु का चिह्न नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसमें चक्राकार घूमने की प्रवृत्ति नहीं होती । उसे तो कुर्वित (Curved) वी सजादी जा सकती है । त्रिभुज में जब दो किनारे मिलते हैं, तो वह अन्तर शून्य पर आ जाता है । इसलिए अर्धवृत्त या वृत्त के किसी अंश को जल का द्योतक माना जाता है ।

यत्र में सबमें बाहर जो चतुष्कोण बना होता है, उसे 'भूपुर' कहते हैं । यह 'भूपुर' दिव्य नगर का प्रतीक माना जाता है । किसी भी दशा में इसमें प्रवेश करके आगे बढ़ने का अर्थ साधना में प्रगति का चिन्ह है । बिन्दु यत्र के बीच में रहता है । वह अन्तिम लक्ष्य माना जाता है । वही ईश्वर के दर्शन होते हैं ।

अब हम कुछ विशिष्ट यन्त्रों का अध्ययन करेंगे ।

श्रीयन्त्र—



चित्र न० १—श्रीयन्त्र

यह यत्र भगवती त्रिपुर सुन्दरी का है । इसे सर्वश्रेष्ठ यत्र कहते हैं । यह सबसे प्रसिद्ध है । इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में 'योगिनी हृदय' में कहा है कि 'जब परात्परा शक्ति अपने सकल्प बल से ही विश्व-ब्रह्माण्ड का रूप ग्रहण करती है और अपने स्वरूप को निहारती है, तभी श्री चक्र का माविर्भाव होता है । इसी से भैरवयामल में कहा गया है—

चक्र त्रिपुरसुन्दर्या ब्रह्माण्डाकारमीश्वरि ।

अर्थात् 'हे ईश्वरि ! त्रिपुरसु दरी का आकार ब्रह्माण्डाकार है ।' भावनोपनिषद् में भी कहा है—

न व चक्र मयो देह ।

इस यन्त्र मे ब्रह्मारड की उत्पत्ति और विकास का प्रदर्शन किया गया है ।

श्रीयन्त्र मे श्री शब्द का अर्थ इस प्रकार किया गया है—‘अयते या सा श्री’ अर्थात् ‘जो अयण व्ही जाए वह श्री है ।’ जो नित्य पर-ब्रह्म का आश्रयण करती है, वह श्री है । जिस प्रकार प्रकाश या गर्भ की अग्नि से अभिज्ञता रहती है, उसी तरह ब्रह्म और शक्ति भी दोनों अभिज्ञ रहते हैं । आगम का भी यही सिद्धांत है—

न गिवेन विन देवो न देव्या च विना शिव ।

नानयोरन्तर किञ्चिचच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥

अर्थात् “शिव के पिना देवी नहीं है और विना देवी के शिव नहीं हैं । इन दोनों मे कुछ भी अन्तर नहीं होता है, जिस तरह मे कि चांद्र और उमकी चांद्रिका मे कोई अन्तर नहीं रहा करता है ।”

ब्रह्म की उत्पत्ति, स्थिति और पालन की सामर्थ्य प्राप्त करने का श्रेय ‘श्री’ के कारण ही है । श्री शङ्कुराचाय के अनुमार—

शिव शक्त्या युक्तो यदिभवति शक्त प्रभवितु ।

न चेदेव दैवो न खलु कुथल स्पदितुमपि ॥

अर्थात् “जो शिव शक्ति के सहित होता है, वही शक्तियुक्त अर्थात् सामर्थ्य वाला होता है । यदि शक्ति से हीन होता है, तो वह देव स्पन्दन करने के भी योग्य नहीं होता है ।”

ब्रह्म स्वयं निरञ्जन, निष्कल और निगुण है । आगम मे कहा गया है—

अचिन्त्यामिताकारशक्तिस्वरूपा

प्रतिव्यक्त्यधिष्ठानसत्त्वमूर्ति ।

गुणातोतनिर्द्वन्द्वबोधैकगम्या

त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥

अर्थात् “चिन्तन करने के अपेक्षण, अभित आकार और शक्ति के स्वरूप वाली, प्रति व्यक्ति में अधिष्ठान सत्ता रखने वाली, एक मूर्ति, गुणों से परे और निर्द्वन्द्व बोध ही केवल जानने के योग्य आप एक परम ब्रह्म रूप से मिल्दे हैं।”

इस अपार महिमा वाली त्रिपुरसुन्दरी के यश का अद्ययन आवश्यक है। श्रीयत्र के उपरोक्त प्रथम चित्र से हम देखेंगे कि इसमें कई वृत्त हैं। सबसे अन्दर वाले वृत्त के केन्द्र में बिन्दु स्थित है। इस बिन्दु के चारों ओर तीन त्रिकोण बनाए गए हैं। इनमें से पाँच की नोक ऊपर की ओर है और चार की नीचे की ओर। जिनकी नोक ऊपर की ओर है, उन्हें भगवती का प्रतिनिविमाना जाता है और शिवयुवती की सज्जा दी जाती है। नीचे की ओर नोक वाले शिव का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्हे श्रीकठ कहते हैं। ऊर्ध्वमुखी पाँच त्रिकोण, पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्रा और पाँच महाभूतों की प्रतीक हैं। शरीर में यह अस्थि, मेदा, मास, अमृक और त्वक के रूप में विद्यमान हैं। अधोमुखी चार त्रिकोण शरीर में जीध, प्राण, शुक्र और मज्जा की द्योनक हैं और ब्रह्माड में मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार के प्रतीक हैं। पाँच ऊर्ध्वमुखी और (और चार अधोमुखी त्रिकोण नी मूल प्रकृतियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस यश में एक झाठ दल वाला और दूसरा सोलह दल वाला कमल है। पहला अन्दर वाले वृत्त के बाहर है और दूसरा दूसरे वृत्त के बाहर है। ‘ग्रानन्द लहरी’ में भगवान शङ्खराचार्य ने इनका वर्णन इम प्रकार किया है—

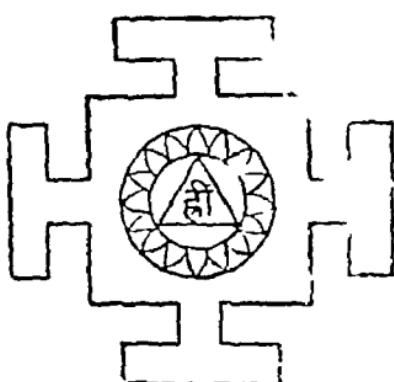
चन्द्र्मि श्रीकण्ठै शिवयुवतिभि पञ्चभिरपि
प्रभिन्नाभि शम्भोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभि ।
त्रयश्चत्वारिशद्वसुदलकलाब्जत्रिवलय—
त्रिरेखाभि साधं तव भवनकोण परिणता ॥

अर्थात् 'चार श्रीकठो के, पांच शिव की युवतियों के, शम्भु की नौ प्रभिन्न मूल प्रकृतियों के, तेतालीस वसु-दल क्लाव्ज वी त्रिविलय तीन रेखाओं के साथ आपके मवन-कोण परिणत होते हैं।'

इस यत्र में ऊर्ध्वमुखी त्रिकोण अग्नि-तत्त्व के, वृत्त वायु के विन्दु आकाश का और भूपुर पृथ्वी तत्त्व का प्रतीत माना जाता है। यह यत्र सृष्टिक्रम का है। इसकी उपासना समय मत वाले करते हैं। भगवान शङ्खगवार्य इसी मत के उपासक थे। उनके हर मठ में यह यन्त्र रहता है।

कौन मन का श्रीयत्र अलग तरह का होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें पांच शक्ति त्रिकोण, जो समय मत वाले श्रीयत्र में ऊर्ध्वमुखी होती हैं, वह इसमें अधोमुखी हो जाती हैं और चार शिव त्रिकोण जो अधोमुखी रहती हैं वह इसमें ऊर्ध्वमुखी हो जाती हैं। इस तरह से यह सहार-क्रम का यत्र बन जाता है।

यंत्रराज यत्र —



यंत्रराज यत्र

इस यत्र का उल्लेख महानिर्वाण तत्र (५१७१।१७३) में है।

इसका लक्ष्य दिव्य-भाव की सिद्धि है। इस यत्र की सहायता से Hinduism Discord Server <https://dsc.gg/dharma> | MADE

मानव हर सम्भव विकास कर सकता है। इन यत्र में जो अर्थ निकलते हैं, उन पर यदि ध्यान केन्द्रित किया जाए तो सिद्धि अवश्य होती है।

यत्र के भीतरी कक्ष में एक ऊर्जमुखी त्रिकोण है, जो एक वृत्त से घिरा हुआ है, उसके बाहर एक और वृत्त है, जो भूमुर से घिरा हुआ है। इस प्रतीक चित्र में सृष्टि-क्रम का अध्ययन किया गया है। ऊपर की ओर मुख वाला त्रिकोण अग्निशिखा को प्रदर्शित करता है, जो वृत्त अर्थात् वायु-तत्त्व से आवृत्त है। जब दोनों क्रियाशील होते हैं, तो विश्व का विस्तार है, जो भूमुर के रूप में दिखाया गया है। इस विस्तार-भाव में प्रगति और रचना का भाव भी निहित है। हर क्षण रचना हो रही है। विश्व गतिशील है। हमारा पिंड स्थित विश्व भी ऐसा ही होना चाहिए। हम निरन्तर प्रगति-पथ पर अग्रसर हो रहे हैं—इस भावना के साथ यत्र की पूजा करनी चाहिए।

मुक्तियंत्र—

इसका वर्णन 'कुमारी कल्प' में है। इसमें पाँच त्रिकोण हैं, जो एक पट्टकोण में स्थित हैं। ऊर्जमुखी त्रिकोण अग्नि-तत्त्व का और अघोमुखी जल-तत्त्व का प्रतीक हैं। अग्नि सदैव ऊपर को जाती



मुक्तियंत्र

है और जल नीचे की ओर। परन्तु दोनों की इन प्रवृत्तियों की भी एक मर्यादा है। उस सीमा तक पहुँचने पर अग्नि जल-रूप हो जाता है और नीचे की ओर जब जल अग्नि में गिरता है, तो वह अग्नि रूप में बदल जाता है। अर्थर्थवेद के वृहज्जावालोपनिषद् में इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि इस जगत् के आत्मा अग्नि और सोम हैं (सोम जल का पर्यायवाची है)। दोनों अग्नि-रूप ही हैं। अग्नि

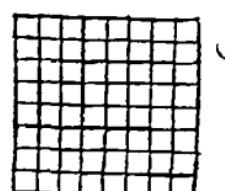
ने मात्र उत्पन्न होना है और सोम ने अग्नि की वृद्धि होनी है। अत अग्नि और सोम के सम्मलित यज्ञ में ही नृष्टि की रक्षा होती है। अग्नि ऊरर की ओर जाकर सोम नींवे की ओर आकर अग्नि वन जाता है। इन दोनों के सम्मुट में निरन्तर यह विश्व रक्षा है। अग्नि जब सोम न वन जाए, तब तक ऊरर को ही जानी रहती है और सोम जब तक अग्नि न वन जाए, वह नींवे की ओर प्रवृत्त रहता है। इसका अर्थ है कि शिव शक्तिमन है और शक्ति शिवमन है। शिव और शक्ति जहाँ न हो, ऐपा कोई म्यान नहीं है।"

इस भावना के माय ही इस यन्त्र की पूजा की जाती है।

जगत् विकारमय है, इसमें विकारों का उत्पन्न हाना स्वाभाविक है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, पट् विकार प्रमिद्ध हैं। इन पर विजय प्राप्त करके ही मात्रक मुक्ति पथ प- अग्रग्रम हो मक्ता है। पट् कोण से यही अभिप्राय है कि पट् कोणों से अपने विकारहृषी शशुघ्रों को चेतकर नियन्त्रण में रखना चाहिए और अपने अन्तिम लक्ष्य का पूर्ति करनी चाहिए। इस भौतिक जगन् की सीमित इच्छाघो और कामनाओं पर विजय प्राप्त करके अपने को अनीम के साथ मिला देना चाहिए। जगत् की हर एक वस्तु को अपना रूप मानना चाहिए और अपने को पञ्चभौतिक शरीर न मानकर आत्मिक भाव में मध्यर समझना चाहिए और अपने में सारे विश्व को समाविष्ट मानना चाहिए। यह भाव क्रिया-रूप में पाने लगे, यही इस यन्त्र की पूजा का वाम्नविक उद्देश्य है।

सर्वतोभद्र यन्त्र—

इसका उल्लेख गीतमीय तत्र (३०। १०२-१०६) में किया गया है। इसे महायन्त्र कहते हैं। इसकी महान् महिमा का वर्णन करते हुए तत्र में कहा गया है कि यह गोचर और अगोचर सभी



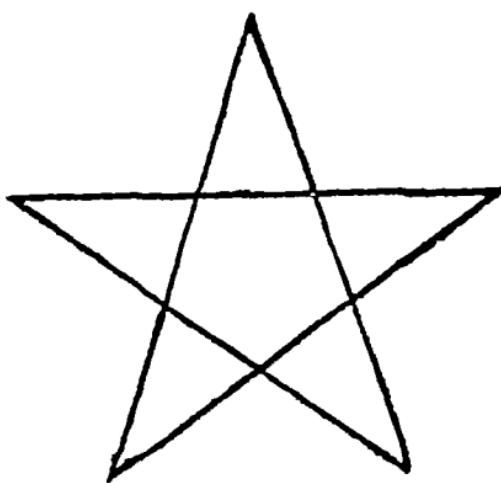
सर्वतो भद्र यन्त्र

प्रकार के फलों का दाता है, भले ही वर्तमान के हो या भविष्य के। सर्वतोभद्र का अभिप्राय है—सब और से एक जैसा बराबर। विष्णु भगवान् के रथ का भी यही नाम शास्त्रो में आता है। यह यत्र आदर्श जीवन व्यनीत करने का शिक्षण है। आदर्श जीवन एक कौटि की तरह है, जिसके दोनों पलड़े बराबर हो। आय-व्यय, श्रम-विश्राम और सग्रह-त्याग दोनों बराबर हो। यदि एक की ओर अधिक भुक्ताव होगा, तो सासारिक जीवन में व्यवधान उपस्थित हो जायेगे। दोनों की नाप-तौल बराबर होनी चाहिए। गृहस्थ और समाज में सभी से एक जैसा व्यवहार हो। भेद की उत्पत्ति कलह, व्लेश और झगड़ों की जड़ तो है ही, साथ ही उस व्यक्ति के आध्यात्मिक गिरावट का भी चिन्ह है। भौतिक जीवन के मान, अपमान, सुखों, दुखों, ऐश्वर्यों और अभावों में एक जैसा रहना ही इस यन्त्र की प्रेरणा है। पद, मान और धन पाकर अहङ्कार से फूले नहीं और अपमान दुख और अभाव के जीवन से निराश न हो। दोनों स्थितियों में समान भाव वाला हो, जैसे जनक ने कहा था कि मेरा एक हाथ रमणी के कन्धे पर रख दो और दूसरा हवनकुड़ मेरे रख दो। दोनों स्थितियों मेरे मन में कोई अन्तर नहीं आएगा। जीवन को हस स्तर तक लाना ही सर्वतोभद्र यन्त्र वा उद्देश्य है।

स्मरहर यन्त्र—

इसका उल्लेख श्यामास्तव (श्लोक १८) मे है। इसका प्रयोग काम पर विजय के लिए किया जाता है। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर, भय, शोक, निराशा आदि मनोविकार असुर रूपी शशुभ्रों के रूप में हर व्यक्ति के जीवन में आते हैं। जब तक इनसे कठा सघर्ष करके इन्हे परास्त नहीं कर लिया जाता, तब तक जीवन का उत्थान असम्भव है। भगवान् बुद्ध के सामने भी यही परिस्थितियाँ आई थीं। उन्हे भी मनोविकारों ने घेरा था, उन्हें भी उनसे लोहा लेना पढ़ा था।

इनके प्रति सजग रहना ही इस यन्त्र की प्रेरणा है । इसके महयोग



स्मरहर यन्त्र

से उन्हें वश मे किया जा सकता है । इसलिए इसको स्मरहर यन्त्र कहते हैं ।

इसी तरह से अन्य यन्त्रों का अध्ययन किया जा सकता है । यह यन्त्र केवल रेखाचित्र मात्र ही नहीं, वरन् उद्देश्यपूर्ण प्रेरणायें हैं ।

• • •

वर्णों की रैखाकृतियाँ शक्ति के स्रोत हैं

शक्ति का रूप—

वर्ण को यन्त्र की सज्जा दी गई है, प्रत्येक वर्ण एक शक्ति विशेष है। यन्त्र में वर्णों के पर्यायवाची शब्द हैं—माता, शक्तियाँ, देवियाँ, रश्मि और कला। शिव सूत्र (प्र० प्रश्नाश) में कहा है—

अकारादिक्षपर्यन्ता कलान्ता शब्दकारणाम् ।

मातर शब्दयोदेव्यो रश्मयश्च कला स्मृता ॥

अर्थात् “अकारादि से क्षकार पर्यन्त वे कलाएँ हैं, जो शब्द के निर्माण का कारण है। मातृका देवियाँ शक्तियाँ हैं और उनकी रश्मियाँ कला बतलाई गई हैं।”

वे निमलता के प्रतीक हैं। सून-सहिता यज्ञ वै० ख० ४७ अ० में कहा है—

अकारादिक्षरान्तैर्वर्णरत्यन्तनिमंले ।

अशेषशब्दैर्या भाति तामानन्दप्रदा नुम ॥

अर्थात् “अक्षार आदि से लेकर अक्ष के अन्त तक अत्यन्त निर्मल वर्णों से और अशेष शब्दों से जो शोभित होती है, उस आनन्द के प्रदान करने वाली को हम नमन्कार करता है।”

योग की भाषा में वर्णों का आविर्भाव इस प्रकार हुआ—

आवागदिपटकमलदलेषु पातिता द्वादशान्मिथतचन्द्र
मडलात्सृता अमृतविन्दवोऽकारादिक्षकारान्तवरणात्मिना परिणता
उक्तं ह्याचार्यो—

मूलाचारात्म्फुरिततदिदाभा प्रभा सूक्ष्म रूपो-
दगच्छन्त्य। मस्तकमग्रुतरा तुजसा मूल भूता ।
सौपुम्णा ध्वाचरणनिपुणामा सवित्रानुविद्वा-
ध्याता सद्योऽमृतमय रवे स्नावयेत् सार्धसोमात् ।
शिरसि निपत्तित या विन्दुधारा सुधाया ।
भदति लिपिमयी सा ताभिरङ्ग्न मुखाद्यम् ॥

—तात्पर्यदीपिका

अर्थात् ‘आवागदि पटकमल के दलों में पातित द्वादशान्त मिथ्यत
चन्द्र-मडल से नि सृत अमृत की विदुएं अकार से अकार के अन्त तक
वर्णों के म्बरूप में परिणत होने वाली हैं । आचार्यों ने कहा है—

मूलाधार में म्फुरित विद्युत् की आभा के समान प्रभाव वाला
जो सूक्ष्मरूप नसमें निकलती हूई, मस्तक में लेकर अणुतर तेज की मूल-
मूना, सुपुम्णा के मार्ग से सचरण करने में निपुण, मविता से अनुबन्ध
उचका जब व्यान किया जाता है, तो वह तुरन्त ही साध, सोम, रवि
में अमृत का स्नवण किया करती है । वह सुधा की विन्दु धारा सिर पर
गिरी हूई निपिमयी हो जाती है उनमें मुखादि अङ्ग भी पूरित
होते हैं ।”

कुछ विशेष वर्णों की विशिष्ट शक्तियों का उल्लेख अलग-अलग
तन्त्रों में आता है । प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में कहा है—

सार्णोनाष्ठत्रय व्याप्तम् ।

‘स’ वर्ण के द्वारा ससार रफुट रूप में प्रकाशित होता है ।

‘परात्रिशक्ता’ में ‘सकार’ को तृतीय ब्रह्म की सज्जा दी गई है ।
यथा—

तृतीय ब्रह्म सुश्रोणि ।

क्योंकि गीता में त्रिविध ब्रह्म का उल्लेख ग्राया ही है—
 ॐ तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधि स्मृत् ।
 'मकार' की महिमा अन्यत्र भी उपलब्ध होती है—
 सोम चामृतनाथ च सुधा सार सुधानिधिम् ।
 सकार षड्रसाधार नामभि परिकीर्तितम् ।

—विवेक पृ १६४

अर्थात् “सोम, अमृतनाथ, सुधासार, सुधानिधि, सकार पट्टरसो का आधार है, जो इन नामों से कीर्तित किया गया है ।”

कामधेनु तन्त्र में वरणों की विशेषताओं का वर्णन करते हुए उन्हे विश्व-ब्रह्माड में व्यास पचास युवतियाँ कहा गया है, जो ब्रह्मरूप हैं और कोई भी यत्र तथा विद्या इनसे परे नहीं है ।

अन्य वरणों की शक्तियों का भी विश्लेषण किया गया है । जैसे कि 'अ' चित् शक्ति, 'आ' आनन्द शक्ति 'इ' इच्छा-शक्ति, 'उ' ज्ञान-शक्ति के नाम हैं । 'ए', 'ऐ', 'ओ', 'ओ' यह चारों वरणों क्रिया-शक्ति के प्रतीक स्वीकार किए गए हैं ।

डा० शिवशङ्कर अवस्थी ने वरणों की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—“वर्ण केवल साकेतिक ध्वनियाँ ही नहीं हैं, उनके मूल में विश्व-स्थिति और जगत्-स्थिति के सम्पूर्ण सघटक, स्थितिक और सहारक तत्व विद्यमान हैं । एक और जहाँ उनके द्वारा काम, क्रोध, लोभादि उद्भावित होकर मनुष्य की आत्मा को अत्यन्त स्वार्थी और सकुचित बना डालते हैं, वह वर्ण-ममुदाय ही व्यक्ति को आत्मिक दृष्टि से अत्यन्त उदार एवं मुक्त करने की क्षमता भी रखता है । सत्य तो यह है कि वर्ण ही ज्ञान-विज्ञान की कुंजी है । सम्पूर्ण वाच्यात्मक विश्व वाचक वरणों के ही अधीन है ।

सृष्टि के अदिम क्षण से ही शब्द और अथ अविनाभूत है । सूक्ष्म को आत्मसात् कर लेने पर समस्त स्थूल भी गृहीत हो जाता है,

इसमें कोई आश्चर्य की वात नहीं, मनस्ते सातुका-वर्ग मन्त्रो अथवा विद्याओं के जनक हैं ”

ध्वनि की विशेषता—

‘मेतुवन्व’ में लिखा है कि वर्ग में ध्वनि विद्यमान रहती है, जिसने नाद-नत्व की उत्पत्ति होनी है। नाद-नत्व का अनुमन्त्रान करने वाले आचार्यों का कहना है कि नवमं पहले उमका आरम्भ मूलावार चक्र में होता है। फिर वह मणिपूर और ग्रनाहन चक्रों में आता है, जहाँ प्राण और मन से उमका मिलन होता है और वह पश्यन्ती तथा मव्यमा का रूप धारण कर लेता है। वही नाद-नत्व गते में आता है और वैस्त्री स्वप्न ले लेता है। जैस बीज में वृक्ष, फल और पून मूढ़प स्वप्न से निवास करते हैं, उसी तरह में नाद-नत्व में वर्ण-राणि रहती है।

आज के विज्ञान-युग का मानव ध्वनि के चमत्कारों में अपरिचित नहीं है। मनोरजन से लेकर नोग-निवृत्ति तक के सभी ऐओं में इसने आठवर्यजनक शक्ति-प्रदर्शन किया है। आध्यात्मिक क्षेत्र में तो इसका प्रयोग लाखों वर्षों से होता आ रहा है।

रेखाकृतियों का विज्ञान—

वर्णों की रेखाकृतियों का विज्ञान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि इनका निर्धारण, अनुमान या उच्चारण की मुविवा में कुछ विशेषज्ञों अथवा विद्वानों द्वारा नहीं किया गया है। अन्य लिपियों का कारण वाह्य भौतिक कारण है। जैन चीन की निषि वृक्ष आदि प्राकृतिक वस्तुओं को देखकर बनाई गई है। हमारी वर्णनाला अदौक्तिक है। यह शृणियों की समाधि-प्रवस्था की अनुभूतियों का परिणाम है। अनुभवगम्य ध्वनियों से ही आकृति का निश्चय किया गया था। इसका परीक्षण एक जर्मन वैज्ञानिक ने किया था। उसने भी वर्णों की आकृतियों जैसी वातु की नलियाँ बनवाई। उनमें विशेष विश्व से वायु

क्योंकि गीता में त्रिविधि ब्रह्म का उल्लेख ग्राया ही है—
ॐ तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधि स्मृतः ।
'मकार' की महिमा अन्यत्र भी उपलब्ध होती है—
सोम च मृतनाथ च सुधा सार सुधानिधिम् ।
सकार पद्मरसाधार नामभि परिकीर्तितम् ।

—विवेक पृ १६४

अर्थात् “सोम, अमृतनाथ, सुवासार, सुधानिधि, सकार पद्मरसो का आधार है, जो इन नामों से कीर्तित किया गया है ।”

कामधेनु-तन्त्र में वर्णों की विशेषताओं का वर्णन करते हुए उन्हें विश्व-ब्रह्माङ्ग में व्याप्त पचास युवतियाँ कहा गया है, जो ब्रह्मरूप हैं और कोई भी यत्र तथा विद्या इनसे परे नहीं है ।

अन्य वर्णों को शक्तियों का भी विश्लेषण किया गया है । जिमें कि 'अ' चित्-शक्ति, 'आ' आनन्द शक्ति 'इ' इच्छा-शक्ति, 'उ' ज्ञान-शक्ति के नाम हैं । 'ए', 'ऐ', 'ओ', 'ओ' यह चारों वर्ण क्रिया-शक्ति के प्रतीक स्वीकार किए गए हैं ।

डा० शिवशङ्कर अवस्थी ने वर्णों की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—“वर्ण केवल माकेतिक घटनियाँ ही नहीं हैं, उनके मूल में विश्व-स्थान और जरीर-मम्मा के मम्पूर्ण सघटक, स्थापक और सहारक तत्व विद्यमान हैं । एक और जहाँ उनके द्वारा काम, क्रोध, लोभादि उद्भावित होकर मनुष्य की आत्मा को अत्यन्त स्वार्थी और सकुचित बना डालते हैं, वह वर्ण-ममुदाय ही व्यक्ति को आत्मिक हृषि से अत्यन्त उदार एव मुक्त करने की क्षमता भी रखता है । सत्य तो यह है कि वर्ण ही ज्ञान-विज्ञान की कुंजी है । मम्पूर्ण वाच्यात्मक विश्व वाचक वर्णों के ही अवीन हैं ।

सृष्टि के श्रद्धिम धरण में ही शब्द और शब्द अविनाभूत है ।

सूक्ष्म को आत्ममात् कर लेने पर समस्त स्थूल भी गृहीत हो जाता है,

इसमें कोई आश्चर्य की वात नहीं, सबसे मानृका-वर्ग मन्दो अपवा विद्याओं के जनक हैं ”

ध्वनि की विशेषता—

‘भेतुवन्ध’ में लिखा है कि वर्ग में ध्वनि विद्यमान रहती है, जिसमें नाद-नत्व की उत्पत्ति होती है। नाद-नत्व का अनुमन्धान करने वाले आचार्यों का कहना है कि सबसे पहले उसका आरम्भ मूलायाग चक्र ने होता है। फिर वह मणिपूर और अनाहन चक्रों में आता है, जहाँ प्राण और मन से उसका मिलन होता है और वह पश्यन्ती तथा मध्यमा का रूप धारण कर लेता है। वही नाद-नत्व गते में आता है और वैद्यनी रूप ले लेता है। जैसे बीज में वृक्ष फल और पून मूदम रूप से निवास करते हैं, उसी तरह से नाद-नत्व में वर्ण रागि रहती है।

आज के विज्ञान-युग का मानव ध्वनि के चमत्कारों में अपरिचित नहीं है। मनोरञ्जन से लेकर नोग-निवृत्ति तक के सभी क्षेत्रों में इसने आश्चर्यजनक शक्ति-प्रदर्शन किया है। आध्यात्मिक क्षेत्र में तो इसका प्रयोग लाखों वर्षों से होता आ रहा है।

रेखाकृतियों का विज्ञान—

वर्णों की रेखाकृतियों का विज्ञान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि इनका निर्वारण, अनुमान या उच्चारण की मुविवा में कुछ विशेषज्ञों अथवा विद्वानों द्वारा नहीं किया गया है। अन्य लिपियों का कारण वाह्य भौतिक कारण है। जैसे चीज़ों की निर्धारण वृक्ष आदि प्राकृतिक वस्तुओं को देखकर बनाई गई है। हमारी वण्णनाला अलीकिक है। यह छृष्टियों की समाधि-ग्रन्थियों की अनुमूलियों का परिणाम है। अनुभवगम्य ध्वनियों से ही आकृति का निश्चय किया गया था। इसका परीक्षण एक जर्मन वैज्ञानिक ने किया था। उसने नभी वर्णों की आकृतियों जैसी घातु की निर्णयाँ बताई। उनमें विशेष विवेच से बायु

को फूँका गया । परिणामस्वरूप उमी तरह का उच्चारण होने लगा, जिस तरह हम बोलते हैं । इसमें स्पष्ट है कि इन वर्णों का छवि में घनिष्ठ सम्बन्ध है । अन वर्णों के जो हम स्थूल रूप देखते हैं, इनके मुक्तप्र रूप हैं, जिन्हें हमारे अर्द्ध-महर्षियों ने ज्ञान-वक्तुपों से देखा था ।

स्वरूप—

'कामधेनु-तत्त्व' में वर्णों के स्वरूप की चर्चा की गई है—

शृणु तत्त्वमकारस्य शक्तिगोप्य वरानने ।

शरच्चन्द्रप्रतीकाश पञ्चकोणमय सदा ।

पञ्चदेवमय वर्णं शक्तित्रयसमन्वितम् ।

निर्गुणं त्रिगुणोपेतं स्वयं केवल्यमूर्तिमान् ।

बिन्दुतत्त्वमय वर्णं स्वयं प्रकृतिरूपिणी ।

श्राकारं परमाश्चयं शङ्खज्योतिर्मय श्रिये ।

ब्रह्मविष्णुमय वर्णं तथा रूद्रमय प्रिये ।

पञ्चप्राणमय वर्णं स्वयं परमकुण्डलो ।

इकारं परमानन्दं सुगन्धकुमुमचृविम् ।

हरिब्रह्ममय वर्णं सदा रूद्रयुतं त्रिये ।

सदाशक्तिमय देवि गुरुब्रह्ममय तथा ।

सदाशिवमय वर्णं पर ब्रह्मसमन्वितम् ।

हरिब्रह्मात्मक वर्णं गुणत्रयममन्वितम् ।

इकारं परमेशानि स्वयं कुडनो मूर्तिमान् ।

—कामधेनु तत्त्व (हन्तिवित)

इकारं परमेशानि स्वयं परमकुडतो ।

ब्रह्मविष्णुमय वर्णं तथा रूद्रमय मदा ।

पञ्चदेवमय वर्णं पीतविद्युल्लताकृतिम् ।

न्तुज्ञनिमय वर्णं पञ्चप्राणमय मदा ।

अपर्यन् है वरगतने । श्राकार का तत्त्व मुझों, जो अवन्न गापनीय

है। यह शर्तुरालीन चन्द्रमा के तुच्छ है और मदा पाँच गुणों से पूर्ण है। पाँच इन्होंने युक्त है तथा वर्ण और अविनश्य में युक्त है। निरुगुण है और तीन गुणों में युक्त है। यह स्वयं कैवल्य की मूर्ति बाजा है। विद्वु-तत्त्व में पूर्ण है और स्वयं ही प्रकृतिस्वप्नी है। हे प्रिये, प्राकार परम आश्चर्य है, जो अन्व की उरोति मयुक्त है। हे प्रिये। वर्ण ब्रह्मा और विष्णु न परिपूर्ण है तथा रुद्रमय है। पाँच प्राणामय वर्ण है और स्वयं परम कुण्डली है। इकार परम आनन्द, मुन्द्र गत्र वाल कुमुम री शाभा स युक्त है। हे दिवि! यह मदा विष्णु, ब्रह्मा, और रुद्र में युक्त है। हे दिवि! मदा तीत अविन और गुह-ब्रह्म स युक्त है। मदा शिवमय वर्ण है तथा परब्रह्म से ममन्वित है। हरि ब्रह्म-स्वरूप बाजा वर्ण है और तीन गुणों से सयुक्त है। हे परमेशानि! स्वयं यह मूर्तिमान कुण्डली है।

इकार हे परमेशानि! स्वयं परम कुण्डली है। ब्रह्म विष्णुमय वर्ण तथा मदा रुद्रमय है। पाँच देवमयवर्ण है और विद्युत्तता के आकार बाजा पीन है। चतुर्ज्ञानमय वर्ण है तथा मदा पाँच प्राणामय होता है।"

उकार परमेशानि अब कुण्डलिनी स्वयम् ।

पीतचम्पकमङ्काग पञ्चदेवमय सदा ।

पञ्चप्राणामय देवि चतुर्वर्गप्रदायकम् ।

चत्त्वंकुन्दसमाकार उकार परमकुण्डली ।

पञ्चप्राणामय वर्णं पञ्चदेवमय सदा।

धर्मर्थकाममोक्ष च सदासुखप्रदायकम् ॥

ऋकार परमेशानि कुण्डली मूर्तिमान् स्वयम् ।

अत्र ब्रह्मा च विष्णुश्च रुद्रश्चेव वरातने ।

मदाशिवयुत वर्णं मदा ईश्वरसयुनम् ।

पञ्चप्राणामय वर्णं चतुर्ज्ञानमय तथा ।

रक्तविद्य ल्लताकार ऋकार प्रणामम्बवहम् ॥

को फूँका गया । परिणामस्वहर उनी तरह का उत्त्वारण होने लगा, जिस तरह हम वो नहीं हैं । इसमें स्पष्ट है कि इन वर्णों का व्वनि में घनिष्ठ मम्बन्य है । अन वर्णों के जो हम स्थूल रूप देखते हैं, इनके पूर्ण रूप हैं, जिन्हे हमारे ग्रीन्ड मर्किंगो न जान-वक्तुवा ने देखा था ।

स्वरूप—

'कामधेनु-तन्त्र' में वर्णों के स्वरूप की चर्चा की गई है—

शृणु तत्त्वमकारस्य अन्तिगोप्य वरानने ।

शरच्चन्द्रप्रतीकाश पञ्चकोणमय मदा ।

पञ्चदेवमय वर्णं शक्तिर्यममन्वितम् ।

निर्गुण त्रिगुणोपेत स्वयं केवलमूर्तिमान् ।

विन्दुतत्त्वमय वर्णं स्वयं प्रकृतिरूपिणी ।

आकार परमात्मय शङ्खज्यातिर्मय प्रिये ।

ब्रह्मविष्णुमय वर्णं नथा रूद्रमय प्रिये ।

पञ्चप्राणमय वर्णं स्वयं परमकुण्डलो ।

इकार परमात्मद सुगन्धकुमुमचृतविम् ।

हरिब्रह्ममय वर्णं सदा रूद्रयुत प्रिये ।

सदागक्तिमय देवि गुरुब्रह्ममय तथा ।

सदाशिवमय वर्णं पर ब्रह्मसमन्वितम् ।

हरिब्रह्मात्मक वर्णं गुणत्रयममन्वितम् ।

इकार परमेशानि स्वयं कुडनो मूर्तिमान् ।

—कामधेनु-तन्त्र (हन्तनिभिन)

इकार परमेशानि स्वयं परमकुडलो ।

ब्रह्मविष्णुमय वर्णं तथा रूद्रमय मदा ।

पञ्चदेवमय वर्णं पीतविद्युल्नताकृतिम् ।

ब्रह्मनिमय वर्णं पञ्चप्राणमय सदा ।

न्नर्थादि 'हे वर्णने । ग्रंकार का तत्त्व मुना, जो ग्रन्थन गावनीय

है। यह शात्रुकालीन चन्द्रमा के तुच्छ है और नदा पाद कोणों में पूर्ण है। पाँच इबों में युक्त है तथा वर्ण और शक्तित्रय में युक्त है। निरुग्ण है और तीन गुणों से युक्त है। यह स्वयं केवल्य की मूर्ति वाला है। विदु-तत्त्व से पूर्ण है और स्वयं ही प्रकृतिहसी है। हे प्रिये, आकार परम आश्चर्य है, जो शक्ति की जरोति सम्युक्त है। हे प्रिये। वरण न्रज्ञा और विष्णु में परिपूर्ण है तथा रुद्रमय है। पाँच प्राणमय वर्ण हैं और स्वयं परम कुण्डली हैं। इकार परम आनन्द, मुन्द्र गध वाल कुमुप की शाभा स युक्त है। हे देवि। यह मदा विष्णु, ब्रह्मा, और रुद्र न युक्त है। हे देवि। सदा तीन शक्ति और गुरु-ब्रह्म में युक्त है। मदा शिवमय वरण है तथा परब्रह्म से समन्वित है। हरि ब्रह्म-स्वरूप वाला वरण है और तीन गुणों स सम्युक्त है। हे परमेशानि। स्वयं यह मूर्तिमान कुण्डली है।

इकार है परमेशानि। स्वयं परम कुण्डली है। ब्रह्म विष्णुमय वरण तथा मदा रुद्रमय है। पाँच देवमयवर्ण हैं और विद्युन्तता के आकार वाला पीन है। चतुर्जीनिमय वर्ण है तथा मदा पाँच प्राणमय होता है।”

उकार परमेशानि अब कुण्डलिनो स्वयम् ।

पीतचम्पकमङ्काग पञ्चदेवमय सदा ।

पञ्चप्राणमय देवि चतुर्वर्गप्रदायकम् ।

शङ्खकुन्दममाकार उकार परमकुण्डली ।

पञ्चप्राणमय वरण पञ्चदेवमय सदा।

धर्मार्थकाममोक्ष च सदासुखप्रदायकम् ॥

ऋकार परमेशानि कुण्डलो मूर्तिमान् स्वयम् ।

अत्र ब्रह्मा च विष्णुश्च रुद्रश्चेव वर्गनने ।

मदाशिवयुत वरण मदा ईश्वरसयुनम् ।

पञ्चप्राणमय वरण चतुर्जीनिमय तथा ।

रक्तविद्युल्लताकार ऋकार प्रणाम्यहम् ॥

ऋकार परमेशानि स्वयं परमकुण्डलम् ।
 पीतविद्युल्लताकारं पचदेवमयं सदा ।
 चतुर्जन्मिमयं वर्णं पचप्राणायुतं सदा ।
 त्रिशक्तिसहितं वर्णं प्रणामामि सदा प्रिये ॥

—कामधेनु-तत्त्व

अथवा “हे परमेशानि । उकारं स्वयं मयं कुण्डलिनी है । पीतं चम्पा के समान है और सदा पचदेवमय है । हे देवि ! पांच प्राणमय और चारों वर्णों का प्रदायक है । शख्स और कुन्द के आकार वाला ऊर्जार परम कुण्डली है । पांच प्राणमय वर्णं और सदा पच देवमय है । धर्म, प्रथा, काम, मोक्ष और सुख का देने वाला है । हे परमेशानि । शूकार स्वयं मूर्तिमान कुण्डली है । हे वरानने । यहाँ ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हैं । सदा शिवपुत्र वर्णं और सदा ईश्वर मे सयुत है । पांच प्राणमय वर्णं तथा चतुर्जन्मिमय है । रक्तविद्युल्लता के आकार के तुल्य है और स्वयं परम कुण्डली है ।

पीत विद्युल्लता के आकार के समान सदा पांच दबों से परिपूर्ण है । चतुर्जन्मिमय वर्णं है और सदा पांच प्राणों से युक्त है । त्रिशक्ति से युक्त वर्णं है । हे प्रिये । मैं सदा इसे प्रणाम करता हूँ ।”

लृकार चचलापाञ्जि कुण्डली परदेवता ।
 श्रव ब्रह्मादय सर्वे तिष्ठन्ति सततं प्रिये ।
 पचदेवमयं वरणं चतुर्जन्मिमयं सदा ।
 पचप्राणायुतं वरणं तथा गुणत्रयात्मकम् ।
 बिन्दुत्रयात्मकं वरणं पीतविद्युल्लता तथा ॥
 एकारं परमेशानि ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ।
 रञ्जनीकुसुमप्रस्त्रं पचदेवमयं सदा ।
 पचप्राणात्मकं वरणं तथा विन्दुत्रयात्मकम् ।

कृत्याप्तं तेऽविस्त्रयं परमकुण्डली ॥

ऐकार परम दिव्य महाकुण्डलिनी स्वयम् ।
 कोटिचन्द्रप्रतीकाश पचप्राणमय सदा ॥
 ब्रह्मविष्णुमय वर्णं विन्दुत्रयसमन्वितम् ।
 ओकार चचलापाञ्जि पचदेवमय सदा ।
 रक्तविद्युत्लताकार त्रिगुणात्मानमीश्वरम् ॥
 पचप्राणमय वर्णं नमामि देवमातरम् ।
 एतद्वर्णं महेशानि स्वय परमकुण्डली ॥

अर्थात् “हे चचल ओ गो वाली ! ऋकार कु डली और पर-देवता है । यहाँ पर हे प्रिये । ब्रह्मादिक मब निरन्तर मिथ्यत रहा करते हैं । पच देवमय वर्ण है और सदा चतुर्जनिमय है । पच प्राणयुत् वर्ण है तथा तीन गुणों के स्वरूप वाला है । तीन विन्दुओं के रूप वाला वर्ण तथा पीत विद्युत्लतामय है । हे परमेशानि ! एकार ब्रह्मा, विष्णु और शिवात्मक है । रज्जनी के कुसुम के समान है और सदा देवमय है । पच प्राणात्मक वर्ण है तथा विन्दुत्रय के स्वरूप वाला है । हे देवि । चारों वर्गों के देने वाला और स्वय परमकु डली है ।

ऐकार परम दिव्य है और स्वय महाकु डलिनी है । करोड़ चन्द्र के तुल्य चमकता है और सदा पच प्राणमय है । ब्रह्मा-विष्णुमय वर्ण है और तीन विन्दुओं से युक्त है । हे चचलापाणि ! ओकार सदा पच-देवों में पूरा है और रक्त विद्युत्लता के ग्राकार वाला है । त्रिगुणात्मा और ईश्वर है । पच प्राणमय वर्ण है । ऐसी वेदमाता को मैं नमस्कार करता हूँ । हे महेशानि ! यह वर्ण है और वह स्वय कु डली है ।”

रक्तविद्युत्लताकार ग्रीकार कुडण्ली स्वयम् ।
 अत्र ब्रह्मादय सर्वे तिष्ठन्ति मतत प्रिये ।
 पचप्राणमय वर्णं सदा शिवमय सदा ।
 सदा ईश्वरसयुक्त चतुर्वर्गप्रदायकम् ॥
 अङ्गार विन्दुमयुक्त पीतविद्युत्समप्रभम् ।

कुण्डलता के आकार वाला और सदा त्रिगुण से समन्वित है। पच देवमय वर्ण हैं और सर्वदा पञ्च प्राणमय हैं। तीन शक्तियों के सहित वर्ण हैं और मदा तीन विन्दुओं से सम्मुख हैं। छकार परम आश्चर्यपूरण है तथा स्वयं परम कुण्डली है। यह सतत कुण्डली से युक्त तथा सदा एवं देवमय है।"

पञ्चप्राणमय वर्ण त्रिशक्तिसहित सदा ।

त्रिविन्दुसहित वर्ण सदा ईश्वरसम्मुख ।

पीतविद्युल्लताकार छकार प्रणामाम्यहम् ।

जकार परमेशानि या स्वयं मध्यकृण्डली ।

शरत्त्वन्द्रप्रतीकाश सदा त्रिगुणसम्मुखम् ।

पचदेवमय वर्ण पचप्राणात्मक सदा ।

त्रिशक्तिसहित वर्ण त्रिविन्दुमहित प्रिये ।

— चतुर्थं पट्टम्

अर्थात् "पञ्च प्राणमय वर्ण है और सदा तीन शक्तियों के सहित है। तीन विन्दुओं के सहित वर्ण है और सदा ईश्वर से सम्मुख है। पीत विद्युल्लता के आकार वाला जो छकार है उसको मैं प्रणाम करता हूँ। हे परमेशानि ! जकार स्वयं मध्य कुण्डली है। शरत्काल के चन्द्रमा के तुल्य है तथा सदा त्रिगुण से सम्मुख है। पञ्च देवपूरण वर्ण है तथा मदा पञ्च प्राणात्मक है। तीन शक्तियों के सहित वर्ण है और हे प्रिये ! वह तीन विन्दुओं के सहित है।"

झकार परमेशानि कृण्डलीमोक्षाहृषिणी ।

रक्तविद्युल्लताकार सदा त्रिगुणसम्मुखम् ।

पचदेवमय पचप्राणात्मक सदा ।

त्रिविन्दुमहित वर्ण त्रिशक्तिसहित मदा ।

सदा ईश्वर सम्मुखम् ॥

रक्तविद्युल्लताकार स्वय परमकुण्डली ।
 प चदेवमय वर्ण प चप्राणात्मक सदा ।
 त्रिशक्तिसहित वर्ण त्रिविन्दुपहित सदा ।
 ठकार च चलापागि स्वय परमकुण्डली ।
 प चदेवमय वर्ण प चप्राणमय सदा ।
 त्रिशक्तिपहित वर्ण त्रिविन्दुपहित सदा ।
 ठकार च चलापागि कुण्डली मोक्षरूपिणी ।
 पीतविद्युल्लताकार सदा त्रिगुणसयुतम् ।
 प चदेवात्मक वर्ण प चप्राणमय सदा ।
 त्रिविन्दुसहित वर्ण त्रिशक्तिपहित सदा ।

— चतुर्थ पट्टन

अर्थात् ‘हे परमेशानि ! भकार कुण्डली का मोक्षरूपी है । रक्तविद्युल्लता के आकार वाला त्रिगुण से सयुत है । पच देवमय वर्ण है और सदा पच प्राणात्मक होता है । त्रिविन्दुओं से सहित वर्ण है तथा सदा तीन शक्तियों से सयुत होता है । हे पार्वति ! आकार सदा ईश्वर से सयुत होता है —सुन लो । रक्त विद्युल्लता के आकार वाला तथा सदा पच प्राणात्मक होता है । तीन शक्तियों से युक्त वर्ण और सदा त्रिविन्दु सहित है । ठकार स्वय परम कुण्डली है । पच देवमय वर्ण और सदा पच प्राणमय होता है । तीन शक्तियों वाला वर्ण तथा सदा त्रिविन्दुओं से युक्त है । ठकार मोक्ष रूपिणी कुण्डली । हे पीत द्युल्लता के आकार सयुक्त है । पचदेवात्मक वर्ण है तथा सदा पच प्राणमय होता है । तीन विन्दुओं के सहित वर्ण होता है और सदा तीन शक्तियों में युक्त हुआ करता है ।’

डकार चचलापाङ्गि सदा त्रिगुणसयुतम् ।
 पञ्चदेवमय वर्ण पञ्चप्राणमय तथा ।
 त्रिशक्तिसहि वर्ण त्रिविन्दुपहित सदा ।

पचप्राणात्मक वर्ण ब्रह्मादिदेवतामयम् ॥
 सर्वज्ञानमय वरण विन्दुमयसमन्वितम् ।
 अ कार परमेशानि विसर्गसहित सदा ।
 रक्तविद्युत्प्रभामयम् ।

अर्थात् “रक्त विद्युल्लता के आकार मे युक्त और अकार स्वय कु डली है । हे प्रिये । यहाँ पर ब्रह्मादि सब स्थित रहते हैं । पच प्राणमय वरण हैं और सदा शिवमय है । सदा ईश्वर से युक्त और चारों वेदों का देने वाला है । अकार विदु से सर्यूत है और धीत विद्युत की प्रभा के समान आभा वाला है । पञ्च प्राणात्मक वरण है तथा ब्रह्मा आदि देवताओं से पूरण है । सर्वज्ञानमय वरण है, जो विन्दुत्रय से युक्त है । अ कार है परमेशानि । सदा विसर्ग से सहित है तथा रक्त विद्युत वी प्रभा से परिपूर्ण है ।”

ककार परमेशानि कुण्डलीत्रयसयुतम् ।
 खकार परमशाच्य शङ्खकुन्दसमप्रभम् ।
 कोणत्रययुत रम्य विन्दुत्रयममन्तिम् ।
 गेणत्रययुत देवि पचदेवमय सदा ।
 प्रिशक्तिसयुत वरण सवशक्त्यात्मक प्रिये ।
 गकार परमेशानि पचदेवात्मक सदा ।
 निगुण त्रिगुणोपेत निरीह निर्मल सदा ।
 पचप्राणमय वरण गकार प्रणामाम्यहम् ॥
 अस्त्रणादित्यसङ्घाश कुण्डली प्रणामाम्यहम् ॥
 घकार चञ्चलापाञ्जि चतुष्कोणात्मक सदा ।
 पचदेवमय वर्ण तस्त्रणादित्य सन्निभम् ।
 निगण त्रिगुणोपेत सदा त्रिगुणमयुतम् ।
 सर्वंग सवद शान्त घकार प्रणामाम्यहम् ।

अर्थात् “हे परमेशानि । ककार कु डलीश्वय मे सयुक्त है । खकार परम आश्चर्ययुक्त है तथा शह्व और कुण्ड के समान प्रभा वाली है । तीन कोण के सहित है—रम्य और तीन विन्दुओं से समन्वित है । हे देवि । गुणश्वय से युक्त और सदा पञ्च देवमय है । तीन शक्तियों से मयुत वरण है और हे प्रिये । सर्वशक्तियों के स्वरूप वाना है । हे परमेशानि । गकार सदा पचदेवात्मक है । निगुण और तीन गुणों से ओत, निरीह एव सदा निर्मल है । पच प्राणमय वरण है । गकार को मैं प्रणाम करता हूँ । अरुण आदित्य के महसु कुण्डली को मैं प्रणाम करता हूँ । है चञ्चन उपागो वाली । घकार सदा चार कोणों के स्वरूप वाला है । पञ्च देवमय वरण है और तरुण सूर्य के नुल्य है । निगुण तथा त्रिगुणोपेनि है, सदा ही त्रिगुण से सयुत है । सबमे गमन करने वाला, सब देने वाला, शान घकार को मैं प्रणाम करता हूँ ।”

डकार परमेशानि स्वय परमकुण्डली ।
 सर्वदेवमय वरण त्रिगुण लोललोचने ॥
 पञ्चप्राणामय डकार प्रणामाभ्यहम् ।
 चवरणं शृणु सृश्रोणि चतुर्वर्गप्रदायकम् ।
 कुण्डलीसहित देवि स्वय परमकुण्डली ।
 रक्तविद्युत्लताकार सदा त्रिगुणसयुतम् ।
 पचदेवमय वरणं पचप्राणामय सदा ।
 त्रिशक्तिसहित वरण त्रिविन्दुसहित सदा ।
 छकार परमाइचर्यं स्वय परमकुडली ।
 सतत कुण्डलीयुक्त पचदेवमय सदा ।

अर्थात् “डकार हे परमेशानि । स्वय परम कुण्डली है, सर्व देवों से पूण वरण है तथा हे लोल लोचनो वाली त्रिगुण है । पच प्राणामय वरण वाले डकार को मैं प्रणाम करता हूँ, हे सृश्रोणि । अब चवग का श्वरण करो, जो चारों वर्गों का प्रदान करने वाला है । हे देवि ।

कुण्डल्लता के आकार वाला और सदा त्रिगुण से समन्वित है । पच देव-
मय वर्ण है और सर्वदा पञ्च प्राणमय है । तीन शक्तियों के सहित वर्ण
है और सदा तीन विन्दुओं से सयुत है । छकार परम आश्चर्यपूरण है
तथा स्वयं परम कुण्डली है । यह सतत कुण्डली से युक्त तथा सदा पञ्च
देवमय है ।”

पञ्चप्राणमय वर्ण त्रिशक्तिसहित सदा ।

त्रिबिन्दुसहित वर्ण सदा ईश्वरसयुतम् ।

पीतविद्युल्लताकार छकार प्रणामाम्यहम् ।

जकार परमेशानि या स्वयं मध्यकुण्डली ।

शरच्चन्द्रप्रतीकाश सदा त्रिगुणसयुतम् ।

पचदेवमय वर्ण पचप्राणात्मक सदा ।

त्रिशक्तिसहित वर्ण त्रिविन्दुमहित प्रिये ।

— चतुर्थ पटल

अर्थात् “पञ्च प्राणमय वर्ण है और सदा तीन शक्तियों के
सहित है । तीन विन्दुओं के सहित वर्ण है और सदा ईश्वर में सयुत है ।
पीत विद्युल्लता के आकार वाला जो छकार है उसको मैं प्रणाम करता
हूँ । हे परमेशानि । जकार स्वयं मध्य कुण्डली है । शरत्काल के चन्द्रमा
के तुल्य है तथा सदा त्रिगुण से सयुत हैं । पञ्च देवपूरण वर्ण है तथा
मदा पञ्च प्राणात्मक है । तीन शक्तियों के महित वर्ण है और हे प्रिये ।
वह तीन विन्दुओं के सहित है ।”

झकार परमेशानि कुण्डलीमोक्षरूपिणी ।

रक्तविद्युल्लताकार सदा त्रिगुणसयुतम् ।

पचदेवमय पचप्राणात्मक सदा ।

त्रिविन्दुमहित वर्ण त्रिशक्तिसहित मदा ।

रक्तविद्युत्तताकार स्वय परमकुण्डली ।
 प चदेवमय वर्णं प चप्राणात्मक सदा ।
 त्रिशक्तिसहित वर्णं त्रिविन्दुपहितं सदा ।
 ठकार च चलापागि स्वय परमकुण्डली ।
 प चदेवमय वर्णं प चप्राणमयं सदा ।
 त्रिशक्तिपहित वर्णं त्रिविन्दुपहितं सदा ।
 ठकार च चलापागि कुण्डली मोक्षरूपिणी ।
 पीतविद्युत्तताकारं सदा त्रिगुणसयुतम् ।
 प चदेवात्मकं वर्णं प चप्राणमयं सदा ।
 त्रिविन्दुसहित वर्णं त्रिशक्तिपहितं सदा ।

— चतुर्थ पट्टन

अर्थात् ‘हे परमेशानि । भक्तारं कुण्डली का मोक्षरूपी है । रक्तविद्युत्तता के ग्राकार वाला त्रिगुण से सयुत है । पच देवमय वर्ण है और सदा पच प्राणात्मक होता है । त्रिविन्दुओं से सहित वर्ण है तथा सदा तीन शक्तियों से सयुत होता है । हे पार्वति ! आकार सदा ईश्वर में सयुत होता है — सुन लो । रक्त विद्युत्तता के ग्राकार वाला तथा सदा पच प्राणात्मक होता है । तीन शक्तियां से युक्त वर्ण और सदा त्रिविन्दु सहित है । ठकार स्वय परम कुण्डली है । पच देवमय वर्ण और सदा पच प्राणमय होता है । तीन शक्तियां वाला वर्ण तथा सदा त्रिविन्दुओं से युक्त है । ठकार मोक्षरूपिणी कुण्डली । हे पीत ! द्युत्तता के ग्राकार सयुक्त है । पचदेवात्मक वर्ण है तथा सदा पच प्राणमय होता है । तीन विन्दुओं के सहित वर्ण होता है और सदा तीन शक्तियों से युक्त हुआ करता है ।’

डकार च चलापाङ्गि सदा त्रिगुणसयुतम् ।
 पञ्चदेवमय वर्णं पञ्चप्राणमयं तथा ।
 त्रिशक्तिसहि वर्णं त्रिविन्दुपहितं सदा ।

है। त्रिशक्ति के सहित वर्ण है और आत्मा आदि तत्त्वों में
त्रिविन्दु सहित वर्ण है और पीन वर्ण वाली विद्युत्तत्त्वा के
भी वाला है।"

थकार चचलापाञ्जि कुण्डलो मोक्षरूपिणी ।
त्रिशक्तिसहित वर्णं त्रिविन्दुमहित सदा ।
पचदेवमय वर्णं पचप्राणात्मक प्रिये ।
तरुणादित्यमञ्ज्ञाश थकार प्रणमाम्यहम् ।
दकार श्रृणु चार्वज्ञि चतुवगप्रदायकम् ।
पचदेवमय वरणं त्रिशक्तिसहित सदा ।
सदा ईश्वरसयुक्त त्रिविन्दुमहित सदा ।
आत्मादित्यसयुक्त स्वयं परमकुण्डली ।
रक्तविद्युत्तत्त्वाकार दकार हृदि भावय ।
घकार परमेशानि कुण्डलो मोक्षरूपिणी ।
आत्मादित्यसयुक्त पचदेवमय सदा ।
पचप्राणामय देवि त्रिशक्तिरूपित सदा ।
त्रिविन्दुसहित वरणं घकार हृदि भावय ।
पीतविद्युत्तत्त्वाकार चतुर्वगप्रदायकम् ।

५ “हे चञ्चनापाणि । थकार मोक्षरूपिणी कुण्डली है ।
इति वर्ण है और सदा त्रिविन्दु के महित है । पञ्च
र है प्रिये । पञ्चप्राणात्मक है । तरुण सूय के मट्टग
नमस्कार करता हूँ । हे चार्वाणि । अब दकार के
गो चारों वर्णों का प्रदान करने वाला है । यह
परिपूर्ण है तथा सदा तीनों शक्तियों से युक्त
है । आत्मा आदि शक्तियों से भी
प कुण्डली है । इम प्रकार रक्त
गर वाले दकार वरण की हृदय,

चतुर्जनिमय वर्णमात्मादितत्वसयुतम् ।
 पीतविद्युल्लताकार ढकार प्रणाम्यहम् ।
 ढकार परमराध्य या स्वय कुण्डीपरा ।
 पञ्चदेवात्मक वर्णं पञ्चप्राणमय सदा ।
 सदा त्रिगुणसयुक्त आत्मादितत्वसयुतम् ।
 रक्तविद्युल्लताकार ढकार प्रणाम्यहम् ।
 एकार परमेशानि या स्वय परमकुण्डली ।
 पीतविद्युल्लताकार पञ्चदेवमय सदा ।
 पञ्चप्रणमय देवि सदा त्रिगुणसयुतम् ।
 आत्मादितत्वसयुक्त महासौख्यप्रदायकम् ।
 तकार चञ्चलापाञ्जि स्वय परमकुण्डली ।
 पञ्चदेवात्मक वर्णं पञ्चप्राणमय तथा ।
 त्रिशक्तिसहित वर्णमात्मादितत्वसयुतम् ।
 त्रिविन्दुसहित वर्णं पीतविद्युत्समप्रभम् ।

—चतुर्थ पटल

अर्थात् “हे चञ्चलापाणि ! ढकार सदा त्रिगुण से युक्त है । पञ्च देवमय वर्ण है तथा पञ्च प्राणमय होता है । त्रिशक्ति सहित वर्ण और सदा त्रिविन्दु सहित है । चतुर्जनिमय वर्ण और आत्मादि तत्वों से सयुत् होता है । पीतविद्युल्लताकार ढकार को मैं नमस्कार करता हूँ । ढकार परमाराध्य है, जो स्वय परमकुण्डली है । पञ्च देवात्मक वर्ण और सदा पञ्च प्राणमय होता है । सदा त्रिगुण से ममन्वित है तथा आत्मा आदि तत्वों से पूण है । रक्त त्रिव्युल्लता के आकार वाले ढकार को मैं प्रणाम करता हूँ । हे परमेशानि ! एकार स्वय परमकुण्डली है । पीत विद्युल्लता के आकार वाला तथा सदा पञ्च देवमय है । हे देवि ! सदा पञ्च प्राणमय और त्रिगुण से मयुन हूँ । तकार स्वय परम कुण्डली है । पञ्च देवात्मक वर्ण है तथा पञ्च

प्राणमय है। त्रिशक्ति के सहित वर्ण है और आत्मा आदि तत्त्वों में युक्त है। त्रिविन्दु महित वर्ण है और पीन वर्ण वानी विद्युल्लनना के तुल्य प्रभा वाला है।”

यकार चचलापाञ्जि कुण्डली मोक्षरूपिणी ।
 त्रिशक्तिसहित वर्ण त्रिविन्दुमहित सदा ।
 पचदेवमय वर्ण पचप्राणात्मक प्रिये ।
 तरुणादित्यमङ्काश यकार प्रणमाभ्यहम् ।
 दकार शृणु चार्वज्ञि चनुवर्गप्रदायकम् ।
 पचदेवमय वर्ण त्रिशक्तिसहित सदा ।
 सदा ईश्वरसयुक्त त्रिविन्दुमहित सदा ।
 आत्मादितत्वसयुक्त स्वय परमकुण्डली ।
 रक्तविद्युल्लताकार दकार हृदि भावय ।
 घकार परमेश्वानि कुण्डलो मोक्षरूपिणी ।
 आत्मादितत्वसयुक्त पचदेवमय सदा ।
 पचप्राणमय देवि त्रिशचिरूहित सदा ।
 त्रिविन्दुसहित वर्ण घकार हृदि भावय ।
 पीतविद्युल्लतकार चतुर्वर्गप्रदायकम् ।

अर्थात् ‘हे चञ्चलापाणि । यकार मोक्षरूपिणी कुण्डली है । त्रिशक्ति के महित वर्ण है और सदा त्रिविन्दु के सहित है । पञ्च देवमा वर्ण है और हे प्रिये । पञ्चप्राणात्मक है । तरुण मूय के सदृश है, ऐसे यकार को मैं नमस्कार करता हूँ । हे चार्वांगि । अब दकार के विषय में श्रवण करो, जो चारों वर्णों का प्रदान करने वाला है । यह दकार वर्ण पाँ ओं देवों से परिपूर्ण है तथा सदा तीनों शक्तियों से युक्त और तीन विन्दुओं के महिन रहता है । आत्मा आदि शक्तियों से भी ममन्वित रहना है एव स्वय यह परम कुण्डली है । इस प्रकार रक्त विद्युल्लता के आकार के समान आकार वाले दकार वर्ण की हृदय,

भावना करो । अब धक्कार वरण के विषय में बतलाते हैं—हे परमेश्वानि ! यह धक्कार वरण मोक्षरूपिणी कुण्डली है । यह भी आत्मादि तत्त्वों में सयुक्त और सदा पाँचों देवों से परिपूर्ण होता है । यह त्रिविन्दुग्रों में सयुक्त है—इसी प्रकार के धक्कार वरण की हृदय में भावना करनी चाहिए । यह पीत वरण की विद्युल्लता के आकार वाला है तथा चारों वर्णों के प्रदान करने वाला है ।”

नकार शृणु चावंज्ञि रक्तविद्युल्लताकृतिम्

पञ्चदेवमय वरण स्वयं परमकुण्डली ।

पञ्चप्राणात्मक वरण त्रिविन्दुसहित सदा ।

त्रिशक्तिसहित वरणमात्मादितत्वसयुतम् ।

चतुर्वर्गप्रद वरण हृदि भावय पार्वति ।

अत पर प्रवक्ष्यामि पकार मोक्षमव्यप्रम् ।

चतुर्वर्गप्रद वरण शरञ्चन्द्रसमप्रभम् ।

पञ्चदेवमय वरण स्वयं परमकुण्डली ।

पञ्चप्राणमय वरण त्रिशक्तिसहित सदा ।

अर्थात् “हे चारु (सुन्दर) अङ्गों वाली ! अब नकार का श्रवण करो, जो रक्त विद्युल्लता की आकृति वाला है । यह पञ्च देवमय वरण वाला है और स्वयं परम कुण्डली है । पञ्च प्राणात्मक वरण और सदा तीन विन्दुओं से सहित है । तीन शक्तियों से युक्त और आत्मादि तत्त्व में समन्वित वरण वाला है । हे पार्वति ! ऐसे चार वर्णों के प्रदान करने वाले वरण को हृदय में भाविन करो । इसके पश्चात् मोक्षवृष्टि और अव्यय पकार का बतलाते हैं । चारों वर्णों के प्रदान करने वाला वरण है तथा शारदीय के चन्द्रमा के ममान प्रभा वाला है । पाँच देवों से परिपूर्ण वरण है और स्वयं परम कुण्डली है । पाँच प्राणमय वरण है तथा सदा तीन शक्तियों में समन्वित है ।”

त्रिविन्दुसहित वर्णमात्मादितत्वसयुतम् ।
 महामोक्षप्रद वर्णं हृदि भावय पावति ।
 फकार शृणु चार्वांग रक्तविद्युल्लतोपमम् ।
 चतुर्वंगमय वर्णं पञ्चदेवमय सदा ।
 पञ्चप्राणामय वर्णं सदा त्रिगुणसयुतम् ।
 आत्मादितत्वसयुक्त त्रिविन्दुसहित सदा ।

अर्थात् “तीन विन्दुओं के सहित वर्ण वाला आत्मादि तत्त्व में
 ममवित है । यह महामोक्ष के प्रदान करने वाला वर्ण है । इसकी
 भावना है पार्वति । आप हृदय में करो । है चार्वांग । अब फकार का
 अवण करो, जो रक्त विद्युल्लता के समान है । चारों वर्णों में पूरण वर्ण
 है तथा सदा पञ्च देवमय है । पाँच प्राणों में पूरण वर्ण है और सदा
 त्रिगुण से मयुत रहना है । आत्मा आदि तत्त्वों से मन्त्रित सदा तीन
 विन्दुओं के सहित है ।”

बकार शृणु चार्वांज्ञं चतुर्वंगप्रद यकम् ।
 शरच्चन्द्रप्रतीकाश पञ्चदेवमय सदा ।
 पञ्चप्राणात्मक वर्णं त्रिविन्दुसहित सदा ।
 त्रिशक्तिसहित वर्णं निविडाऽभृतनिमलम् ।
 स्वयं कुण्डलिनी साक्षात् सतत प्रणाम्यहम् ।
 भकार चञ्चलापाणगि स्वयं परमकुण्डली ।
 महामोक्षप्रद वर्णं पञ्चदेवमय सदा ।
 त्रिशक्तिप्रहित वर्णं त्रिविन्दुमहित प्रिये ।
 मकार शृणु चार्वांगि स्वयं परमकुण्डली ।
 महामोक्षप्रद वर्णं पञ्चदेवमय सदा ।
 तस्मादित्यसङ्काश चतुर्वंगप्रदायकम् ।
 त्रिशक्तिसहित वर्णं त्रिविन्दुसहित सदा ।

यकार शृणु चार्वागि चतुष्कोणमय सदा ।
 पलालधूमसङ्काश स्वय परमकुण्डली ।
 पचदेवमय वर्ण पचप्राणात्मक सदा ।
 त्रिशक्तिसहित वर्ण त्रिविन्दुसहिता तथा ।
 प्रणामामि सदा वर्ण सूर्तिमान मोक्षमव्ययम ।

अथवि 'हे चारु अङ्गो वाली । बकार का श्वरण करो, जो चारो वर्णों के प्रदान करने वाला और शरतकालीन चन्द्रमा के तुल्य एव पञ्चदेवों से परिपूर्ण सदा रहता है । यह भी पञ्चप्राणात्मक वर्ण वाला तथा सदा त्रिविन्दुश्रो के सहित होता है । तीन शक्तियों के सहित वर्ण और निविड अमृत के समान निमल है । यह स्वय साक्षात् कुण्डलनिती है । मैं इसको निरन्तर प्रणाम करता हूँ । हे चञ्चल अपागो वाली । भक्तार स्वय परम कुण्डली है । महामूर्ख के प्रदान करने वाला वर्ण है तथा सदा पञ्चदेवों से पूर्ण है । हे त्रिये । तीन शक्तियों के सहित वर्ण और तीन त्रिविन्दुओं के सहित है । हे चार्वागि । यकार को सुनो । यह स्वय परम कुण्डली । महामोक्ष का प्रदाता वर्ण और सदा पञ्च देवमय है । तरुण सूर्य के समान है और धर्मार्थ काम मोक्ष इन चार वर्णों का प्रदान करने वाला है । तीन शक्तियों के सहित वर्ण हैं और सदा तीन त्रिविन्दुओं के सहित है । प्रात्मादि तत्वों से समन्वित है । मैं हृदय में स्थित इसको प्रणाम करता हूँ । हे चार्वागि । यकार के विषय में श्रवण करो । यह सदा चतुष्कोणमय होता है । पलाल की घुँग्रा क ममान इसका वर्ण है और स्वय परम कुण्डली है । पञ्च देवमय वर्ण तथा सदा पचप्राणात्मक हाना है । तीन शक्तियों के सहित वर्ण तथा त्रिविन्दुश्रो के सहित है । मैं रम मूर्निधारी अव्यय मोक्ष वर्ण को नदा प्रणाम करता हूँ ।"

लकार चवनापागि कुण्डलीलतत्वमयुतम् ।
 पीतविद्युल्लतारार मवंरतनप्रदायकम् ।

पचदेवमय वरणं पञ्चप्राणमय सदा ।
 त्रिशक्तिसहित वरणं त्रिविन्दुसहित सदा ।
 आत्मादितत्वसयुक्त हृदि भावय पार्वति ।
 पकार शृणु चावङ्गि अष्टकोणमय सदा ।
 रक्षचन्द्रप्रतीकाश स्वय परमकुण्डली ।
 चतुर्वर्गप्रद वरणं मुधानिर्मितविग्रहम् ।
 पचदेवमय वरणं पचप्राणमय सदा ।
 रज सत्त्वनमोयुक्त त्रिशक्तिसहित सदा ।
 त्रिविन्दुसहित वरणं मात्मादितत्वसयुतम् ।
 सर्वदेवमय वरणं हृदि भावय पार्वति ।
 मकार शृणु चावंगि शक्तिबोज परात्परम ।
 कीटिविद्युल्लताकारं कुडलीत्रयसयुतम् ।

अर्थात् “हे चञ्चलापाणि । वकार कुण्डली तत्व से सयुत् है । पीत वरणं वाली निधन्तना के आकार वाला है तथा सब प्रकार के रूपों के प्रदान करने वाला है । पञ्च देवों से पूर्ण वर्ण वाला है और सदा पञ्च प्राणमय है । त्रिशक्ति से सहित वरणं तथा सदा तीन विन्दुओं से युक्त होता है । हे पार्वति । आत्मादि तत्वों से समन्वित इसकी हृदय में भावना करो । हे चावंगि । अब पकार के विषय में श्रवण करो । यह सदा आट कोणों से पर्दीपूर्ण है । रक्तवर्ण वाले चाद्रमा के समान है तथा स्वय परम कुण्डली है । चारों वर्णों के प्रदान करने वाला वरण है और सुधा से निर्मित विग्रह वाला है । पञ्च देवमय वरण है और सदा पञ्च प्राण से पूर्ण है । रजोगुण, मत वगुण और तमा गुण—इन तीन गुणों से युक्त हैं । सदा तीन शक्तियों से समन्वित है । त्रिविन्दुओं के सहित वरणं है तथा आत्मादि तत्वों से युक्त है । हे पार्वति ।

सब देवो से परिपूर्ण वरणों वाना है। इसको आप हृदय में भावित करिए। अब हे चार्वाणि! सकार के विषय में सुनिए। यह शक्ति का बीज है और परात्पर पर है। करोड़ों विद्युन्लन्त्रों के आकार वाला है तथा तीन कुण्डलियों से समर्थित है।”

पञ्चदेवमय वर्णं पञ्चप्राणमय सदा ।
 रज सत्वतमोयुक्त त्रिविन्दुसहित सदा ।
 प्रणाम्य सतत देवि हृदि भावय पार्वति ।
 हकार शृणु चार्वज्ञि चतुर्वर्गप्रदायकम् ।
 कुण्डलीत्रयसयुक्त रक्तविद्युल्लतोभम् ।
 रज सत्वतमोवायुपञ्चदेवमय सदा ।
 पञ्चप्राणमय वर्णं हृदि भावय पार्वति ।
 थकार शृणु चार्वज्ञि कुण्डलीत्रयसयुतम् ।
 चतुर्वर्गमय वर्णं पञ्चदेवमय सदा ।
 पञ्चप्राणात्मक वर्णं त्रिशक्तिसहित सदा ।
 त्रिविन्दुसहित वर्णमात्मादितत्वसयुतम् ।
 रक्तचन्द्रप्रतीकाश हृदि भावय पार्वति ।

—पठ पटल

अर्थात् “पाँच देवों से परिपूर्ण वरण” है और सदा पाँच प्राणमय है। रज, सत्व और तमोयुग्म में मध्यूत तथा सदा तीन विन्दुओं में युक्त है। हे देवि पार्वति! इसको प्रणाम करके इसकी भावना आप अपन हृदय में करो। अब हकार के विषय सुनिये। यह चतुर्वर्ग के प्रदान करने वाना, तीन कुण्डलियों से युक्त है और लाल वरण वारी विद्युत की गता के सदृश है। रज, सत्व तम, वायु पाँच देवों से पूर्ण है और सदा ही रहना है। पाँच प्राणमय वरण है। हे पावनी! इसकी भावना हृदय में करो। अब थकार के विषय में सुनिय। हे चार ग्रहों वारी। यह तीन कुण्डलियों ने समर्थित है। चतुर्वर्गमय इमाज रर्ण है और

मदा पञ्च देवमय -हृता है । पञ्च प्राणात्मक वरण् है तथा तीन गवितयों से युक्त मदा रहता है । तीन विद्युओं सहित वरण् है और आत्मादि तत्त्वों से युक्त है । हे पांचति । इसकी भवना आप हृदय में करो ।”

रङ्ग—

बगों के रङ्गों को छोड़ भी भारतीय ऋषियों ने को यी । विभिन्न तन्त्रों में इसका दर्शन आना है । ‘मातृका विवेक’ में कहा है—

अकार सबदेवत्य रक्त सर्वं वगङ्करम
इत्यादिना प्रत्यक्षर वरण् विशेष उक्त ।

अर्थात् “अकार सब देवो वाला है, रक्त वरण् में युक्त तथा सबको बश में करने वाला है—इत्यादि उक्तियों से प्रत्येक अकार का वरण् विशेष कह दिया गया है ।

तन्त्रान्तर के अनुमार—

स्फटिकाभा स्वरा प्रोक्ता स्पर्श विद्रुमसन्निभा ।
यादयो नव पीता, स्युक्तारस्त्वरुणा मत ।
सर्वे वर्गी शुक्ला इत्यपि कवचित् ।

“सभी स्वर स्फटिक मणि की आभा वाले वत्तनाये गये हैं । स्पर्श सज्जा वाले (क मे म पर्यन्त) सब अक्षर विद्रुम के ममान वरण् वाले हैं । यकार से लेकर क्षकार पर्यन्त नौ वरण् पीत वरण् वाले हैं । किन्तु उनमें अकार ही एक अरुणा वरण् का माना गया है । कुछ लोगों का कही पर ऐसा भी मन है कि मध्यी वरण् शुक्ल वरण् वाले होते हैं ।”

सुभगोदय की व्यारथा चन्द्रकला में लक्ष्मीघर ने सनत्कुमार-सुहिता के सिद्धात को स्वीकार किया है, जो इन प्रकार है—

अकाराद्या, स्वरा घूमा मिन्दूराभास्तु कादय ।
डादिफान्ता गौरवरणे अरुणा पञ्च वादय ।
लकाराद्या काचनाभा, हकारान्त्यौ तडिन्निभौ इति ।

अर्थात् “अकारादि स्वरों का का रङ्ग बुम्र, ‘क’ से ‘ट’ तक मित्त्वाराभ, ‘ड’ से ‘फ’ तक गोर, पाँच ‘ब’ आदि अस्तु, लकारादि पाँच वर्ण और ‘ह’, ‘व’, ‘झ’ तदिन वर्ण हैं।”

ऋषि और छन्द—

प्रत्येक वरण का एक मन्त्र माना गया है। इसलिए उसका ग्रलग-ग्रलग श्रूषि, छन्द, देवता, शक्ति आदि भी होना चाहिए। स्वरूप की चर्चा हो चुकी है। सभी वरणों के श्रूषि और छन्दों का उल्लेख ‘शारदा-तिलक तन्त्र’, ‘पदार्थदर्श टोका’ (पाठ पट्टन पृ० ३८१) में इम प्रकार आता है।

अर्जुन्यायनमध्ये द्वौ भार्गवस्ती प्रतिष्ठिका ।

अग्निवेश्य. सुप्रतिष्ठा त्रिषु चाबिध्यु गौतम. ।

गायत्री च भरद्वाज उष्णिगेकारके परे ।

लोहित्यायनकोऽनुष्टुप् वशिष्ठो वृहती द्वयो ।

माण्डव्यो दण्डकश्चाप स्वराणा मुनिछन्दसी ।

मौद्गायनश्च पठ क्ति के ऽजस्त्रष्टुप् द्वितय घडो. ॥

योग्यायनश्चजगतो गोत्यायनको मुनि, ।

छन्दोऽतिजगती चे छेन्तषक शक्वरी ह्यज ।

शक्वरी काश्यपश्चातिशक्वरो भयोञ्जिष्ठो ।

शुनकोऽष्टि सीमनस्योऽत्यिष्ठिडे कारणा धृति ।

ढणोमणिडव्यातिघृति साड् कृत्यायनक कृति ।

त्रिषु कात्यायनस्तु र्यात् प्रकृतिर्नंपफेपु वे ।

दाक्षायणाकृति व्याघ्रायणे मे विकृतिर्मता ।

शाण्डल्यसड् कृति लेऽथ काण्डल्यातिकृतीयरो. ॥

दाण्ड्यायनोकृती लेऽथ वे जात्यायनदण्डकी ।

लाट्यायनो दण्डक, शेषसहे जयदण्डकी ।

माण्डव्यदण्डकी लक्षे कादीनामृपिछन्दसी ॥

अर्थात् “अर्जुन्यायन मध्य मे वे दो भार्गव प्रनिष्ठा हैं। प्रगिन वेश्य मुप्रतिष्ठा है और तीन अविद्यो मे गौतम है। गायत्री, भरद्वाज और एकारक मे उष्णिक है। लोहित्या यन्त्र अनुष्टुप् है। दोनो का वशिष्ठ और वृडी है। माडव्य और दण्डक भी स्वर्गो के मुनि तथा छन्द हैं। पत्ति मे मीढ़ायन इ घट का द्वितीय मे अज और त्रिष्टुप् है। योऽयायन जगनी है और गोपाल्यायन के मुनि है। अनिंगनी छंद है। चेत्रेनष्टक, शक्तिरी और प्रज है। झ म और टठ का शक्तिरी, काश्यप और अनि शक्तिरी है। शुनक, अष्टि, मौमनम्य और अत्यष्टिड मे घृति कारण है। ढण का माडव्य, अनिवृत्ति, माकृन्यायन के कृति है। तीनो में न प फ में कात्यायन है। रण मे प्रकृति मानी गई है। दाक्षायणा कृति व्याघ्रायण है और भ से विकृति मानी गई है। म मे शाडिल्य और मकाति है। य और र की काडल्यातिकृति है। ल मे दायड़्यायनो-कृति है तथा व मे जात्यायण और दण्डक हैं। श मे लाट्यायन दण्डक है तथा प स ह में जय और दण्डक हैं, ल और क्ष मे माडव्य तथा दण्डक हैं। इस प्रकार मे कादि वर्णों के शूष्पि एव छन्द होते हैं।”

देवता और शक्तियाँ—

प्रपञ्चसार तन्त्र मे वर्णो के देवता और शक्तियो का वर्णन है। ‘मन्त्र और मातृकाओ’ मे उद्बृत कर यहाँ ते रहे —

वर्ण	स्त्र	शक्ति	विष्णु	शक्ति
अ	श्रीकठ	पूर्णोदारी	कैशव	कीर्ति
आ	श्रनन्त	विरजा	नरायण	कान्ति
इ	सूक्ष्म	शाल्मली	मावव	तुष्टि
ई	त्रिमूर्ति	लोलाक्षी	गोविन्द	पुष्टि
उ	अमरेश्वर	वतुलाक्षी	विष्णु	घृति
ऊ	अर्धीश	दीर्घधोणा	मधुसूदन	क्षन्ति

(शाति शा० त०)

वरण	रुद्र	विष्णु	विष्णु	शक्ति
ऋ	(भारभूतीश भावभूति शा० ति)	सुदीर्घमुखी	विविक्तम्	क्रिया
ऋ	(निधीश) तिथि	गोमुखी	वामन	दया
तृ	स्थागु	दीर्घजिह्वा	श्रोघर	मेवा
तृ	हर	कुण्डोदरी	हृषीकेश	हर्षी
ए (फिरडीश)	फिटीश	ऊर्ध्वकेशी	पद्मनाभ	श्रद्धा
ऐ	भौतिक	विकृतमुखी	दामोदर	लजा
ओ	मद्योजात	ज्वालामुखो	वासुदेव	लक्ष्मी
ओ	भनुग्रहेश्वर	उल्कमुखी	सहकृष्ण	सरस्वती
अ	अक्षर	श्रीमुखी	प्रद्युम्न	प्रीति
अ	महासेन	विद्यामुखो	अनिरुद्ध	रति
क	क्रोधीश	महाकाली	चक्री	जया
ख	चरणेश	सरस्वती	गदी	दुर्गा
ग	प चात्क	गोरी	शार्ङ्गी	प्रभा
घ	शिवोत्तम मैलोक्यविद्या		खड़गी	सत्या
ड	एकरुद्र	मन्त्रशक्ति	शङ्खी	चण्डा
च	कूर्म	आत्मशक्ति	हली	वाणी
छ	एकनेत्र	भूतमाता	मुष्टी	विलासिनी
ज	चतुरानन	लम्बोदरी	शूली	विरजा
झ	अजेश	द्राविणी	पाण्डी	विजया
ञ	शर्व	नागरी	श्रकृ	२९
ट	सोमेश्वर	वैखणी	मुकु	३०

(खेचरी शा० ति०)

वर्ण	रुद्र	शक्ति	विष्णु	शक्ति
ङ	दारुक	हपिणी	नन्दी	स्मृति
ठ	अर्द्धनारीश्वर	बीरिणी	नर	ऋद्धि
ण	उमाकान्त	कोटरी	नरकजित	समृद्धि
(काकोडरी शा० ति)				
त	आपाढी	पूतना	हरि	शुद्धि
थ	दरडी	भद्रकाली	कृष्ण	भुक्ति
द	ग्रद्रि	योगिनी	मत्य	मुक्ति
ध	मीन	शह्वनी	सात्वत	मति
न	मेप	राजिनी	जोर	शामा
प	लोहित	कालरात्रि	शूर	रमा
फ	शिखी	कुविजनी	जनार्दन	रमा
ब	छागलराह	कपर्दिनी	भूधर	क्लेदिना
भ	द्विराड	महावज्चा	विश्वमूर्ति	चिलना
म	महाकाल	जया	वंकुराठ	वसुदा
य	कपाली	सुमुखेश्वरी	पुरुषोत्तम	वसुधा
र	भुजङ्गे श	रेवती	वली	परा
ल	पिनाकी	माघवी	वलानुज	परायणा
ब	खड़गीश	वाहणी	वाल	सूक्ष्मा
ध	वक	वायवी	द्रूपधन	सन्त्या
प	श्वेत	रक्षोविदारिणी	वृप	प्रज्ञा
स	भृगु	सहजा	सिंह	प्रभा
ह	नकुली	लक्ष्मी	वराह	निशा
ल	शिव	व्यापिनी	विमल	श्रमोदा
धा	सवर्तक	माया	नृसिंह	विद्युता

ध्यान श्रीर मूर्ति

प्रयेक वर्ण एक शक्ति है। उनके आह्वान के लिए ध्यान की

वर्ण	रुद्र	विष्णु	विष्णु	शक्ति
ऋ	(भारभूतीश भावभूति शा० ति)	सुदीर्घमुखी	त्रिविक्रम	क्रिया
ऋ	(निधीश) तिथि	गोमुखी	वामन	दया
लृ	स्थागु	दीर्घजिह्वा	श्रीघर	मेघा
लृ	हर	कुण्डोदरी	हृषीकेश	हर्षी
ए (भिरडीश)	भिटीश	ऊर्ध्वकेशी	पद्मनाभ	श्रद्धा
ऐ	भौतिक	विकृतमुखी	दामोदर	लज्जा
ओ	सद्योजात	ज्वालामुखी	वासुदेव	लक्ष्मी
श्री	अनुग्रहेश्वर	उल्कमुखी	सड़कृष्ण	सरस्वती
श्र	श्रकूर	श्रीमुखी	प्रद्युम्न	प्रीति
श्र	महासेन	विद्यामुखी	अनिरुद्ध	रति
क	क्रोधीश	महाकाली	चक्री	जया
ख	चण्डेश	सरस्वती	गदी	दुर्गा
ग	प चान्तक	गौरी	शाङ्करी	प्रभा
घ	शिवोत्तम शैलोक्यविद्या		खड़गी	सत्या
ड	एकरुद्र	मन्त्रशक्ति	शङ्खी	चण्डा
च	कूर्म	आत्मशक्ति	हली	वाणी
छ	एकनेत्र	भूतमाता	मुपती	विलासिनी
ज	चतुरात्मन	लम्बोदरी	शूनी	विरजा
झ	अजेश	द्राविणी	पाशी	विजया
ञ	शर्व	नागरी	श्री कुशी	विश्व
ट	सोमेश्वर	बैखरी	मुकुन्द	वित्तदा
		(सेचरी शा० ति०)		
ठ	लाङ्गलि	मङ्गरी	नन्दज	सुतदा

(सुनदा शा० त०)

वर्ण	रुद्र	शक्ति	विष्णु	शक्ति
ॐ	दाहक	स्वपिणी	नन्दी	स्मृति
ठ	अर्ढनारीश्वर	वीरिणी	नर	ऋद्धि
ण	उमाकान्त	कोटरी	नरकशित	समृद्धि
(काकोडरी शा० ति)				
त	आपाठी	पूतना	हरि	शुद्धि
थ	दगडी	भद्रकाली	कृष्ण	भुक्ति
द	श्रद्धि	योगिनी	सत्य	मुक्ति
घ	मीन	शत्रुघ्नी	सात्वत	मति
न	मेष	राजिनी	ज्ञोर	क्षमा
प	लोहित	कालरात्रि	शूर	रमा
फ	शिखी	कुञ्जिनी	जनार्दन	रमा
ब	छागलगड	कपर्दिनी	भूधर	क्लेदिना
भ	द्विरणड	महावज्रा	विश्वमूर्ति	विलन्ना
म	महाकाल	जया	चंकुराठ	वसुदा
य	कृपाली	सुमुखेश्वरी	पुरुषोत्तम	वसुधा
र	भुजङ्गेश	रेवती	बली	परा
ल	पिनाकी	माघवी	बलानुज	परायणा
व	खड्गीश	वारुणी	बाल	सूक्ष्मा
ष	वक	वायवी	वृषधन	सन्ध्या
ष	श्वेत	रक्षोविदारिणी	वृप	प्रज्ञा
स	भृगु	सहजा	सिंह	प्रभा
ह	नकुली	लक्ष्मी	वराह	निशा
ल	शिव	व्यापिनी	विमल	प्रमोदा
ध	सवर्तक	माया	नृसिंह	विद्युता

ध्यान और मूर्ति

प्रयेक वर्ण एक शक्ति है। उनके आह्वान के लिए ध्यान की

साधना का विधान मिलता है। शारदा-तिलक तन्त्र की पदार्थादेश टीका में उन्नान्तर से उद्भृत वरणों में ध्यान के लिए मूर्ति का निर्धारण इस प्रकार किया उपलब्ध होता है—

चामीकरनिभ शूलगदाराजदभुजाष्टक ।
 चतुरास्योऽतिकाय स्यादकार कूमवाहन ।
 पाशाड् कुशकरा श्वेता पदमस्स्थे भवाहना ।
 षष्ठ्यूद्धर्वयोजनमिता स्यादा मौक्तिक भूपरणा ।
 पीत कराङ्गकुलिशपरशु वैरिनाशनम् ।
 द्वयेकयोजनमान स्यादिकार कच्छपस्थितम् ।
 दशयोजनदीर्घद्विनाहासौ हसवाहना ।
 ई स्यात्पुष्टिप्रदा श्वेता मौक्तिकाढ्या सितानना ।
 गदाड् कुशकर काकवाहन कृष्णभूषणम् ।
 योजनद्विसहस्रारणा मानमुद्धयमक्षरम् ।

अर्थात् “सुवरण” के तुल्य, शूल और गदा आठ भुजाएँ शोभित करने वाला, चार मुखों से युक्त अति विशाल काया वाला और कूर्म के वाहन से युक्त अकार होता है। पाश और ए कुश को करो में धारण करने वाला, पद्म पर स्थित हाथी के वाहन वाला, साठ से ऊर्ध्वं योजन परिमित तथा मोतियों के भूषणों से विभूषित आकार है। पीत, हाथों हाथों में कमल, कुलिश और परशु धारण करने वाला है। वैरियों का नाशक, दो-एक योजन के मान वाला कच्छप पर स्थित इकार है। दस योजन दीर्घ और आधा योजन विस्तार वाला, हस के वाहन से युक्त ईकार है। पुष्टिप्रद, श्वेत मोतियों से सयुत, सित मुख वाला, गदा-गुण धारण करने वाला काक वाहन तथा कृष्ण भूषणों वाला, दो सहस्रों योजन के मान युक्त दोनों उकार हैं।”

पाशशक्तिभुज रवत वाह्निम्बस्थितोष्टगम ।
 रवतप्रमाण कालघ्नमृऋवरणंद्वय भवेत ।

चतुरस्त्रावजहमस्थ पुष्परागसमप्रभेम् ।
 पाशवज्ज्वर रौद्र लृयुग्म म्यान्तिरोधनम् ।
 गदाफलानि पद्माढ्यकार हरविभूपणम् ।
 चक्रवाकस्थित श्याममेकार तु महद्वेष्ट ।
 नवकुन्दनिभा गूलवज्ज्वाहा द्विपस्थिता ।
 कोटियोजनमाना स्यादेमूर्ति कविता करो ॥
 चिन्मय सवग शान्त द्विसहस्रकरोज्जवलम् ।
 पीत गोवृपसस्थ स्यादोरूप श्रीकगत्मकम् ।

अर्थात् “पाश और शक्ति को बुजाओ मे धारण करने वाला, वहिं के विम्ब के समान स्थित रक्त काल का हनन करने वाला तथा उक्त प्रभाण से युक्त दानो शूल्कार है । चतुरस्त्रावज, हम पर मिथ्यत, पुष्पराग के समान प्रभा से युक्त पाश और वज्र करो मे धारण करने वाला और रौद्र निरोधन करने वाला वोनो लृ का युग्म है । गदा, फतारि, पद्म मे आढ़य करो वाला, हार के भूपता से युक्त चक्रव के पर मिथ्यत, श्याम वर्ण वाला एकार महान् होता है । नवीन कुन्द के समान शून, वज्र को बहन करने वाला, हाथी पर मिथ्यत, करोड योजन के मान वाला, कविता करने की मूर्ति के युक्त एकार चिन्मय मर्वदा शान दो सहस्र करो से समुज्ज्वल, पीत वर्ण वाला गोवृप पर मिथ्यत ग्रोकार का स्वरूप है, जो श्री के करने का स्वरूप वाला होता है ।”

तप्तहेमनिभा पाशचक्रवाहुविभूतिदा ।
 योजनाना सहस्रेण स्यादौवरणमितोजसा ॥
 नवकुड़ कुमसच्छाय पद्मस्थो रक्तभूपण् ।
 चतुर्भुज स्यादवर्णं श्रीकरो रिपुनशक ।
 वज्रशूलकर क्षद्र (युद्ध) फलद खरवाहनम् ।
 सहस्रयोजनमित स्वरान्त द्विभुज स्मरेत् ।
 भूविम्बगजसस्थ स्यान्तवकुड़ कुमसन्तिभ ।

शूलवज्रकर कार्ण, सहस्रद्वययोजन ।
 पाशतोमरहस्त रवो मेषसस्थो निरोधन ।
 योजनाना सहस्रेण मित कृष्णो विभीषण ।
 पाशाड़कुशकर पद्मे फणिसस्थोऽरुणप्रभ ।
 गकार सर्पभूष स्यात् शतयोजनस्थित ।

—पृष्ठ ३५६

अर्थात् “तपे हुए सुवर्ण की काति के समान काति वाला, पाश और चक्र बाहुओं में धारण करने वाला, विभूति को प्रदाता, एक सहस्र योजन के मान से युक्त और अमित ओज से पूर्ण औकार है । नवीन कुकुम के समान कांति वाला, पद्म पर समास्थित, रक्त भूप्रणो से विभूषित तथा चार भुजाओं वाला शकार वर्ण है, जो श्री के करने वाला एव रिपुओं का नाशक होता है । वज्र और शूल करो में धारण करने वाला क्षुद्र (युद्ध), फल के देने वाला, खर के वाहन से युक्त, एक सहस्र योजन के मान वाला ऐसा (अ) स्वरान्त दो भुजाओं वाला है, ऐसा स्मरण करना चाहिए । भू-विम्ब गज पर स्थित तृतन कुकुम के समान आभा वाला, शूल और वज्र करो में धारण करने वाला, दो सद्वस्त्र योजन के मान वाला क वर्ण है । पाश और तोमर हाथों में धारण करने वाला, मेष पर स्थित ख वरण है । निरोध करने वाला, कृष्ण वर्ण से युक्त तथा विशेष भीषण, पाश और शकुश करो में धारण करन वाला पद्म पर तथा फणी पर सस्थित और अरुणप्रभा से युक्त गकार होता है । सर्पों की भूषा वाला, सो योजन पर सस्थित है ।”

उष्ट्रोलूलखसम्म स्याद् गदावज्रकरोमित ।
 योजनाना सहस्रेण द्विमुखो घं सितेतर ।
 कोटियोजनदीर्घाद्विनाह कृष्णा ज्वलत्प्रभम् ॥
 द्विभुज काकवाह स्यात डार्णं क्षुद्रफलप्रदम् ।
 युगाग्रपद्मसस्थ स्यात चतुर्वाहु सितप्रभ ॥

च कपर्दी मुगन्वाढ्य कोटियोजनमस्थित ।
 सितम्तावस्थित, पद्मे चतुर्वृहिश्छवरणक ॥
 जभी च कोटिमानोस्त चतुर्वृहिमितप्रभौ ।
 योजनाना सहस्रे स्यात् सम्मित काकवाहनम् ॥
 विद्वेषकरण आर्णु कृष्णवर्णं भुजद्वयम् ।
 क्रीञ्चवस्थो द्विभुष्ट स्यान्तागनद्वा महाद्वनि ।
 घरापद्मगजन्द्रस्थष्टवर्णं द्विकरोजजवल ।
 लक्षयोजनमान स्याद् गरनाशकरो विभु ।

—पृष्ठ ३६०

अर्थात् 'उष्ट्र और उलूखल पर मस्थित, गदा और वज्र करो में वारण करने वाला, एक सहस्र योजन माना गया, दो मुखों से युक्त, सित में इतर वर्ण वाला घकार है। करोड योजन दीर्घद्वं मान वाला कृष्ण, जलती हुई प्रभा में युक्त, दो भुजाओं वाला, काक के वहन में युक्त और क्षुद्र फन देने वाला डक्कार वर्ण होता है। युगान्त पद्म पर स्थित, चार वाहुओं से ममन्विन, सित प्रभा से युक्त चकार होता है। कपर्दी, मुगन्व से आढ्य, कोटि योजन मान पर सस्थित, मित, पद्म पर स्थित, चार वाहुओं वाला छ वर्ण होता है। ज़कार और झकार एक करोड मान वाले होते हैं, दोनों के चार चार वाहुए हैं और सित प्रभा वले हैं। सहन्त्र सम्मित मान वाला, काक के वहन से युक्त तथा विद्वेष करने वाला अ वर्ण होता है। कृष्ण वर्ण वाला, दो भुजाओं से युक्त क्रीञ्च पर स्थित, द्विभुज टवर्ण होता है। नाग से नद्व, महाद्वनि वाला, घरा, पद्म गजेन्द्र पर स्थित ठ वर्ण होता है। दो करों से उज्ज्वल, एक लक्ष के योजन के मान वाला, गर का नाशक और विभु उ वर्णन होता है।'

डवर्णोप्यष्टवाहु स्याच्चतुर्वक्त्र स्वलड्कृत ।
 योजनाना सहस्रेण मित कृवलेय स्थित ॥

अग्निबिम्बाजगो ढार्णो दशबाहृज्वलत्प्रभ, ।
 सहस्रमान व्याघ्रम्य योजनाना हिण हृत् ॥
 पष्ठिहायनसस्थ स्याच्चतुर्बाहु, स्वल कृत ।
 सहस्रमान गन्धाद्य कुड़ कुमबभश्च ताक्षर, ।
 कोटियोजनमान स्यादप्तवाहुश्चतुर्मुख, ।
 पीतवर्णो वृषारूढ धवणेऽपि भयञ्चर ।
 द्विमुख षडभुज कोटिमान द महिषस्थितम् ।
 मिहबाहृश्चतुर्बाहृद्धर्शचतुर्लक्षसम्मित ।
 द्विभुज काकवाह न तत्सहस्र मिन भवेत् ।
 विशभुजो दशास्य, प कोचिमानो बकस्थित ।

अर्यात् 'हु वर्णं आठ भुजाश्रो वाला है तथा उपके चार मुख हैं और अविभूषित है। एक सहस्र योजन का उपका मान है तथा कुवलय पर सम्प्यन है। छ यज्ञ अग्नि-विम्ब के समान है, दूसरे उपके बाहुएँ हैं और जाज्वल्यमान प्रभा धाना है। एक सहस्र का मान है। यगध पर उपकी सस्थिति है। योजनों से दिष्ट होता है। यह पष्ठिदायन पर सस्थित है। चार भुजाश्रो वाला एव गन्धी भाँति घलकृत है। एक सहस्र का मान है तथा गन्ध से समन्वित है। त अक्षर कुकुम की आमा के समान प्रभा धाना है। एक करोड़ योजन के मान वाला है। आठ इमके भुजाएँ हैं और चार मुख हैं। पीत वर्णं वाला, वृष पर समारूढ थ वर्णं भी अत्यन्त मयानक है। दो मुख वाला, छ भुजाश्रो से युक्त एक करोड़ के मान वाला, चार बाहुओ से युक्त तथा चार लाख योजनों के मान वाला और महिष पर स्थित द वर्ण है। सिंह पर मवारी करने वाला, चार बाहुओ से युक्त तथा चार लाख योजनों के मान वाला घ वर्णं है। दो भुजाश्रो वाला, कारु पर मवारूढ और तत्पहल मान वाला न वर्णं है। वास मुजाश्रो वाला, दस मुखों से युक्त और एक करोड़ मान वाला वक पर स्थित प वर्णं है।'

दशकोटिमित फार्णो योजनाना भुजद्वय ।

कण्ठीखसिताम्भोजे निपणश्चच्चल पिते ॥

पडास्यो द्विभुजो व स्याद्गकोटिमितोऽहण ।
 नीलोत्पललमद्व सवाहन पूष्टिदायक ।
 त्रिहस्त्र त्रिमुख व्याघ्रवाहन भीषणाद्वनिम् ॥
 दशलक्षमित भार्ण धूम्राभ स्यान्महावलम् ।
 चनुमुंजो मकार स्पात् भविपोरगमन्निभ ॥
 मण्डितो मुण्डमालाभि शशिखण्डविगजित ।
 व्याप्तश्चतुर्मुखो 'भुंजो) धूम्रो यार्ण स्पान्मृगस्थिन ॥
 त्रिकोणाम्बुजमेषस्थो रार्णो बाहुचनुष्टय ।
 चतुरस्त्रावजतीन्द्रपृष्ठे नोपरि राजिता ॥
 चनुभुजा लकारस्य मूर्ति स्पात् धुसृणप्रभा ।
 अविवस्य गद्मनकस्थो द्विभुजो व मित स्मृत ।
 करद्वयावजगा हेमवर्णा शारणकृतिस्तथा ॥

—पृष्ठ ३६१

प्रथात् "फ अक्षर दस करोड़ योजनो के मान वाला तथा दो भुजाओं से युक्त करणीरव पर श्रवस्थिन, श्रम्भोज पर निषणण, चबल और मित है । व वर्ण छै मुर्वों वाला है तथा वर्ण है । नीलोत्पल के समान लसमान है । हम का वाहन रखना है । परम पुष्टि का देने वाला है । भ वर्ण तीन हाथों वाला, तीन मुर्वों वाला, व्याघ्र के वाहन वाला, भीषण आकृति से सनन्वित, दस लाख योजन के मान वाला, धूम्र के समान ध्राभा से युक्त और महान् बन वाना होना है । मकार चार भुजाओं से युक्त, सर्प के समान, मुण्डों की माला से मण्डित, चन्द्र क खण्ड भाग से सुशोभित होता है । य वर्ण व्याप्त चार मुखों वाला, धूम्र और मृग पर विराजमान होना है । र वर्ण त्रिकोण, श्रम्भुज मेष पर सस्थित और चार बाहुम्रों से युक्त होता है । चतुरस्त्र, शब्द और जन्तीन्द्र पीट पर मस्थित, चार भुजाओं से युक्त लकार होता है, जो धुसृण की प्रभा के समान होना है । व वर्ण ममुद्र ने स्थिन पद्म भ्रोः नक्ष पर

विराजमान, दो भुजाओं वाला तथा सित वर्ण से युक्त होता है। श्र अक्षर की आकृति दोनों हाथों में अबन धारण करने हेम के समान वर्ण से समन्वित होती है।”

सहस्रमान कृष्णाभो द्विभुज कार्मणोऽय ष ।

कौटिमान सित सं स्यात् हसगो (ह्याङ्गी)

द्वि भुजान्वित ।

हार्ण, श्वेतस्त्रिब्राह्म स्यात् व्याप्तशीताशुशेखर ।

पाशभयकरा लार्णमूर्ति श्वेता गजस्थिता ।

भूविम्बशैलसस्थ क्षो दग्धवाहुमणिप्रभ ।

मूर्तिभेदा यथार्णाना मयात्रप्रतिपादिता ॥

— पृष्ठ ३६१

अर्थात् “षकार एक सहस्र योजन मान वाला, दो भुजाओं से युक्त कार्मण पर स्थित होता है। करोड मान वाला, सित वर्ण से युक्त सकार होता है। हकार श्वेत वर्ण से युक्त, तीन बाहुओं वाला, व्याप्त तथा शीताशु को मस्तक पर धारण करने वाला होता है। पाश और अभय को करो में धारण करने वाली ल वर्ण की मूर्ति होती है, जो श्वेत है और गज पर स्थित रहती है। क्षवर्ण भूविम्ब शैल पर स्थित, दस भुजाओं वाला तथा मणि की प्रभा वाला होता है। जो वर्णों की मूर्तियों के भेद होते हैं, वे सब मेरे द्वारा यहाँ पर प्रतिपादित कर दिए गए हैं।”

तन्त्रो में वर्णों का महत्व वैज्ञानिक आधार पर स्थित है। इनकी रेखाकृतियों का निर्धारण शूलियों की समाधि-धरवस्था में किया गया है। इनकी रेखाकृतियों की जो ध्वनि निश्चित की गई है, उसके वैज्ञानिक परीक्षण भी किए जा चुके हैं। सूक्ष्म निरीक्षण में उनके रग और स्वरूप का भी अनुसन्धान किया गया है। इनसे निकलने वाली ध्वनियाँ की अनुभूतियों की गहन गोज की गई है। इही खोजों

के परिणामस्वरूप सिद्धान्त निर्धारित किए गए हैं। जननाधारण को इनकी ओर आकर्षित करने के लिए इनके माहात्म्य शास्त्रों में वर्णित किए हैं। वर्ण शक्तिमय हैं। ध्वनि ने उमका विभार होता है। इसे व्यावहारिक रूप में प्रत्यक्ष करने के लिए दीधकालीन अस्थाम और तपश्चर्या की अपेक्षा है, परन्तु परिणाम सुनिश्चित हैं, इसमें कुछ भा सन्देह नहीं है।

• • •

मातृकामौं की बौद्धिक व्याख्या।

महिमा—

मातृका की महिमा का वर्णन करते हुए तत्त्व-ग्रन्थों में कहा गया है—

यदक्षरैकमत्रेपि ससिद्धे स्पर्द्धते नर ।
रविताक्षर्येन्दुकन्दर्पशङ्करानलविष्टुभि ।
यदक्षरशशिज्योत्सनामण्डित भूवनत्रयम् ।
वन्दे सर्वेश्वरी देवी महाश्रीसिद्धिमातृकाम् ॥
यदक्षरमाहसूत्रप्रोतमेतज्जगत्त्रयम् ।
ब्रह्माडादिकटाहन्तं जगदद्यापि दृश्यते ॥
श्रकचादिटनोन्नद्वपयसाक्षरवर्णिरणीम् ।
जगेष्ठाङ्गबाहुहृत्पृष्ठकटिपादनिवासनोम् ॥
तामिकाराक्षरोद्धारसाराधारा परापराम् ।
प्रणममि महादेवी परमानन्दरूपिणीम् ।

—वामदेश्वरीमाम्, प्रथम पटल

अथति “जिसके बेबल एक ही अक्षर के भली भाँति मिछ हो जाने पर मनुष्य, रवि, तार्थ, चन्द्र, कामदेव, शम्भु, वायु और विष्णु के साथ स्पर्धा किया करता है, जिसके अक्षर चाद्र को चाँदनी से यह से यह तीनो भूवनमण्डित है, उस महाश्री सिद्धिमातृका सर्वेश्वरी देवी की मैं वन्दना करता हूँ। जिसके अक्षररूपी महासूत्र से यह श्रिलोकी

प्रोन है और क्रह्याद के आदि से लेकर कटाह उपन्त यह उगत् ग्राज भी दिव्यनार्दि दिया करना है। अकचादिटत मे उन्नद्व अर्थात् अकारादि नव स्वर क्वर्ग चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग से युक्त पवर्ग आदि अन्यथ और सक्षात् दि उमा मङ्क = एँ के वर्णो वाली, जेष्ठ अङ्ग वाहु, हृदय, पीठ, कटि और चरणो मे निवास करने वाली उम इक्षा-क्षर के उद्धार की सारबाग, पर-ने-पर परम नाद रूप वाली महादेवी को मैं प्रणाम करता हूँ।”

स्वच्छाद तन्त्र मे कहा है—

“न विद्या मातृका परा”

“मातृका स पे और कोई विद्या नहीं है।”

‘परात्रिशिक्षा’ मे मातृका-शक्ति के प्राप्त होने पर मुक्ति और उमके अभाव मे उन्नन की चर्चा करते हए कहा गया है—

असमादेव तु मायीयाद् वर्गपृच्छान्निरूपिता ।

मायामालम्ब्य भिन्नैव श्रीपूर्वे मृष्टिराक्षरी ॥

पञ्चाशद्भेदसम्भन्नप्रत्ययप्रभवात्मिका ।

वन्वरूपा स्वभावेन स्वरूपावग्णात्मिका ॥

अत्रैवात्मगताम्तास्ता खेचर्यो विषयात्मिका ।

तन्वते समृति चित्रा कर्ममायागृतामयीम् ॥

अस्या माम्य स्वभावेन शुद्ध भैरवतामयम् ।

—परात्रिशिक्षा, पृष्ठ २१४

अर्थात् ‘मसमना मे ही मायामय तथा वर्णो के ममूह मे निरूपित है। माया का अवलम्बन करके ही मिन्ना है, श्रीपूर्वा अक्षरमयी सृष्टि है। पचास भेदो से सम्भन्न और प्रत्ययो के प्रमव वाले स्वरूप मे युक्त है। वन्व के रूप वाली स्वभाव से ही है और रमात्मिका है। इसमे ही वे विषयात्मिका खेचर्यों सब अन्तर्गत रहती हैं। कर्ममायागुनामयी इस विचित्र समार का विष्णार करनी है। स्वभाव मे इसका शुद्ध भैरवतापूर्ण साम्य होता है।’

इसके महत्व का मूल्यांकन इसी तथ्य से किया जा सकता है कि इसको प्रणव से उत्पन्न हुआ बताया गया है। इसीलिए इसका एक नाम 'मातृका सू' कहा गया है—

"अक्षर मातृकासूद्धचानादिरह्वत्मोक्षदो"

अर्थात् "अक्षर मातृकासू और अनादि इद्वैत मोक्ष के देने वाले हैं।"

प्रणव में तो निस्स देह बन्धनों को काटने की विशेषता है। अत इसका भी एक गुण बताया गया है—

सर्व वर्णात्मिका मन्त्रा ते च शक्त्यात्मका प्रिये ।

शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका ॥

या सा तु मातृकादेवी परतेज समन्विता ।

तया व्याप्तमिदं विश्व सब्रह्मा भुवनात्मकम् ॥

—श्री त्रसदभाव, सूत्रविमर्शनी पृष्ठ ५१

अर्थात् "हे प्रिये वे सर्ववर्णात्मक अर्थात् वर्णों के स्वरूप वाले मन्त्र जो हैं, वे शक्त्यात्मक हैं। उनमें मातृका ही शक्ति है व उसे शिवात्मिका ही समझनी चाहिए। जो यह मातृका देवी है वह परतेज से युक्त है, उसके द्वारा ब्रह्म के सहित भुवनात्मक यह सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है।"

गतिशयोक्ति शैली में वरणं करते हुए शिव को भी मातृका शक्ति का उपायक बताया गया है—

कथयामि वरारोहे यन्मया जप्यते सदा ।

आकारादिक्षकारान्ता मातृका वरणरूपिणी ।

चतुर्दशस्वरोपेता बिन्दुत्रयविभूषिता ।

कलामण्डलमास्याय शक्तिरूप महेश्वरि ।

ककारादिक्षकारान्ता वरण स्तु शक्तिरूपिण ।

व्यञ्जनत्वात् सदानन्दोच्चारण सहते यत् ।

उच्चारे स्वरसम्मन्त्रास्ततो देवि न सशय ।
 प जाशद्वरण् भेदेन शब्दारूपं वस्तु सुव्रते ।
 अकार प्रयम् देवि क्षकारोन्त्यस्ततं परम् ।
 अक्षमालेति विख्याना मातृका वरणं रूपिणो ।

—१८८५६३८५८० ११४

अर्थात् “हे वरारोहे । जो मेरे द्वागा मदा जाप किया जाता है, उसे कहना हूँ । अकार से आदि लेकर क्षकार पर्यन्त वरणों के रूप वाली मातृका है । यह चौदह स्वरों से ममन्वित और तीन विन्दुओं से विभू-पितु है ।

हे महेश्वरि । शक्तिस्वरूप कला-मराडल में समादित्यत होकर रहती है । ककार से आरम्भ कर क्षकार पर्यन्त वरणं शक्ति रूप वाले हैं । व्यञ्जन होने से सर्वदा आनन्दपूर्वक उच्चारण किये जाते हैं । हे देवि । स्वरों से सम्मिन्न भी इनका उच्चारण होता है—इसमें कुछ भी सशय नहीं है । हे सुव्रते । पचाम वरणों के भेद से यह शब्द नाम वाली वस्तु है । हे देवि । इनमें अकार प्रयम् वरण् है, इसके पश्चात् क्षकार सबसे अन्त में होने वाला है । यह वरणं रूपिणी मातृका अक्षमाला—इस नाम से विख्यात है ।”

तभी तन्त्र-शास्त्रो में इसे तन्त्रमाना के सम्माननीय पद से विभू-पित किया गया है—

मन्त्राणं मातृभूता च मातृका परमेश्वरी ॥
 वुद्धिस्था मध्यमा भूत्वा विभक्ता वहृधा भवेत् ।
 सा पुन क्रमभेदेन महामन्त्रात्मना तथा ॥
 मन्त्रात्मना च वेदादिशब्दाकारेण च स्वत ॥
 सत्येतरेण शब्देनाप्याविर्भवति सुव्रता ॥
 मातृका परमा देवी स्वपदाकार भेदिता ।
 वैखरीरूपतामेति करणं विशदा स्वयम् ।

—यज्ञवेभव घ० ४

अर्थात् "यह मातृका मन्त्रो की माता के समान परमेश्वरी है। दुःख में स्थिन होकर मध्यमा होती है और बहुत-से रूपों में विभक्त हुग्रा रहती है। वही कप भेद से मह मन्त्रो के स्वरूप में रहती है। वेदादि शब्दों के आकार वाले मन्त्र स्वरूप से यह सर्वदा सत्य है और सुन्नता इन शब्द से भी प्राविभूत होती है। मातृका परम देवी है, जो स्वपदों के आकार से भेदित है। करणों के द्वाग स्वयं विशदा यह वैखरील्पता को प्राप्त हो जाती है।"

केवल मन्त्र की ही नहीं, वर्ण, कला, तत्त्व और पञ्चवनि की भी इसे माना कहा गया है—

या साशक्तिर्जगद्वातु कथिता समवायिनी (मा०बि०३१५)
इत्यादिना उक्तम्, इहापि त्रिपुरा परमाशक्तिराद्या जातादित
प्रिये । स्थूल - सूक्ष्मविभागेन त्रैलोक्योत्पन्निमातृकाम्, वामके
श्वरीमतम् ४।४। परदशायामिच्छा - क्षानक्रियात्मना, सूक्ष्मदशाया
तामाज्येष्ठारौद्रोलक्षणेन, स्थूलदशाया ब्रह्मीविष्णवोश-रूपेण
विभागेन त्रयाण पुराणमुक्तगत्या सूष्टिस्थिति-सहारापूरकाणा
स्थानाना भावादनुगतार्थतया त्रैलोक्यस्य अतिभवा भवात्मकस्य
उत्पत्तावत्र मासेन मातृका जननी, अथव अम्बिकाशब्दव्यपदेश्या
जाता ।

—वामकेश्वरीमत विवरण पृ० १००

अर्थात् "जो शक्ति जगत् के धाता की कही गई है, वह सम-
वायिनी है, इत्यादि के द्वारा कहा है, स्थूल सूक्ष्म के विभाग से शैलोक्य
की उत्पत्ति मातृका है। यह कामेश्वरी मन है। पर-दशा में इच्छा,
ज्ञान—क्रिया हर से, सूक्ष्म दशा में वामा, ज्येष्ठा, रोद्री लक्षण से—
स्थूल दशा में ब्रह्मा, विष्णु और ईश स्वप के विभाग में—पुराण युक्त
गति में तीन मृष्टि स्थिति सहारापूरक स्थानों की भाव से अनुगतार्थता
होने ने अतिभवा भवात्मक शैलोक्य के उत्पत्ति तत्त्व के भवभास में मातृका

जनमी है और यह अस्तिका—इस शब्द से व्यवहार करने के घोग्य हो गई है।”

नेत्र-तन्त्र में वसे विश्व तिर्पत्री क्रिया-शक्ति के नाम में अविहित किया गया है—

यदा स्वतन्त्रालुप्ता सा क्रियाकरणरूपिणी ॥

वर्णरूपाष्टभेदेन स्फोटादिध्वनिरूपिणी

मातृका सा विनिर्दिष्टा क्रियायुक्तिमहेश्वरी ॥

क्रियाख्या परमा सादु सर्ववाडमयरूपिणी ।

—नेत्रतन्त्र, २१ अधिकार

अर्थात् ‘जब यह स्वतन्त्र होती है, तो वह क्रिया करण रूप वाली लुप्ता है। वर्ण रूप आठ भेद में स्फोट आदि ध्वनि रूप वाली है। वह क्रियाशक्ति महेश्वरी मातृका निर्दिष्ट की गई है। क्रिया नाम वाली वह सर्वं वागमयरूपिणी परमा होनी है।’

वामकेश्वर तन्त्र के अनुमार—

गणेश ग्रह नक्षत्रयोगिनीरराशिरूपिणीम् ।

देवी मन्त्रमयी नौमि मातृका पीठरूपिणीम् ॥

—प्रथम पटल

अर्थात् “गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी और राशि रूप वाली पीठ स्वरूप से युक्त मन्त्रमयी मातृका देवी को मैं प्रणाम करता हूँ।”

शक्ति-स्तोत्र में कहा है—

पचाशन्तिजदेहजाक्षरमयेनर्नाविधेघत्तिभि-

वंहर्थं पदवाक्यमानजनकंरथं विनाभावितं ।

साभि प्रायवदर्थकर्मफलदे ख्यातैरतन्तैरिद

विश्व व्याप्य चिदात्मनाहमहमित्यज्जम्भसे य मातृके ॥

अर्थात्, “पवास अक्षरों के देह से पूण्य, नाना विधन, ब्रातु जो बहुन अश्रौ वाने पद एवं वाक्योनान के उत्पन्न करने वाले हैं, जो कि प्रविनभावि अश्रीं में युक्त है। अभिप्राय सम्पूर्ण अर्थ, कर्म और फल के दोने वाले हुगात एवं अनन्त हैं, पुत्रनामे हैं मातृके। आप विश्व को व्यास करके चिदात्मा के द्वारा ग्रहसंहिता में उज्जूमिभान होनी हैं।”

आनन्दनहरी नामक स्तोत्र में भगवान शङ्खगचय ने स्तुति किए हुए कहा है—

सवित्राभिवाचा शशि गणिशिना भज्जहेविभि—
वर्गिन्याद्याभिस्त्वा सह जननि सच्चिन्तयात्य—।
स कर्ता काव्याना भवति महता भज्जिषुभगं—
वचोभिर्वाग्देवो वदनकमना मादमधुरे ॥

—सौदर्यलहरो

अर्थात् “वाणिगो को मावित्रियो के द्वारा जो कि शशिमणि शिना के भज्ज की रुचि वाली है। हे जननि ! जो आद्य वशिष्ठी के साथ आपका चिन्तन करता है, वह काव्यों का कर्ता होना है अर्थात् भाव-भज्जि से परम सुन्दर, वाग्देवी के मुख-ठमन के ग्रामोद से, मवुर वचनों से समन्वित महान् काव्यों की रचना करने वाला वनना है।”

परिभाषा—

वर्णमाला के मुद्रित रूप को मातृका कहते हैं। तत्त्वशास्त्रों न मातृका का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है।

तत्र-दाजनिक भास्करराय ने वरिवस्या रहस्य में कहा है—

—पृ० ४

स्फुरणात्मोयज्ञानमेव प्रकाशमिधव्रत्यू । तच्च सर्वज्ञत्वम्
वैश्वरत्वम्-कर्तृत्वपूणत्वव्यापकत्वादिगत्ति-मवलितम् । तस्य
चानन्दहुगाग एव स्फुरण परहन्ता विमग, पगललिताभट्टाकिं
त्रिपुरमुन्दरी त्यादिपद्म व्यवद्वियेत । वटवोजान्तगंनवटवृक्षोय सूदम स्पतुन्यगवदमृष्टिसृदम स्पशालिनी

पूर्वोक्तरूपा त्रिपुर सुन्दर्यैव तादृग् सूक्ष्मरूप वत्वप्रवृत्तिनिमित्तक परम दवाच्या । सैव च माति, तरतेनि, कार्यति व्युत्पत्या मातृ केत्युच्यते । —पृ० १७

अर्थात् “स्फुरण के अन्वय वाला ज्ञान ही प्रकाश नाम वाला ब्रह्म है । वह सब तत्त्व, सर्वेश्वर नन्दन, मवरा करने वाला” पूर्ण और व्यापक आदि शक्तियों में सबन्नित होता है । उसका आन दर्शप जो अ इ है वही स्फुरण होता है जो पराहन्ता है । विमर्श परालालिता भट्टाचार्या त्रिपुरसुन्दरी इत्यादि पदों के द्वारा व्यवहार की जाती है । वह बीज के अन्दर रहने वाला बट वृक्षाश सूक्ष्म रूप जैसे होता है, नभी के ममान गद्व शृङ्खला की पूर्व कथित रूप में युक्त त्रिपुरसुन्दरी ही उसके में सूक्ष्म रूप वाली प्रवृत्ति निमित्तक पर यह वाच्य है । वही माति अर्थात् मान रखने वाली, तरति, तरण करने वाली और कार्य करने वाली है । मातृका—इन तीन अक्षरों की व्युत्पत्ति से “ह'म'त्रुका”—इस नाम से कही जाती है ।”

काम-कला विलाम में पुण्यानन्दाचार्य के ग्रनुसार—

स्वान्तर्गतानन्नाक्षररागिमहामन्त्र वीर्यं पूर्णहिन्तास्पिणी
प्रकाशानन्दमारा विन्दुत्रयसमष्टिरूपीलघ्नक्षरस्पिणी काम कला
नाम महात्रिपुरसुन्दरो मातृका परमयोगिभि महामाहेश्वर-
रनिशमनुस्मतव्या इति । —पृ० १९

अर्थात् “अपने अन्दर रहने वाले अनन्त अक्षरों के समूह वाली, महामन्त्र के वीर्य से परिपूण चिन्तनरूप वाली, प्रकाश और आनन्द के मार से युक्त, विन्दुत्रय (तीन विन्दु) की ममष्टिरूप वाली, लिपि के अक्षरों के स्वरूप से ममन्वित कामकला नाम वाली त्रिपुरसु दरी मातृका परम योगी महामहेश्वरों के द्वारा निरतर स्मरण करने के योग्य है ।”

मतृकाशब्दराशिमध्यात् शक्ति भेदवयात्मलक्षणात् लवणार-
बालवतपरस्परमेलनात्, “भिन्ना बीजे भेदिता योनो

व्यञ्जनानि यस्या ज्ञातथाविद्या सती ।”

—व्रि० पृ० १६२ रू० आ०

अर्थात् “मातृका शब्द समूह के सघटु से, शक्ति वाले ऐश्वर्य स्वरूप लक्षण से, लवण वारि के समान परस्पर मे मेल न होने से, भिन्न वीजों से भेद वाली योनियाँ व्यञ्जन जिसके हैं, वह उस प्रकार की सती होती है ।”

तन्त्र मे शब्दराशि को ही ‘मातृका’ कहा गया है—

सात्र कुण्डलिनी वीजजोवभूता चिदात्मिका ।

तज्ज ध्रुवेच्छोन्मेषाख्य त्रिक वर्णास्तत पुन ।

आ इत्प्रवणदित्यादि यावद्वै सर्गिकी कला ॥

विसर्गशक्तिनविश्वस्य कारण च निरूपिता ।

ऐतरेयाख्यवेदान्ते परमेश्वर विस्तरात ॥

शब्दराशि स एवोक्तो मातृका सा च कीर्तिता ।

अर्थात् “यहाँ पर वह बीज जीवभूता चिदात्मिका कुडलिनी है । उससे समुत्पन्न ध्रुव इच्छा, उन्मेष नाम वाला त्रिक है । फिर इसके पश्चात् वर्ण हैं । आ, इस अवरण से आदि लेकर जितनी भी वैसर्गिकी कला है, वह इस विश्व की विसर्ग शक्ति का कारण बतलाई गई है । ऐनराख्य वेदान्त मे परमेश्वर विस्तार से शब्दराशि बतलाई है वह ही मातृका कीर्तित की गई है ।”

शिव सू० वा० द्वितीय प्रकाश मे कहा गया है—

स्वभासा मातृका ज्ञेयाशक्ति प्रभो परा ।

तस्या कलासमूहो यम्तच्चक्रमिति वीतितम् ॥

अर्थात् “अपनी दीक्षि से वह मातृका जाननी चाहिये और प्रभु की पर क्रिया शक्ति है । उमर्जी कला का समूह जो है, उसे चक्र—ऐमा वहा गया है ।”

अक्षटपरायं सप्तीभवेणुवर्गविरचितमुखवाहापादम्
ध्याहत्का, सर्वजगदधाशा शास्त्रना विश्वप्रोनिर्वितरतु परिशुद्धि
चेनस शारदा व ॥

—श्री प्रपञ्चमारतन्त्र, प्रथम पटल १

‘प्रक्षटपराय आदेवाले सान वर्गों से विरचित मुख वाह
वाली, पाद मध्याह्नाहत्का, समूण्ड जात् की अत्रीश्वरी, शास्त्रत विश्व
क उत्तम्भ करने वाली शारदा आपके चित्त का शुद्धि को करे ।’

अवर्ग से भैरव की पूजा होनी है और ऋषि वर्ग से भैरवी की पूजा
होनी है, भैरवा उपा का ही रूप है । तत्र मे असे लेकर ‘श’ तक जो द वर्ग
साने जाते हैं, उनमे उपा को प्राठरी देवी माना जाना है । तत्र की
मान्यता है कि चूंके वह शिव रा अद्वं शरीर मानी जानी है, अन वे
स्वयं ही अपने सान रूप कर कर देती हैं, जो मृत मातृकाम्रो के नाम
मे प्रविद्ध है ।

स्वरूप—

स्वच्छन्द तन्त्र (१० पटल) मे मृत मातृकाम्रो के स्वरूप का
वर्णन करते हुए कहा गया है—

मातर सप्तरुपिण्यो नानानङ्कार भूषिता ॥

परिवार्य महात्मान समन्नात पर्यवस्थिता ॥

नाह्यो कमल पत्राभा दिव्याभरणभूषिता ॥

आरतेया दिशिदेवेशि स्थिता वै शारिवापरा ।

शङ्खगोक्षारसङ्काश त्वंशान्या तु वरानने ॥

माहश्वरी महातेजास्तिष्ठते सुरपूजिता ।

कौमारो पदमगर्भामा होरकेयूभूर्बिता ॥

दिशुत्तरस्या देवेशि कामिनापवृपापिता ।

स्तिरवनीलोत्पलनिभा हारकुण्डल मणिता ॥

दक्षिणस्या दिगि तु मा उपासन परमेश्वरम् ।

बैण्णावीति च विख्याता विवेत परमात्मना ॥
 नीलजीमूतसद्व्याधा सर्वाभरणभूपिता ।
 वास्त्व्या दिग्गि देवेन्द्रि वारगही पर्युपरिथिता ॥
 अद्व्यु कुन्देन्द्रुघवताहारकुण्डलमण्डिता ।
 ऐन्द्रिया विक्षिच च मा देवी इन्द्राणी पर्युपस्थिता ।
 करालवदना दीप्ता सवभिरण भूपिता ।
 नंकृत्या दिग्गि चामुडा उपास्ते परमेश्वरम् ॥

अर्थात् “सात स्पो वाली मात्राये जो कि अनेक श्वलद्वारो में भूपित हैं । स्थानु आमा को परिवारित कर जो वभी और पर्युवरिथित है । कमलपत्र वी आमा के समान आमा वाली, निव्य आभरणो में शोभित ब्राह्मी, हे देवेन्द्रि । दूसरी श्री के समाम आसन्नी दिशा में स्थित है । अद्व्यु, गोक्षीर के स्वयं मद्वारेज में युक्त माहेश्वरी हे वरानने । सुरो द्वारा पूजित ऐशानी दिशा में स्थित रहनी है । पश्च के गम वी आमा वाली, हीरा के डेयूनो ने भूपित कीमारी देवेशि । कारिनियो के हारा उपासित उत्तर दिशा में स्थित है । निरग्न नीलकमल के स्मान आमा वाली, हार और कुरुड़लो ने भूपित वह नक्षिणी दिशा में परमेश्वर की उपासना किया करनी है । परमात्मा गिव के द्वारा वह बैण्णावी विरत्यान की गई है । नीर मेघ के समान कानि वाली समस्त आभरणो से भूपित वारगही हे देवेन्द्रि । वारुणी दिशा में उपर्युथित रहती है । श्वल, कुन्द और इदु के समान धवन, हार और कुरुगड़लों में भूपित वह इद्राणी पशु पर्युथिता देवी ऐ द्री दिशा में पर्युथित है । करान मुख वाली, दीप्त और समस्त अनद्व्यारो में मणिटत चामुण्डा नंकृत्य दिशा में परमेश्वर की उपासना किया करती है ।”

महालक्ष्मी को जब अलग माना जाता है, तो सात के बजाय एष्ठ मातृकाएँ स्वीकार की गई हैं—

ब्रह्माणी महेशो कीर्मारी वैष्णवो च वाराही ।
इन्द्राणी चामुण्डा समहानक्षमीश्वर मातृर प्रोत्स ॥

—प्रपञ्चसारतन्त्र, सप्तम पटल

अर्थात् “ब्रह्माणी, महेशी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, चामुण्डा—ये महालक्ष्मी के सहित मातृकाएँ वही गई हैं।”

इन अष्ट मातृकाश्रो को शिव सूत में पशु माता का नाम दिया गया है—

कवर्गादिपु माहेश्वर्यद्या पशु मातर ।

अर्थात् ‘कवर्गादि में मातेश्वरी आदि पशु-माताएँ हैं।’

इनके अनग-अनग अविष्ठानृ देवता इप प्रकार स्त्रीकार जिए गए हैं—

अवर्गं तु महालक्ष्मो कवर्गं कमलोद्भवा ॥

चवर्गं तु महेशनो टवर्गं कुमारिका ॥

नारायणी तवर्गं तु वाराही तु पर्विका ॥

ऐन्द्री चैव यवगस्या चामुण्डा तु शविका ॥

एता सप्तमहामातृ सप्तगांकव्यवर्थिता ॥

—रवच्छन्द प्र०पटल

अर्थात् “अवर्ग में महालक्ष्मी है। कवर्ग में रुमलोद्भवा है। चवर्ग में महेशनी है। पवर्ग में वाराही है और यवर्ग में ऐन्द्री है। शवर्ग में चामुण्डा है—ये सात महामातृकाये हैं, जो मान तोको में व्रतस्थित हैं।”

योगिनी हृदय (२ पटल)में अष्ट मातृकाश्रो का स्वरूप इप प्रकार वर्णित किया गया है—

ब्रह्माणी पीतवरणी च, चनुभि शोभिना मुखं ।

वरदाभयहस्ता च कुण्डिकाक्षलसत्करा ॥

माहेश्वरी श्वेतवरणी त्रिनेत्रा चूलधारिणी ।

(एन्द्रो तु व्यामवर्णं च वज्रोत्सन्तमस्तकरा ।)
 कीमारी पीतवर्णा च गत्तिंतोमर धरिणी ॥
 वरदाभयहस्ता च ध्यानव्या परमेश्वरो,
 वैष्णवा व्यामवर्णा च शङ्खं चक्रं वगभयान् ॥
 हस्तपद्मस्तु विभ्रणा भूषिता दिव्यभूषणं ।
 वाराहा व्यामनच्छापा पावचक्रमभूजज्वला ॥
 हनं च मुमल खडग डेटक दवनी भुजै ।
 एन्द्रो व्यामवर्णा, च वज्रद्वयनस्तकरा ॥
 चामुण्डा कृष्णवर्णा चूनून डमक्क तया ।
 खडग वेनालकं चंब दवाना दक्षिणै करे,,
 नागखेटकधण्टाव्यान दवानान्यो कपालकम्,
 महालक्ष्मीस्तु पीताभा पद्मदपणमेव च
 मानुशुज्जरन च वदवाना परमेश्वरी ।

अर्थात् “ब्रह्मा” नी पीत वरण वाली, चार मुवों ने जोभिन है। वरदा, ऋभय हस्त वाली, कु उक्ता शक्ति में जोभिन करने वाली है। माहेश्वरी। इवेन वरण वाली, तीन चत्रों से युक्त त्रिघून को धारण करने वाली है। हे प्रिये। कपान, ऐणा, परशु को हाथों में धारण करने वाली है। वज्र और अस्त्र में भूषित करने वाली है। कीमारी पीत वरण वाली है, गत्ति और तोमर को धारण करने वाली है। वरदा और अनन्त हस्त वाली परमेश्वरी का सदा ध्यान करना चाहिए। वैष्णवी श्याम वर्ण वाली है। शङ्ख, चक्र, वर और ऋभय धारण करने वाली है। हाथों में वच परण किए हुए हैं तथा दिव्य भूषणों में भूषित है। वाराही श्यामन कानि वाली है। पोत्र और चक्र से ममुज्जवन है। हाथों में हन, मुमल, खड्ग, चक्र धारण किए हुए हैं। ऐन्द्री श्याम वर्ण वाली है, चून प्रीत डमह धारण किए हुए हैं। चामुण्डा कृष्ण वर्ण वाली है, चून प्रीत डमह धारण किए हुए हैं। दक्षिण

हाथो मे खड़, वेतालक रखे हुए हैं। अन्य हाथो मे नाग, खेटक, घरटा और कपाल धारण किये हुए हैं। महालक्ष्मी पीत वर्ण वाली है। पच, दर्पण, मातुलङ्घ फल को परमेश्वरी धारण करने वाली है।”

अष्ट वर्गों के मातृका वर्ण-क्रम इस प्रकार है—

- (१) अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, झू, झृ, लृ, लृ ए, ऐ, ओ, औ, अ, अ
- (२) क, ख, ग, घ, ड ।
- (३) च, छ, ज, झ, ञ ।
- (४) ट, ठ, ड, ढ, ण ।
- (५) त, थ, द, ध न ।
- (६) प, फ, ब, भ म ।
- (७) य, र, ल, व ।
- (८) श, प, म, ह (ल) क्ष ।

इन मातृका वर्णों की विशेषताशों का वरण करते हुए शिवसूत्र (प्रथम प्रकाश) मे कहा गया है—

अकारादिक्षपर्यन्ता कलास्ता शब्दकारणम् ॥

मातर शक्तयोदेव्यो रश्मयश्च कला स्मृत ॥

अर्थात् “अकारादि से क्षकार पर्यन्त वे कलायें हैं, जो शब्द का कारण हैं, मातायें देवी शक्ति हैं और रश्मियाँ कही गई हैं।”

अ से क्ष तक सारे वर्ण मातृकास्वरूप को व्यक्त करते हैं, जिनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१ अ—मौलि २: आ—मुख ३ इ—दायी आँख ४ ई—वायी आँख ५ उ—दाया कान ६ ऊ—वायाँ कान ७ ऊ—दायी नासिका ८ ऊ—वायी नासिका ९ लृ—दाया कपोल १० लृ—दाया कपोल ११ ए—ऊपर वाया ओष्ठ १२ ऐ—नीचे वाला ओष्ठ १३ ओ—ऊपर वाली दन्त-पक्ति १४ यो—नीचे वाली दन्त-पक्ति १५ अ—तालु १६ अ—जिह्वा १७ क—दाया वाह्यमूल १८ ख—दाया वाह्य कपूर

१६ ग—दाया वाहु-मणिबन्ध २० घ—दाया वाहू गुनि मूल २१ ड—
 दाया वाहू गुन्यग्र २२ च—ब्राया वाहुमूल २३ छ—ब्राया वाहु कर्पूर
 २४ ज—ब्राया वाहु मणिबन्ध २५ झ—ब्राया वाहुगुलि मूल २६ झ—
 ब्राया ब्राह्मगुन्यग्र २७ ट—दायी जपा २८ठ—दायी जानू २९ ढ—दायागुल्फ
 ३० ढ—दायागुनिमूल ३१ ण—दाया पादागुन्यग्र ३२ त—दायी जघा
 ३३ घ—ब्राया जानू ३४ द—ब्रायाँ गुल्क ३५ घ—पादागुलिमूल
 ३६ न—ब्राया पादागुल्यग्र ३७ प—दायी कुक्षि ३८ फ—ब्रायी कुक्षि
 ३९ ब—पृष्ठ ४० भ—नाभि ४१ म—जठर ४२ य—हृदय ४३ र—
 दाया कन्वा ४४ ल—कुकुद ४५ व—ब्रायाँ कन्वा ४६ श—हृदयादि
 दाया कर ४७ प—हृदयादि ब्राया कर ४८ स—हृदयादि दायाँ पेर
 ४९ ह—हृदयादि ब्राया पेर ५० न—नाम्रतगादि हृदगत्त ५१ थ—हृदयादि
 भ्रूमण्ड ।

शास्त्रो मे मातृकाश्रो का यही रूप वर्णित किया गया है ।

मन्त्रों की वैज्ञानिक रूपरेखा परिभाषा—

दम से बीम वर्णों के संग्रह को मन्त्र कहा जाता है। इष्टदेव का अनुग्रह विशेष ही मन्त्र कहलाता है। देवता के सूक्ष्म शरीर वो भी मन्त्र कहा जाता है। दैवी राज्य से सम्बन्धित शब्द को मन्त्र कहा जाता है। मन्त्र शक्ति से दैव-जगत् को प्रभावित करके तत्त्व देवता को वश में किया जाता है। आसुरी प्रवृत्तियों की शक्तियो—भूत, पिशाच, डाकिनी, शाकिनी, प्रेत, दैत्य आदि को भी वश में बरके अपनी इच्छा के अनुसार उनसे काम लिया जा सकता है।

‘आरलैण्ड आफ लेटर्स’ में सर जान बुडरफ के अनुसार शिव, शक्ति और आत्मा के एव्यर रूप को मन्त्र रहा जाता है।

शिवसूत्र विमर्शनी में ‘चित्त मन्त्र’ कहकर चित्त को ही मन्त्र कहा गया है फिर चित्त की व्याख्या करते हुए कहा गया है—

चेत्यते विभूश्यते पर तत्त्वमनेन इनि चित्तम् । पूर्णस्फुरत्ता सत्त्व-प्रसाद प्रणावादिविमर्शरूप स वेदनम्, तदेव मन्त्रयते गुप्तम् अन्तर भेदेन विमृश्यते परमेश्वररूप अनेन इति वृत्त्वा मन्त्र । अतएव च परस्फुरतात्ममननधमतिमता भेदमयससार प्रशमना त्मकत्राणधर्मता च अस्य निष्ठ्यते । अथ च मन्त्रदेवता विमप शरित्वेनप्राप्तत्सामरस्य अरावर्णनित्तमेव मन्त्र, न तु विचित्र वर्णमञ्चुटनामात्रकम् ।

अथवा “चेतित अर्थात् विमूषित जिसके द्वारा पर-तत्त्व होता

है। अत इसको चित्त व्हा जाता है। पृथग् गुणता इन्होंके स्थिति प्रणव श्रादि का दिमर्द्दि स्वप्न वाला सम्बोधन है। वही गुण स्वप्न में मन्त्रित कया जाता है अर्धात् अन्तरभेद का द्वारा विभूषित होना है और परमेश्वर के स्वप्न उसके द्वारा विचार जाता है, वही मन्त्र है। इसलिए परम्पुरण स्वरूप मनन की उमर्दिता और भेद में दृग् समार के प्रशमन स्वप्न द्वारा के वर्षमवा होना वहा जाता है। इसके द्वारा तन्त्र-देवता के विमर्द्दि होने में प्राप्त हुए उम सामर वा शाराघक चित्त ही मन्त्र है, न कि विविध वर्गों के समन्वय न्द्रन्प मात्र होना है।”

मन्त्र का अर्थ आमन्त्रण भी बिटा है। आमन्त्रण का शम्भ-प्राण दृम, शर्य, वाम और ऐक्ष में लिया जाता है। सामाजिक जीवन की सफलता के लिए अर्थ और काम आवश्यक है। उनके लिया जीतिक जीवन नी-स हो जाता है, परन्तु यह दोनों शक्तिगाँ दृम पर आवाहि न हो, तभी यह लाभदायक सिद्ध होते हैं। शर्म कहने हैं वर्त्तय वो। कर्तव्य की भावना में अर्थ और काम सोक्ष पथ की ओर अग्रयान छाते हैं। जो शक्ति इस कार्य को समन्वय करने की मामर्थ्य रखती है, उसे मन्त्र कहते हैं।

तन्त्र में शक्ति को ही मन्त्र कहा रखा है। इसलिए वह पञ्चशक्तिमय कहा जाता है—

मननात्मर्व भावानां त्राणात्मसार सागरात् ।

मन्त्ररूपा हि तच्छक्तिर्मननत्राणा रूपिणी ॥

अर्थात् ‘मारे भावों के मनन और मारे जगन् के आण उनके कारण उम मनन और त्राणा रूपी शक्ति को मन्त्ररूपा कहा जाता है। वह मूल में तो एक ही परन्तु उपाधिवश विभिन्न प्रधार की हो जाती है।’

परार्थिशिका में भी कहा है—

मननत्राणवर्माण सर्वेषामेव वाच्यवाचकादिरूपवर्गं
भट्टारकात्मना मन्त्राणम् ।

होने पर त्राण है और मङ्गोच भी विचार्यमाण चित् की एकता से प्रथमान होने के कारण चिन्मय ही होता है अत्यथा तो कुछ भी नहीं है—यह श्रीपतंगभिज्ञा हृदय भी मर्यादा में उसमें क्रोध का भी वैश्वात्म प्रया में अनुप्रविष्टना के अनुन्धान में उत्तादन के द्वरा अपने॒ भाव-भग-प्रमङ्ग रूप चक्रिता के व्यपोटन लक्षण वाला रक्षण है और तन्मयहेतु द्वय से वेदनके योग्य के विक्षोभ, सवग्रास, त्रिशृङ्खल उल्जाम के लिए अनुभूति है। अपने हृदय के द्वारा एक मवेशा विमर्श शक्ति ही मन्त्र है।”

मनन और त्राण की तात्रिक परिभाषा करते हुए डा० शिव शङ्कर अवस्थी ने लिखा है—‘परनाद अथवा परम्पुरणा का परामर्श ही मनन है, मनन परशक्ति के महान् वैभव की अनुभूति है—उसके पारमैशर्व्य का उपयोग है। अपूर्णता अथवा मङ्गोचमय भेदात्मक ससार के प्रशमन को रक्षा अथवा त्राण कहते हैं। इस प्रकार शक्ति के वैभव या विकास-दशा में मननयुक्त तथा सङ्कोच या सासारिक अवस्था में त्राणमयी, विश्वरूप विकल्प को कवनित कर लेने वाली अनुभूति ही मन्त्र है।’

मन का त्राण करने वाले को तन्त्र-शास्त्रो में मन्त्र कहा गया है। मन की चक्रन् वृत्तियाँ स्वाभाविक हैं। चक्रलतासे उसकी शक्तियाँ विघरी रहती हैं। से जब उसकी वृत्तियाँ एकाग्र हो जाती हैं, तो उसकी सारी अपार सामर्थ्य एकत्रित हो जाती है और देव जगत् की शक्ति की तरह वह कार्य करने लगता है। मन्त्र द्वारा यह कार्य सरलतापूर्वक हो जाता है। इसमें छिन्न-भिन्न मानसिक वृत्तियाँ एक बिंदु पर लाई जाती हैं। तब वह शक्ति का स्रोत बन जाती है। मन्त्र का अन्त करण से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। मन, बुद्धि, चित् और अहकार को अन्त करण कहा जाता है। मन की शक्ति अन्त नरण में प्रस्फुटिन होती है। अन्त - करण के चारों विभाव उसके नियन्त्रण में चलते हैं। मन इन्द्रियों को

चान वाना है। इसलिए मन्त्र द्वारा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। बुद्धि मन की गुण है और उसे निस्तंत्र सदामद् विवेक का निर्देश देनी रहती है। इसलिए मन पर बुद्धि के अनुपार जात्तिकृ वृत्तियों का आगमन होना है। मन उग्रण के यह दो मुख्य भाग हैं। मन्त्रशक्ति में इनका भीवा ममर्क रहना है।

मन का शब्द है—मनन, विज्ञान, विद्या और ज्ञान। मन्त्रशक्ति से मनन का प्रभाव प्रियता है। मन कहते हैं वार-वार विचारने को। जिप विचार को ग्रार-डार मन में जमाने का प्रयत्न किया जाता है, वह मन का एक प्रभाव बन जाता है। यह मन्त्रशक्ति में मन को अपने मनोनुकूल ढाना जा सकता है। मन वह विज्ञान और विद्या है, जिससे शक्ति का उद्भव होता है। यह वह ज्ञान और प्रकाश है जिससे अज्ञान और अन्धकार को दूर किया जा सकता है, यह ऐसी मनोभूमि तैयार करता है जिस पर ईश्वरीय सत्ता केन्द्रीभूत होने के लिए अपना आमन लगाने की द्वीर्घनि प्रदान करती है। ईश्वर सत्, वित् आत्मद है। मन्त्र शक्ति का सफल साधक ऐसी ही हितनि का अनुभव करता है।

नियत ध्वनियों ने समूह को मन्त्र कहते हैं। मन्त्र के अर्थ भी होते हैं। उनमें शिखायें और प्रेरणायें भी निहित होती हैं परन्तु विशेषता ध्वनियों की ही होती है। इसलिए मन्त्र में स्वर पर ही विशेष ध्यान दिया जाता है, उसी में शक्तिशो का विभास होता है।

जहाँ मन्त्र का विग्रियुवक प्रयोग किया जाता है, वही शक्तियों का निवास बना रहता है और नाना प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। योग दर्शन ४।१ में कहा है—“जल, औदयि, मन्त्र, तप और समाधि से सिद्धियाँ होती हैं।” योगशास्त्र का कथन है—‘मन्त्ररोगी मन्त्र-सिद्धि द्वारा, हठयोगी तप-सिद्धि द्वारा और लघयोगी सयम-सिद्धि द्वारा ऐसी विभूतियों को प्राप्त करते हैं। मन्त्र सावन द्वारा देवी-देवता अपने आप वश ऐ हो जाते हैं और मन्त्र योग की सिद्धि प्राप्त शोति को ससार के समस्त वैभव सुलभ हो जाते हैं।

मन्त्रों द्वारा प्राण विजय—

मन्त्र में प्राणों पर विजय प्राप्त की जाती है। प्राण हमारी जीवनी शक्ति है। उसी के महाते ममत कार्यों का मचानन होता है। सारी गतिविधियाँ उसके निर्देश पर चलती हैं। उसके कारण ही इन्द्रियों संशक्त और नीगें रहती हैं। प्राण के अन्धामें ही नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं और कृगड़ियाँ शक्ति नाप्राप्त होती हैं। इसनिए शास्त्रज्ञारों ने इन ब्रह्मा, प्रजापति प्रौर यन्त्रों की मत्ता दी है। मान प्राणों को ही नपत्र्युपि कहा गया है। जिसने अपने सप्तप्राणों को जगत् कर लिया, वह जागा हुआ कहा जाता है। मोता वही है जिसका प्राण माना है। जिसने अपने प्राणोंपे जाग्रति उन्मत्त करली है, उसके चारों ओर प्रकाश-ही-प्रकाश रहता है, उसका ज्ञान की रक्षितों में निरन्तर अभिमिच्छन होता रहता है। जीवन का नव-निर्माण करने वाली इस महाशक्ति पर मन्त्रशक्ति का राज्य स्थापित होता है। प्राणशक्ति पर विजय प्राप्त कर सावक शक्तियों का पृथग् वन जाता है, उसके लिए माधारण कार्य दूरों को अपापारण और चमत्कार हथिगोचर होने हैं। वारनव में यह मन्त्रशक्ति द्वारा प्राणों पर अधिकार का ही परिणाम है।

विभिन्न शक्तियों का विकास—

प्राचीनकाल में मन्त्रशक्ति के विशेषज्ञ होते थे। अनेकों प्रकार में इस शक्ति को प्रयुक्त किया जाता था। आमुगी शक्तियों का नाश, चरित्र विकास, मनावल की वृद्धि, बुद्धि-प्रबलता और आत्मिक उत्थान तो इसके महत्त्व परिणाम थे ही। अनेकों प्रकार के भौतिक लाभ भी इन से प्राप्त किये जाते थे। घनानाम आगोग प्राप्ति, विपत्ति-निवारण, आयुवृद्धि, शत्रुओं से रक्षा और उत्तम वर्षा के लान भी मन्त्रों में उठाए जाते थे। युद्ध के अल्ल-गत्ता में भी यह एक प्रमुख शक्ति मानी जाती थी। मन्त्रों में अभिमन्त्रित दिव्याङ्ग, पाशुरनाङ्ग, प्रारनेयाङ्ग आदि होने दे। मन्त्रशक्ति से शत्रुवेता में अग्नि का ज्वालायें भड़क उठी थीं और

मन्त्र में इन शब्दों से बुन्हने वाले निए वर्णों जो कह नहीं जाती ही। मन्त्र में शत्रुघ्न का उवर अद्वितीय पांडित किया जाता था और वर्ष-ही वर्ष दृढ़ दिवे नहीं हैं। मन्त्रों ने ऐसे भगवन् भगवन्नों का प्रदोष ज्ञान था किस प्रकार वह अनेकों सम्मवन् ज्ञानी थीं। इनकी तुलना श्रावुनेक एटम व ब्राह्मद्वारा वर्णों से की जा सकती है।

इतिहास की साक्षी—

राजायण और महाभारत में इनकी पुष्टि में अनेकों उदाहरण मिलते हैं। जब रावण को अपनी पात्रा ब्रह्म दिवाहि देती है, तो वह शरने पुरुष नेतृत्व को एक नव्य पत्र करने का अद्वितीय है। मैत्रिय निकुम्भला नामक न्याय पर यज्ञगाना बनाकर उपक चागे और अपने अन्त्रों को विद्वाकर अभिमन्त्रित करने की विधि-न्यवन्या बनाता है, परन्तु उसकी इन योजना को अनुकर कर दिया जाता है। कहा जाता है कि यदि मैत्रिय दसे पूरण कर लेता, तो वह अजय हो जाता और भाज राम-यण का डिनिहान कुद्ध और ही होता।

राजा जन्मेजय के धर्म-यज्ञ में मन्त्रशक्ति द्वारा मारी पृथ्वी से सर्व हवन-कुरुण में आ-आकर भस्म होने जा रहे थे। नजा पृथ्वी ने १०१ अश्वमेव यज्ञों का सकलम किया था, जिसमें ने १०० पूर्ण हो चुके थे। इद्र को अनना आमन छिन जाने का भय उत्पन्न हुआ। वह ब्राह्मण के वेष में आकर यज्ञ में मे घोडे की चुराकर ले गया। दो दार तो घोडे को वापिस लाया गया परन्तु जब बाद में इसकी पुनरावृत्ति होने लगी, तो राजा पृथ्वी धूम्र वाले मन्त्रों द्वारा तुमसे इतनी शक्ति उत्पन्न हो गई है कि इससे केवल इन्द्र ही नहीं, सारी इन्द्रियों भस्म हो जायगी और समार ने प्रलय आ जायगी।”

राजा वनि ने १०१ भश्वरध यज्ञों का आयोजन किया था और

मन्त्रशक्ति के प्रभाव स अद्वितीय में उसे दिये अस्ति-ना प्राप्त हुआ थे, जिनकी महायता में उसने उद्गत तो पर्याप्ति इत्यामन पर अविकार प्राप्त किया था। वास्तव में मन्त्र एक यज्ञित है। उसका प्रयोग जिस क्षेत्र में भी किया जाए, उपर ही मफदना प्रभावी है।

एक विद्युषो द्वारा मन्त्रशक्ति के छस्तार का आँखों देखा दर्शन—

मन्त्रशक्ति का उद्देश्य और विज्ञान मार्ग में वी हुआ और हिन्दू नम्भूनि का ही इसका योग प्राप्त है। इसके बाद अनेक ममप्रताधों ने इसका अनुकरण किया और अपने टड्डे और आम्हा के मन्त्र बनाकर उनका प्रयोग करने लगे। इनाडे और मुमनिप जान् में भी यह विज्ञा प्रचलित है, बीढ़ और जैन मत-मत्ता न-बाले भी इसका लाभ उठाने हैं। विश्व के हर कोने में इस विज्ञ की ऊपर पटी पर तु प्रमुखता इसके जन्मस्थान भारत की ही रही और रहनी। फिन्वन में अनेकों भारतीय गये थे। उन्होंने वहाँ सम्भृत और मार्गीय सम्भृति का प्रचार किया था। तिथ्वत की भाषा भी सम्भृत पर आधारित है। मतविद्या वहाँ खूब फली-फली। वहाँ आज भी अनेकों मत्र मिथ्योगी मिलते हैं। लामाओं का मन्त्र शक्ति द्वारा ओनों को रोकना और वर्षा को बांद कर देना प्रमिल है। अनेकों विदेशी लेखकों ने आँखों देखे ममाचार लिखे हैं। औरेजी पत्रिकाओं में इन्हे प्रकाशित भी किया गया है। २० जनवरी १९४१ के औरेजी ट्रिभ्यून में उपरोक्त लेख के अनुमान 'अलाइस इनिजेशन' ने निखारा है कि महाराजा ने उन्हे लामा-नृत्य देखने का निम वरण दिया था। परन्तु निभित्त समय पर वर्षा हो रही थी और हम तोग चाटरप्रूफ और ढाताओं महित पहुँचे। हमें सन्देह था कि लामाओं के सुन्दर वस्त्र वर्षा में भीग जायेंगे और नृथ को शोभा जाती-होंगी परन्तु हुआ इसके विपरीत ही। महाराजा में जब हमने अपना सन्देह प्रकट किया तो उनका महज उत्तर था—“मेरे लामा वर्षा को मन्त्र

द्वारा बद करना जानते हैं, और हूँमा भी बैसा ही । नृत्यम्थल पर पहुँचते-पहुँचते वर्षा बन्द नहीं चुकी थी ।”

अलाइम इलिजवेघ के ‘बाइज प्राफ मिस्टिक इग्रिडया’ में लिखा है कि लामा लोग गपन हाथ में एक तुरहा लेते हैं, जिसमें स्वर्णादि विभिन्न धातुओं के टुकडे और पीली सरसों के दाने दीते हैं । मन्त्रों के उच्चारण से लामा ओलों के बड़े टुकडों को नोड नेते हैं द्वार-द्वार कर देते हैं और सेती भी रक्षा करते हैं । जब वादल की गरज हो रही हो और वर्षा की सभावना हो, तो वह अपनी खम पुष्टक में से एक सस्कृत के मन्त्र का उच्चारण करता है । इसका अभिकार उसे लम्बी साधना के पश्चात् ही प्राप्त होता है । मन्त्र पढ़ने से वह वाटल की गरज को बन्द कर देता है । जब ओले गिरने आरम्भ हो जाय, तो उस दिशा में पीली सरसों के दाने छिड़कर मन्त्र पढ़ता है और ओला-तृष्णि बन्द हो जाती है ।

यह बरण किसी आस्थावान भारतीय का नहीं, वरन् तर्कशील विदेशी का है, जिसके मन में मन्त्र के प्रति आगाम श्रद्धा जाग रठी ।

मन्त्रशक्ति का वैज्ञानिक रहस्य—

मन्त्रों में होने वाले लाभ व मिद्दियाँ, शक्तियाँ किसी देवी-देवता की कृपा से शक्तिमात ही प्राप्त नहीं हो जाती वरन् उसके द्वारा जो वैज्ञानिक प्रक्रिया अपने आप म त्रवत् होती है, उससे लाभ होता है । मन्त्रों का एक स्वतंत्र विज्ञान है जिसका आधा ठोप वैज्ञानिक तथ्य है । साधारण रूप से इसे यौ समझा जा सकता है कि जड़ और चेतन दो प्रकार का ससार होता है । यह जगत् स्थूल और सूक्ष्म दो भागों में बंटा हुआ है । हमारे स्थूल नेत्रों से जो कुछ दिक्षार्दि देता है, वह स्थूल है । जो वस्तु स्थान चाहती है, जिसका बजन और नाप-तौल होती है, उसे विज्ञान की भाषा में स्थूल कहते हैं । जिसको हम स्थूल नेत्रों से देख नहीं सकते, जिसका नाप-तौल और बजन नहीं होता और जिसे स्थान

की अपेक्षा नहीं रहती, वह सूक्ष्म कहताच्छ है। शरीर : यून है और मन सूक्ष्म है। मन में हजारों-लाखों तत्त्वों के भिन्न भिन्न विचार भरे हैं और प्रमत्य और भरे जाने की गुजारश रूपी है दर्शन स्थान का अभाव नहीं स्टॉक्स। स्थूल वर्णनों की शक्तिः सीधः होती है सूक्ष्म को प्रदीप। स्थूल की गति का ज्ञान ही सूक्ष्म होता है शब्दाच्च वह तो लड़ते हैं। शरीर में सूक्ष्म प्राण रूपे हैं जीव जड़े जाना प्रकार की गतिविधियाँ होती हैं। जब प्राण दृष्टि शब्द द्वारा हो जाता है तो वह शरीर उसे अपने मात्र अपने के मर्दया आगों पर हो जाता है तो वह अपने सर्वव्यापी प्राण-तत्त्व में मिल जाता है और शरीर भड़के लगता है। स्थूल ने सूक्ष्म शक्तियां होता है। जितनी बेहुल दर्शन सूक्ष्म वनती जाती है, उन्हीं ही वह शक्ति का विकास करती है। तत्त्व ने अविक जल की दाढ़िय में शक्ति हाती है जिसमें मैवद्वे पन के रेतगाड़ी के उच्चे खींचे जाने हैं। अग्नि का सूक्ष्म रूप चित्त तन है, चित्तमें उटे बड़े कारणों और मिले चनाई जाती है और अन्वकार की प्रकाश में परिदर्शित करने की मामर्य प्राप्त होती है।

हमारे स्थूल शरीर में कुछ भी शक्ति नहीं है। सूक्ष्म शक्तियों की प्रक्रिया का इसमें प्रदर्शन-मात्र होता है। हमारे सूक्ष्म शरीर में अनेकों प्रकार की शक्तियाँ विद्यमान हैं। उनको जगाकर ही हम श्रवात्रा-रण कायों के सम्पादन की घमता बाले हो पाते हैं। यह इत्यक्त नियम है, सूक्ष्मजगत् तक सूक्ष्म की ही पहुँच में सम्भव हो मिलती है स्थूल वन्तुओं का वहाँ प्रवेश निपिछा है। मन में शब्द होने हैं, जो सूक्ष्म होते हैं। पाँच तत्त्वों में आकाश-तत्त्व मनमें सूक्ष्म और शक्तियां हैं। अत इससे सम्बन्धित शब्द का प्रभाव सूक्ष्म शरीर वित शक्ति-देन्द्रों पर पड़ता है, वह जाग्रत होते हैं और साधक को नाता प्रकार की शक्तियों से विभूषित करते हैं। यदि किसी स्थूल शक्ति को इनके जागरूक का साधन बनाया जाय तो कृष्ण में शक्तिहरा भी होती

मन्त्र का अविभावि—

श्रीमात्रव पुण्डलीकु परिणत न मन्त्र के अविभावि पर प्रकाश ढालते हुए कहा है—

“इस भूमि के ऋषियों का यह प्राचीन अनुभव है कि जब ब्रह्म अभिव्यक्त होता है, तो मर्वप्रयम नादध्वनि, नादब्रह्म रूप ग्रहण करता है और नादशक्ति से ही वाद में सृष्टि उत्तरस्त होती है—‘वागेव विश्वा भुवनानि यजे, ऊर्वनम ग्राकाश मे मिथ्यते यहो वह सतानन शब्द है जो वेद ऋत्वाप्रो मे नित्यत्राकु कहकर प्रश्नमित है और मानव वाणी अपने मर्वोच्च रूप रमना चतुर्थ म्वरूप है। जब हिमो ऋषि ने तपस्या काल मे आत्मिक दिव्य दशन मे सत्य को अनुभूत किया, तो उन्होंने इसकी मूल ध्वनि को देखा, जिसमे यह अपने को स्वय के लोक मे प्रकट करना है और उन्होंने इसे ऐसी मानव-ध्वनि मे बोलने का प्रयत्न किया, जो उस मूल ध्वनि के अत्यन्त समीप हो। ऐसे अनुभूत विचार या सत्य के ठीक अपरिहार्य शब्द—शरीरगत्मक—रूप के लिए ही मन्त्र शब्द का प्रयोग किया जाता है, इसलिए म ब्रह्मष्टा अथवा ऋषि के द्वारा साक्षात्कृत सत्य का मूर्त प्रतीक या यथाथ ध्वनिरूपी वाहन होता है। यह अपने द्वारा मूर्त सत्य की शक्ति और सक्रियता के द्वारा सम्बद्ध होता है।”

शब्द-शक्ति के चमत्कार—

शब्द शक्ति की व्याख्या श्री कापालि शास्त्री ने बड़े ही सुदर शब्दो मे की है—“शब्द ध्वनि में एक शक्ति छिपी हुई है और वह वर्ण ध्वनियो के अनुमार भिन्नना रखती है। इन शब्द ध्वनियो का ठीक-ठीक प्रयोग हमें उनके द्वारा सकेतित गति और लक्षणो के योग्य बनाती है। तत्त्विको का यह सिद्धात उनके इस प्रथम स्वयतिष्ठ पिद्वान पर आवृत है कि शब्द या ध्वन्यात्मक सृष्टि पदार्थों की सृष्टि से पहले उत्तरस्त होती है। शब्द पहले हैं और अर्थ (वाचपार्थ या पदार्थ) वाद मे। ‘मर्थ सुष्टे’

पूर्वम् शब्दसृष्टि — शब्द यहाँ वदिक साहित्य के वाक् का व्यान हे लेता है। यह प्रथम शब्द नाद ही प्रथम सृष्टि आद्य म्पन्द है, जो विश्व के निर्माण को निष्पन्न करने को तथा पदार्थों को स्तपन्न करने के कार्य में अग्रपर होता है। यह प्राचीन वैदिक सृष्टि का मिद्दात है कि वाक् गर्जना करने वाले वृपभ को वाणी, परम मत्य का देवाधि देव की वणी को तत्त्व की भाषा मे परम और आद्य म्पन्दन, अनन्त व्रह्म के सूक्ष्मातिमूलम् अश के म्पन्दनशील गति का म्प दे दिया गया है, जो कि ममस्त विड्वो, इस विश्व और इसके पटार्थों को आयोजित, निर्मित और अभिव्यक्त करता है। यह वही शब्द व्वनि, लय नाद है जो कि लघुनम वस्तुओं मे लेकर महत्तम तक के निर्माण मे कार्यरत है तात्रिकों ने व्यवन वाक् से ध्वनि-प्रतीकों की खोन की और उतना प्रशाशन किया है जो केवल भौतिक वस्तुओं को ही नहीं, वल्कि मूलमन्तर लोकों से मम्बन्त्र रखने वाले पदार्थों को रूप प्रदान करने वाले छन्दों का प्रतिनिधित्व करती है।”

शास्त्र भी इसका ममथन करता है—

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विद ।

छन्दोऽस्य एव प्रथममेतद्विश्व व्यवर्तन ॥

—वा० प० प्र० क००

अर्थात् “आम्नाय के ज्ञाता यह शब्द का परिणाम है—ऐसा जानते हैं। यह विश्व प्रथम छन्दो ही मे वतमान हुया था।”

याहमित्युदितवाक् परा च मा
य प्रकाशलुलितात्म विग्रह
यौ मिथ समुदिताविहोन्मुखी ।
नौ पडच्चपितर्गै—श्रेय गिवी

—चिदगगन चद्रिका, प्रथम विमर्श

अर्थात् “जो अहम् यह उद्दित वाणी है और वह परा है। जो

प्रकाश से लुलेत आत्मविग्रह वाला है। जो दोनों समुदित होते हुए यह उन्मुख हैं वे दोनों पद्धति और श्रेय शिव हैं।”

अध्याहितकला यस्य कालशक्ति मुपाश्रिता
जन्मादयो विभारा पड़ भाव भेदस्य योतय ॥

अर्थात् “जिसकी अध्याहित कला को कालशक्ति उपाश्रित है। जन्मादि विकार भेद की योनि पड़ भाव है।”

शास्त्रो ने शब्द को ब्रह्म की सज्जा दी है और इसकी उपासना का निर्देश भी दिया है। शब्द यच्छ्वा हो या बुरा, उसे ब्रह्म मानना ही इस उपासना का लक्ष्य है। इसमें शब्द मात्र में समद्विद्वि उत्पन्न हो जाती है और वह निर्दा स्तुति में अप्रभावित होना होता है। यह सम वृत्ति उसके अन्त फुरण की शुद्ध करती हुई आनन्द और शान्ति के मार्ग पर ले जाती है।

मन्त्र का आधार शब्द इसलिए माना गया है कि यह अन्य तत्वों की अपेक्षा शक्तिशाली है। शास्त्रो ने इसकी शक्ति और सामर्थ्य को दख़कर इसे ब्रह्म ही कह डाला। वास्तव में शब्द में आधार सामर्थ्य है। जब शब्दों का उच्चारण होता है, तो उनसे कम्पन उत्पन्न होते हैं, वह कम्पन विश्व यात्रा की तीव्रारी करते हैं और ईश्वर-तत्त्व के माध्यम से परिन्मण्ण करके कुछ ही अणों में इस परिक्रमा को समाप्त कर लेते हैं। इस यात्रा में अनुकूल कम्पनों से मिलन होता है। अनुकूलता में एकता का सिद्धार्थ प्राकृतिक है। इन कम्पनों का एक पुञ्च-सा बन जाता है और अपने केन्द्र तक लौटते-लौटते वह अपनी शक्ति को काफी बढ़ा लेते हैं। यह कार्य इतनी तीव्रगति से हो जाता है कि साधक को इसका अनुमत भी नहीं हो पाता कि शब्दों के उच्चारण मात्र से यह चमत्कार के से उत्पन्न हो रहे हैं।

लोक में भी शब्द को अनेकों चमत्कारिक प्रत्यक्ष रूप में हम देखते हैं। बीन बजाने से सर्प को मोहित किया जाता है। शब्दों के

प्रभाव से हाथी जैसे विशालकाय पशुओं को वश में किया जा सकता है, स गीत से मृग समय हो जाते हैं, गायों का दूध बढ़ाया जाता है। मेघ-मङ्घार में वर्षा की जाती है, दीपक राग से वुझे हुए दीपक जलाए जाते हैं। थाला वजाकर मर्ष, विच्छू आदि के विष उतारे जाते हैं और भूतो-न्माद व करण्ठमाना जैसे रोगों का शमन किया जाता है। सैनिकों को पुल पर से पग मिलाकर चलने वा निषेव रहता है क्योंकि इसमें पुल के गिरने की सम्भावना हाती है। आचुनिक विज्ञान ने भी स गीत के प्रभाव की अनेकों प्रकार से परीक्षा की है।

स गीत का केलों पर प्रभाव का परीक्षण अन्नमलाई विद्यालय के वनम्पति अनुस धान विभाग के अध्यक्ष टी० सी० एन० सिंह की देखरेख में किया गया। तजोर जिने के एक गाँव में किये गये परीक्षण में यह तथ्य प्रकाश में आया है कि स गीत का केले के वृक्ष पर अनुकूल प्रभाव पड़ा है। वह न केवल सगीत का रमास्वादन ही करता है, वरन् उसमें खूब फनता-फूनता भी है।

केलों के एक बगीचे में जहाँ ३॥ महीने नादस्वरम् नामक प्रसिद्ध दक्षिण भारतीय वाद्य प्रतिदिन आघां घण्टे तक बजाया जाता था—केले के पेड़ बढ़े, साथ-माथ उनकी पैदावार भी बढ़ी। वहाँ से सी मीटर दूर, उसी तरह की भूमि तथा वैये ही हालात के अन्तर्गत उगे हुए केले के वृक्षों की पैदावार के मुकाबले में दुगुनी पैदावार हुई।

पशुओं पर भी इसके अनुभव किए गए हैं। शैले इगलैंड की प्रसिद्ध स गीतज है। वह लाईमौथ के चिडिया घर में जाकर झील के छिनारे अपना साज बजाना प्रारम्भ कर देती है। उसकी आकर्षक ध्वनि से अनेकों पशु किनारे पर आ जाते हैं और जब तक वह साज बजता रहता है, वह तन्मय होकर सुनते रहते हैं। सील मछली की स गीत-प्रियता जगत् प्रसिद्ध है। उसकी इस वृत्ति से लाभ उठाकर शिकारी अपनी नात्र या जहाज में बेला बजाते हैं, तो स्वर-लहरी की माघुरी से

मुग्ध होकर सील म्रपना मुख पानी से निकालकर स गीत सुनने में इननी तन्मय हो जाती है कि उसे अपने प्राणों की सुर-वृथ तरु नहीं रहती और शिकारी के जाल में फँस जाती है ।

पशु मनोविज्ञान के विशेषज्ञ डा० जाज फेर विन्सन की खोजों के परिणामस्वरूप यह पता चला है कि विद्यानों के बजते ही कमरे के सब चूहे अपनी सकोचशीलता तथा भग्न की भावना को दूर करके दिन में भी विद्यानों के पास आ जाते हैं और वडे ध्यान से स गीत मुनते हैं । कुत्तों पर भी सगीत का प्रभाव देखा गया है । उल्लू और गरुड़ को सगीत विशेष रूप से आकृपित करता है । चिडियों को भी सगीत बहुत प्रिय है । नार्वे के डा० हन्सन ने पना लगाया है कि शहद की मख्ती स गीत के स्वर का आनन्द सठाने में सबसे तेज होती है । मच्छर तो मनुष्य की आवाज से भी प्रभावित होते हैं । अत सिद्ध है कि शब्द प्राणी मात्र को प्रभावित और आकृपित करते हैं, क्योंकि उनमें एक अद्भुत शक्ति होती है ।

ध्वनि तरङ्गों में परीक्षण-

मन्त्र में ध्वनियाँ होती हैं ध्वनियों के समूह को मन्त्र कहते हैं । वैज्ञानिकों ने ध्वनि-तरगों पर परीक्षण किए हैं । उन्होंने देखा कि चिकित्सा के क्षेत्र में ऊँची फोटोवैसी वाली ध्वनि का प्रयोग मास-पेशियों की पीड़ा के उपचार में बहुत उपयोगी पाया गया है । एक ऐसे उपचरण की सहायता से, जिससे प्रति सैकिंड लगभग १० लाख चक्रों की रफ्तार से ध्वनि तरगें नि सृत होती हैं डावटर मानव-शरीर के रुग्ण भाग में ध्वनि धाराये भेजते हैं ताकि उसमें उससे ताप उत्पन्न हो । यह ताप शक्तिप्रद और आरोग्यकारी होता है । किन्तु ध्वनि शब्द का सबसे क्रातिकारी प्रयोग मानसिक रोगियों की चिकित्सा में लिया जाता है । 'यूटा कालेज आफ मेडीसन' के डा० पेटर लिवस्ट्राय ने गम्भीर रोग वाले १६२ मानसिक रोगियों के मस्तिष्कों में अतिस्वन ध्वनि

धारावें पहुँचाई । इन ६० विक्षिप्त और १३२ स्नायु रोगियों में से कोई भी काम नहीं कर पाता था और उन्हें अमाध्य रोगी ममझा जाता था । विजनी, मनोविज्ञान या श्रोपत्रि की चिकित्सा-पद्धतियों में उन्हें लाभ नहीं हुआ था । किन्तु ग्रतिस्वन चिकित्सा से ३१ विक्षिप्त और १०६ स्नायु रोगियों की स्थिति में इनना सुधार हुआ कि वे फिर रोजगार करने लायक हो गये ।

न्यूयार्क में येशीवा विश्वविद्यालय में 'ग्रल्वट आइम्टाइन क्लेज आफ मेडीमन' में अभी हाल में ध्वनि तरंगों का उपयोग लम्बाई-चौडाई और मोटाई बाने फोटो तैयार करने की अनूठी विविधि में किया गया था । डमके द्वारा डाक्टर आईच की रमोली का पता लगाने में मफल हो गये, जबकि सामान्य उपायों में ऐसा नहीं हो सकना था । अमेरिका के डॉ हर्चिमन ने विभिन्न प्रकार की मीन ध्वनियों की महायता में अनेकों अमाध्य रोगों की मफल चिकित्सा' की है ।

प० दीनानाथ शर्मा शास्त्री ने लिखा है—‘अभी वैज्ञानिकों ने परीक्षणों द्वारा मिथ्कि किया है कि तीव्र स्वरों के भौंपू जिनकी फ्रीक्वेंसी तीन हजार से लेकर चौंतीम हजार माइक्रो प्रति सेकंड हो, तो उमके द्वारा उत्पादित तरंगों के बीच काफी की एक बड़ी केतली रखने से वह काफी उबल जानी है प्रीर यदि उनकी गति और बढ़ा दी जाय तो छोटे मिथ्के हवा में तैराये जा सकते हैं ।’

स्वर-लहरों को अद्भुत प्रक्रिया—

इङ्ग्लैण्ड में 'स्टोन हेवन' नाम का एक स्थान है, जहाँ के पत्थर एक-दूसरे के साथ इस तरह से मिले हुए हैं कि उनके पास मध्यम स्वर की ध्वनि में उनमें कम्पन उत्पन्न हो जाते हैं । यदि ध्वनि तरंगों लगातार बजती रहे, तो उनके गिरने की भी सम्भावना रहती है । इसलिए उनके निकट स गीत व गाने का निषेध है ।

किया है। उसने श्रीकार के उच्चारण से निकलने वाली धर्मि तरणों से उत्पन्न शक्ति का वरणन करते हुए लिखा कि यदि 'ठँ' का उच्चारण विधिपूर्वक किया जाय तो उसमें एक दीपार फट सकतो है।

'वायम फिगज' पुस्तक की लेखिका मिम वट्स ह्यूज ने शब्द-विज्ञान के चमत्कार क्रियात्मक रूप से लन्दन के नार्ड लिटन शल्प मदन में दिखाये थे। वह अपने बनाये मगीत यन्त्र 'इडोफोन' को विनिपूर्वक बजाती थी, जिससे अनेकों प्रकार के इप बन जाते थे। एक बार उसने 'डेजी' नामक सुन्दर पुष्प की आकृति बनाई और उसकी व्याख्या भी की कि स गीत यन्त्र को किस विधि से बजाने से ऐसा हुआ। इसके बाद उसने 'पैनसी' नामक पूल, अनेकों समुद्रों जीव, वृक्ष पत्थरों आदि की आकृतियाँ बनाई। इससे यह परिणाम निकला कि धर्मियों से विविध आकृतियाँ बनती हैं। यह शब्दों के सूक्ष्म कम्पनों का ही परिणाम है।

फास की एक महिला वैज्ञानिक ने शब्द-विज्ञान पर पीछण किए थे। उसने सिद्ध किया था कि शब्द के साथ मन और हृदय वा सम्बन्ध रहता है। मैडम 'फिनलार्ग' ने अपने लिए एक बीणा स्वयं तैयार की और नीचे की ओर तारों के साथ एक चाक का दुर्घट बांध दिया। चाक को एक बोर्ड पर लगा दिया गया। बीणा को बजाने से चाक हिलने लगा और बोर्ड पर कुछ अस्पष्ट रेखायें खिच गईं। उसने अनुभव किया कि जिस तरह का गाना गाया जाना है और साज बजाया जाता है, उसी तरह की आकृतियाँ बोर्ड पर बन जाती हैं। एक बार उसने रोमन कैथोलिक मत के श्रनुयायी को अपना कई धार्मिक गीत गाने का निमन्त्रण दिया। उसके गाने से बोर्ड पर एक लोकों की गोद में बालक का चित्र खिच गया। छोटी मरियम और बालक ईसा था। गीत में प्रभु ईसा की स्तुति की गई थी। उसे हम पर भी सन्तोष न हुआ। उसने वहाँ पढ़ रहे एक भारतीय विद्यार्थी को बुलाया और स्कूल-मन्त्रों के उच्चारण की प्रायत्ना की। विद्यार्थी ने 'काल भैरवाण्टक' के स्तोत्र का गान किया। इससे एक भयहङ्कर मूर्ति और कुते भी रेखायें अद्वित हो-

गई । मतोंश में व्यक्त भावना के अनुन्तप ही आँखें बन गईं । इसने वह हम निर्गुण पर पढ़ने की शब्दों का भावों में गहन सम्बन्ध लोना और उन पर शब्दों का विशेष प्रभाव पड़ना है । यही कारण है कि मात्रों द्वारा हृदय और मणितर्क विशेष स्पष्ट में प्रभावित होने हैं और उनके जप और पाठ में मानसिक और ध्रातिमिक शक्तियों का उद्भव होता है ।

यौगिक ग्रन्थियों का जागररण —

मन्त्रों के निर्माण का भी एक स्वतंत्र विज्ञान है । मन्त्र अर्थपूर्ण तो होते ही हैं और वह न्तम शिक्षा और साध ही वह मानवोपयोगी मिद्दान्तों में ओन-प्रोत भी रहते हैं, परन्तु उनमें मी महन्तपूर्ण उनमें भरी अन्तियाँ हैं, वयोऽक्षि वेदों के प्रत्येक मन्त्र का गठन कुछ ऐसे चमत्कारी ढंग में किया गया है कि उनका मीग प्रभाव हमारी मृद्दम ग्रथियों पट्चकों और शक्ति केन्द्रों पर पड़ता है जिसमें मृद्दम जगत् के शक्ति केन्द्र जाग्रत होते हैं । मन्त्रों के विशिष्टपूर्वक गठन में वह शब्द उनमें सम्बन्धित यौगिक ग्रथियों को गुद्धगुद्धाते हैं उनकी मोड़ हृद शक्तियों को जगाते हैं । उन ग्रथियों में स्फूर्ति शर्णाने में वह क्रियाशील हो जाती है । जिस प्रयोजन के लिए जो मन्त्र होते हैं, वह उभी प्रकार की ग्रथियों को जगाते हैं, उन्हीं पर वह शब्द आचात करते हैं । इन ग्रथियों की क्रियाशीलता में ही सावक को विभिन्न प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, जो दूसरों को चमत्कार दिखाई देती हैं । परन्तु वाम्त्रव में वह शब्दों की वैज्ञानिक प्रक्रिया का परिणाम है । विदेशी विचारक 'आर्टी मे लैकवर्न' ने इस तथ्य की पुष्टि करते हुए लिखा है कि 'सर्कून भाषा के अक्षरों में भाव और अर्थ दोनों होते हैं । इन अक्षरों के युक्ति-पूर्ण गठन से अनेक बार जादू का-सा प्रभाव हप्टिगोचर होता है ।'

मन्त्र की सफलता उसके शुद्ध उच्चारण में है तभी उनमें गुणे शब्दों का प्रभाव विभिन्न शक्ति केन्द्रों पर पहना सम्भव होता है ।

मन्त्र की सफलता में भावना का भी महत्वपूर्ण स्थान है। श्रद्धा और विश्वास इसके मेरुदण्ड हैं।

विज्ञान के इन युग में शब्द-विज्ञान पर अनेकों वैज्ञानिकों के सफल परीक्षणों के बाद भी यदि हम शब्द-विज्ञान पर आधारित मन्त्र-गठन की वैज्ञानिक प्रक्रियाओं पर अविश्वास करें, तो हमें वैज्ञानिक तथ्यों ने अनभिज्ञ ही समझा जायगा। सूक्ष्म जगत् की सोई हुई सूक्ष्म शक्तियों को जगाकर भौतिक और आध्यात्मिक लाभ उठाने की विधियाँ को खोज निकालने का ऐय हमारे त्रिकालदर्शी त्रृष्णियों को ही है। इन विभिन्न प्रकार की विधियों में मन्त्र भी एक है जिससे अपने शक्तिकोषों को विकसित करके अणुसे महान् बना जा सकता है और मानव-जीवनकी सभी उलझी गुरुत्थयों को सुलझाकर पृथ्वी पर ही अपना स्वग बनाने की क्षमता प्राप्त की जा सकती है।

मन्त्र-सिद्धि घे सफलता के साधन—

मन्त्र-जप की अपार महिमा शास्त्रों में वर्णित है, परन्तु हर साधक को मिद्दि नहीं प्राप्त होती। अन वह मन्त्र के प्रभाव को ही प्राप्तीचना करने लगता है। मन्त्रसिद्धि के उपायों और असफलता के कारणों पर विचार करना आवश्यक है।

तन्त्र का विज्ञान है कि मन्त्रदाता गुरु को मन्त्र का चुनाव करते समय यह देख लेना चाहिए कि देवना और साधक में अनुकूलता और मैत्रीभाव है या नहीं ? यदि दोनों में शत्रुता है, तो सफलता असंभिध रहेगी। मदगुरु का कर्तव्य यह देखना है कि कौन देवता मन्त्र-दीक्षा चाहने वाले के कुल का है, कौन उसकी राशि में पड़ता है, कौन उसके गण का है, नक्षत्र का है, शत्रुभाव का है या मित्र भाव का, और ही है या घनी। इन तथ्यों पर दिचार क्षिये विना यदि मन्त्र-साधना की जाती है, तो लाभ के बजाए हानि की भी सम्भावना हो सकती है। तन्त्र-किञ्चन के सचार्यों का मत है कि भूतों में भी शत्रु मित्र भाव होते हैं।

उसी तरह मन्त्र, वर्णों और उपाधक के नामगत वर्णों में भी अनुकूनता और प्रतिकूलता होती है। अन दीक्षा के पूर्व इसका निर्णय कर लेना आवश्यक होता है। शारदा निनक (द्वितीय पटन) में इस विषय का विवेचन करने हुए कहा गया है—

मन्त्रमाधकयोराद्यो वर्णं स्यात् पार्थिवो यदि ।
तत्कुलं तस्य तत्प्रोक्तमेव मन्त्रेषु लक्षयेत् ॥
पार्थिवे वारुणो मन्त्रमाग्नेये मारुतं तथा ।
एन्द्र वारुणयो शत्रुमारुतं परिकीर्तित ॥
आग्नेये वारुणे शत्रु वर्णिणो तैजसं तथा ।
सर्वेषामेव तत्वानां सामान्यं व्योमसम्भवम् ॥
परस्परं विरुद्धानां वर्णना यत्र सङ्गतिः ।
स मन्त्रं साधकं कि वा नास्य प्रसीदति ॥

अर्थात् “मन्त्र और साधक दानों का आद्य वर्ण यदि पार्थिव हो, उपका वह कुल कहा गया है। इसी मान्त्रि अन्यों में भी देख लेना चाहिए। पार्थिव में वारुण मित्र है। आग्नेय में मारुत है। ऐन्द्र और वारुण दोनों का मारुत शत्रु है। आग्नेय में वारुण शत्रु है और वारुण तैजस है। मभी तत्त्व व्योमसम्भव सामान्य है। परस्पर में विरुद्ध वर्णों की जहाँ पर स गति है, वह मन्त्र-माधक का हनन करता है अथवा इस पर प्रमन्त्र नहीं होता है।”

मन्त्र का देवता से घनिष्ठ मम्बन्ध होता है। शास्त्र इसका अनु-मोदन करते हैं—

देवस्य मन्त्रं स्तपस्य मन्त्रं व्याप्तिम् जानताम् ।
कृताच्चनादिकं सर्वं व्यर्थं भवति शाम्भविः ॥

“हे शाम्भवि ! देव मन्त्र-स्वरूप वाला ही होता है, अर्थात् मन्त्र ही देवता का सच्चा स्वरूप है। मन्त्र की व्याप्ति का ज्ञान न रखने वाले मनुष्यों के द्वारा की हुई अर्चना आदि मभी निष्कर्त्ता होती है।”

दैवाधीन जगत्सर्व मन्त्राधीनाश्च देवता ।
ते मन्त्रा न्राह्मणाधीनास्तत्स्याद् विप्रोहि देवता ॥

—मत्स्यपुराण

“देवताओं के आधीन सब ससार है । वे देवता मन्त्रों के आधीन हैं । वे मन्त्र न्राह्मण द्वारा प्रयुक्त होते हैं, इसलिए न्राह्मण भी देवता है ।”

यथा घटश्च कलश कुम्भश्चैकार्थं वाचका ।
तथा मन्त्रो देवता च गुरुश्चैकारथं वाचका ॥

—सुन्दरी तापिनी

“जिस प्रकार घट, कलश, कुम्भ तीनों शब्द एक ही अर्थ को प्रकट करते हैं, उभी प्रकार मन्त्र, देवता और गुरु एक ही अर्थ के वाचक हैं ।”

तन्त्र का मन है कि हमारी कुएँडलिनी शक्ति सुपावस्था में रहती है । जब उनको जाग्रत्त न कर लिया जाय, तब तक मन्त्रसिद्धि प्राप्त करना असम्भव है । पहले कुएँडलिनी जागरण कर लेना आवश्यक है । कुएँडलिनी जागरण के अनेकों विधान तन्त्रों में लिखे हैं । गुरु द्वारा ही इमर्फी साधना करनी चाहिए ।

मन्त्रसिद्धि के लिए मन्त्र की शुद्धि और मन्त्र संस्कार का विधान भी आवश्यक माना गया है । इसके बिना भी सफलना अशक्य मानी जाती है । गौतमीय तन्त्र १५।७४-७५ का विचार है कि मन्त्र तभी सिद्ध होते हैं, जब उनका मानसिक जप दिव्यभाव के साथ सुषुम्णा के मार्ग में किया जाता है । इसके विपरीत यदि उपासक का मन पशु-भाव में भटकता रहकर, बिना एकाग्रता ही बाह्य जप किया जाता है, तो इस स्थिति में जप का विचार-शृङ्खला के माथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता । परिणामस्वरूप अमीष सिद्धि नहीं होती और साधना व्यर्थ ही जाती है ।

तप ही सिद्धि का द्वार खोलता है । अनवरत परिश्रम ही हर

क्षेत्र में सफलता की कुञ्जी है। मन्त्रसिद्धि में तो तप एक विशिष्ट सूत्र है। इसी माध्यम से वह मफन होना है। परन्तु कुछ लोग न त्र को जादू का खेन समझते हैं। वह जादूगर की तरह हथेला पर सरसो जमाना चाहते हैं। मन्त्रसिद्धि के लिए ममय, तप, एकाग्रता और सारे विधि-विधान के पालन की अपेक्षा है। इसके साथ साथ गुरु-कृपा और मन्त्र पर शटूट श्रद्धा-विश्वास का होना भी एक आवश्यक उपाय है। इसके बिना साधना लूली-लैंगड़ी मानी जाएगी। मन्त्र-साधना में गुरु का व्यक्तित्व विशेष महत्व का है, क्योंकि वे ही मन्त्र को पुनर्जीवित और जागरित करते हैं, जिसपे साधना संल हो जाती है।

शास्त्रकार मन्त्र के अर्थ, चिन्तन और विधि-विधान की पूरी जानकारी रखने पर बल देते हैं। यथा—

एक शब्द सम्यग्ज्ञात् सुष्टु प्रयुक्त स्वर्गे लोके च काम धुग भवति । —श्रुति

“शब्द के अर्थ का सम्यक् ज्ञान होने और उसका उचित रीति से प्रयोग करने से स्वगलोक और समस्त मनोरथो की पूर्ति होती है।”

अर्थं ज्ञान विना कर्म न श्रेय साधन यत् ।

अर्थं ज्ञान साधनीय द्विजै श्रेयोर्थिभिस्तत् ॥

मन्त्रार्थं सो जपन् द्रयन् स्तथैवाद्यापयन् द्विज ।

अधीत्य यत्क्चिदपि मन्त्रार्थाधिगयेरत् ।

ब्रह्मलोक मयाज्ञोप्ति घर्मानुष्ठान्ता द्विज ।

ज्ञात्वा ज्ञात्वा च कर्माणि जनो यो यो नुतिष्ठति ।

विदुष कर्म सिद्धि स्यात्रपाना विदुषी भवेत् ।

ज्ञान कर्म च सयुक्त भूत्यर्थं कथित यथा ।

अवीत श्रुत सयुक्त तत्र श्रेष्ठ न केवलम् ।

“मन्त्र का अर्थ और विधान जानकर ही उपासना करने से

अभीष्ट कर की प्राप्ति होती है। मन्त्र के अर्थ का अध्ययन भी करना चाहिए, और उसके रहस्य को भी समझना चाहिए तभी पूर्ण मन्त्र होता है। जो कर्म करता है, उसे अधिकाविक जानना चाहिए। पूरी जानकारी पर आधारित कर्म में ही सफलता मिलती है। ज्ञान और कर्म को मिला कर अध्ययन और श्रवण के आचार पर जो कर्म किया जाना है, वही श्रेष्ठ है। केवल किया मात्र करते रहना निरर्थक है।"

मन्त्र साधना में योगाभ्यास आवश्यक भज्ज माना गया है। यम, तियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहा-, व्यान, धारणा और समाधि का प्रभ्यास मन्त्रमिद्धि के लिए आवश्यक माना गया है, क्योंकि यह दोनों साधनाएँ एक दूसरे की सहायक हैं—

मन्त्राभ्यासेन योगेन ज्ञानं ज्ञानाय कल्पते ।

न योगेन बिना मन्त्रो न मन्त्रेण बिना ही स ॥

द्वयोरभ्यास सयोगो ब्रह्म ससिद्धि कारणम् ।

"मन्त्राभ्यास और योग से ज्ञान द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है। न तो योग के बिना मन्त्र सफल हो सकता है और न मन्त्र के बिना योग का उपयोग माना जा सकता है। इन दोनों के एक साथ प्रभ्यास से ही ब्रह्म-प्राप्ति होती है।"

सफलता का एक शावश्यक साधन है—मन्त्र के प्रति पूर्ण श्रद्धा, विश्वास और आस्था। अद्वै श्रद्धा का लाभ भी उसी अनुपात से होता है। पूरा मिद्धि के लिए तो मन्त्र के प्रति अपने को समर्पित कर देना चाहिए, उसे अपना सबस्व समझना चाहिए और शरणागत होकर निरन्तर साधना में लीन रहना चाहिए। शास्त्र का भी सकेत है—

श्रद्धुचिर्वा शुचिर्वापि गच्छास्ति स्वपन्नपि ।

मन्त्रैकशरणो विद्वान् मतसेव मदाभ्यसेत् ॥

नदोपो मानसे जाप्ये सर्वदेशेऽपि सर्वदा ।

“मन्त्र के रहस्य को ज्ञानन व वा जो पाठ-परिचय पर को ही अ-ग हो गया है, वह नाहं पवित्र हो गा अपवित्र गर ममय चन्ते-फिरत, उठने-वैठने, मोते-जागने मन्त्र का अभ्यास रर मरता है। मानम जप मे किमी भी ममय और अपान जो चौपुरुष रथी ममक जाना चाहिए ।”

मावना मे जब तक मन उद्दिष्ट नहीं हना है, वह वह मरनता मिलनी अशक्य है। उसक अन्मुखी होने पर ही शक्तियो वा प्रिया होने लाना है—

वहिर्मुखस्य मत्रस्य दृत्यो या प्रकीर्तिना ।
ता एदान्तमुखस्यास्य वक्तिय परिकीर्तिना ।

‘मन्त्र अर्धान् विचार के वहिर्मुख हीन पर जो वृत्तियाँ नहीं जाती है, वे ही उसके अन्मुख होने पर शक्तियाँ कहलानी हैं ।’

मन्त्र-माधक को मावना मे सफना प्राप्त हो रही है नहीं, इसका निर्णय करते हैं निए कुन्ड लकण ऋषियो न बनाये हैं यदि वह माधक परिलक्षित होने लगे तो समझना चाहिए कि मावना सफल हो रही है। ‘मन्त्र महादग्धि मे कर है—

गीतस्य ताल शब्दस्य गन्धवर्गिण। समीक्षगाम् ।
स्वतेजस सूर्य माम्येक्षण निद्रा क्षुधा जप ॥
रम्यतारोग गाभीर्यमुभाव क्रोधलोभयो ।
एवमादीनि चिह्नानियदापश्यति मन्त्रवित् ॥

“गीत तथा ताल के शब्दों का कानो मे आना गन्धवर्गों का खना, अपना तेज सूर्य के तेज के समान भान होना, निद्रा, क्षुधा और जप, रम्यता, आरोग्य, गाभीर्य का होना, क्रोध तथा लोभ का अभाव होना—ये सब लकण हैं, जिनको मन्त्रोपासक देखता है ।”

कुछ त त्रीकृत मन्त्र नीचे दिए जाते हैं जिनकी सावना से विभिन्न

प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, परन्तु उसके पूरे विधि-विधान का पालन करना आवश्यक है—

१ ३०—इसे ऋग्विद्या, तारा मन्त्र, तारा, तारिणी कहा जाता है। सासारिक वन्धनों को काटने और ईश्वर-प्राप्ति के लिए इसकी साधना की जाती है। इसका अनुष्ठान ३ लाख जप है।

—तन्त्र तत्त्व प्रकाश

२ ३० उम्बक मजामहे सुगर्भि पुष्टि वर्धनम्। उर्वाहकमिव वन्धनान्मृत्योमुक्षीय मामृतात्। —इसे रुद्र मन्त्र कहते हैं। मृत्यु के पाश पाश से बचने के लिए इसका जप किया जाता है।

—उड्डीश तन्त्र १४)

३ ३० शान्ते प्रशान्ते सर्वक्रोधोपशमनि स्वाहा। —इसका नाम क्रोध शाति है। २१ बार मन्त्र का उच्चारण करके जल को अभि मन्त्रित करना चाहिए। फिर इच्छित व्यक्ति इससे मुख धो ले।

४ श्राद्यायै विद्धहे परमेश्वर्यै धीमहि तत्त्व काली प्रचोदयात्।
—यह गायत्री मन्त्र है। इससे महापातकों का निवारण होता है।

—महानिर्वाण तन्त्र ५।६३

५ पशुपाशाय विद्धहे विश्व वर्मणे धीमहि। तत्त्वो जीव प्रचो-
दयात्। इससे यह पशुपाश विमोचिनी गायत्री है। ६ से ८ वन्धनों का क्षय होता है।

—महानिर्वाण तन्त्र ६।११०

६ ३० परमेश्वराय विद्धहे परतत्वाय धीमहि। तत्त्वो ऋग्व
पुचोइयात्। —यह गायत्री मन्त्र है। अन्त करण की पवित्रता के लिए इसकी साधना की जाती है।

—महानिर्वाण तन्त्र ३।१०७

७ ३० स सा सि सी सु सू सें सैं सो सौं सें स व वा वि वी
बु बू वै वै बो बों व व ह स अमृतवर्चसे स्वाहा। यह रोगहर मन्त्र है। शारीरिक रोगों को दूर करने और दुष्कर्मों के परिणामों से बचने के लिए यह प्रयोग में आता है। जल को १०८ बार मत्रोच्चारण से अभिमन्त्रित करके प्रात काल पीना च हिए।

—उड्डीश तन्त्र १६५

८ क्रो क्रो क्रो, हूँ हूँ, ही ही, दक्षिणे क लिके, ॐ क्री की क्री हूँ हूँ त्री ही स्वाहा । यह ममी सरस्वती मन्त्र है और वारी की मिद्दि के लिए प्रयुक्त होते हैं ।

—कपूर सतव

९ ८० सच्चिदेक ब्रह्म । यह ब्रह्म मन्त्र है और धम, अर्थ, काम व मोक्ष चारो पुरुषार्थों की उपलब्धि में महायज्ञ दिन्द्र होना है ।

—महानिर्वाण तन्त्र ३।१२ १४

१० ॐ ह हा नि ही ह हूँ है है हो हौ ह ह ह श क्षा क्षि क्षि क्षु क्षु श्वे श्वे क्षो क्षो क्ष क्ष ह स त्वम् । यह आपचत्वन्ति मन्त्र है । त्रिप निवारण के लिए भूत प्रेत और पिशाच के प्रभाव को दूर करने के लिए इसकी साधना की जाती है । —उड्डीश तत्र १६६-१६८

११ श्री ही क्री कृष्णाय नम स्वाहा । यह मन्त्र राज है और मोक्ष प्रदाता है ।

—गौतमीय तन्त्र २५।२

१२ ऐ सच्चिदेक ब्रह्म ही मच्चिदेक श्री मच्चिदक ब्रह्म । धन, लक्ष्मी, विद्या और ज्ञान भी इससे प्राप्ति होती है ।

—महानिर्वाण तन्त्र ३।३७

१३ ८० नम मर्वलीकवशद्वृग्य कुरु कुरु स्वाहा । यह लोक-वशीकरण मन्त्र है । उड्डीश तत्र १७४ के अनुमार पृथ्य नक्षात्र में पुनर्नवा की जड़ को उवाडना चाहिए और उ वार इस मन्त्र से अभिमत्रित करके भुजा में बांध लेने से अभीष्ट मिद्दि होती है ।

१४ तद्विष्णो पूर्म पद मदा पश्यन्ति मूर्य । द्विवीब चक्षुगत-तम् । ८० तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवाम समिन्धते विष्णोयत् परम पदम् । यह मुद्राशोधन मन्त्र है । महानिर्वाण तत्र ५।२११ के अनुसार इससे आनन्द की प्राप्ति होती है ।

१५ इत पूर्वे प्राणवुद्धिदेहवर्माधिकार्तो जाग्रत्स्वर्ज्जन सुपुर्त्य-वस्थामु मनसा वाचा कमणा हस्ताम्या पदमभ्या मुदरेण शिश्ना यत्

कृत यत् स्मृत यदुमत तत्सव व्रह्मार्पण भवतु, मा मदीय सकलमाद्या
काली पदाभ्योजेऽपर्याप्ति श्रो तत्सत् ।

यह आत्म सम्पर्ण मन्त्र है । इसमें उपासक अपनी आत्मा को
प्राक्षिपित के सम्पर्ण करता है ।

--महानिर्वाण तत्र

• • •

बीजाक्षरों की महान् शक्तियाँ

जिम तरह बीज मे वृक्ष, फल, फूल आदि मूळम् रूप मे विद्यमान रहत हैं और समय पाकर वह व्यक्त रूप मे दृष्टिगाचर होने लगते हैं, उसी तरह बीजाक्षर म भी सूक्ष्म रूप मे शक्ति रहती है। उस शक्ति के विस्फोट अथवा विकास के लिए साधना रुग्मी जल और खाद की आवश्यकता रहती है। मन्त्रभिन्नि के मूल मे बीज मन्त्र का विस्फोट ही विशेष महत्व का है। जब मन्त्रों को शक्ति का बहुगुणा करना होता है या शीघ्र सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा हो, तो बीज-मन्त्रों का सहयोग अपेक्षित रहता है। विशिष्ट साचनामों मे यह विशेषकर लाभदायक रहता है।

वाचा मोतीनाल के अनुमार “जिम शाश्रय से व्यक्ति मे ऊर्ध्वगामिनी उन्नति-गति उत्पन्न हानी है, इमका कारण भवश्च कोई ‘शक्ति’ होगी। उम शक्ति का कोई व्यक्त रूप अवश्य होगा, यद्दी बीज है।”

मालिनी विजयोत्तर त श (तृतीय अधिः) मे बीज को परिभाषा इम प्रकार की गई है—

बीजयोन्यात्मकाद् भेदात् द्विधा बीज स्वरा मता, ॥

कादिभिश्च स्मृता योनिर्नवधावर्ग-भेदत, ॥

बोजमत्र शिव शक्तिर्योनिरित्यभिवीयते ॥

अर्थात् “दीजों की योनि का स्वरूप होने मे दो प्रकार के बीज होने हैं, जो कि घ्वर माने गये हैं। क वर्ण आदि जो हैं, उसे योनि कहा

गया है। ये वग भेद से तो प्रकार प्रकार के होते हैं। यहाँ पर शिववीज है तथा शक्ति योनि है, ऐसा कहा जाना है।”

नित्य-तत्र में कहा है—

वणत्रय समारभ्य नववणार्चिधि वीजका ॥

“तीन वर्णों से लेकर तो वर्णों तक वीजमन्त्र कहलाता है।”

एक अधिकारी तात्रिक विद्वान् ने वीजमन्त्र के विज्ञान पर प्रकाश डालते हुए सशक्त शब्दों में कहा है—

“तन्त्रो ने नाही-सम्मान के कन्द्रो या क्षेयों में विशेष उद्देश्य के लिए चुने हुए वीजाक्षरों की स्थापना करके और उनके अविराम प्रवाह की धाराओं को वहाँ वेदिन करके उन्द्रों के उपयोग को ढूँढ़ निकाला है। वीजाक्षर या उसके समान स्पन्दन सच्चे अथ का उनकी कारणा-वस्था में साक्षात्कार करते हैं, साथ ही विश्व-विधान की योजना में भी उसका साक्षात्कार करते हैं या, जब इस पद्धति में कृच्छ्र योगिक प्रयत्न की आवश्यकता पड़ती है, जो कि गुह्यज्ञान के साधारण साधक की पहुँच के बाहर होता है तब साधारणतया उसे अपेक्षाकृत सरल और समान रूप से प्रभावशाली विधि को अपनाने की सलाह दी जाती है। यह पद्धति है इच्छिपूर्वक अनेक वर्णों का जप। वर्ण या अक्षरों का यह जप चेतना के स्तर पर सूक्ष्म स्पन्दन पैदा करने के लिए है और इसे मन से परे स्थित सत्यों-के-सत्य को पाने के हेतु प्रस्तुत होने के लिए किया जाना है। जप के द्वारा मन में धारण किए हुए वर्ण धरनि की छन्दपूर्ण लयों से जाग्रत होते हैं, जो कि उन सत्यों के स्वाभाविक छन्दों के सबसे निकट पहुँचता है।”

विभिन्न देवी-देवताओं के वीजाक्षर अलग अलग होते हैं। जैसे ऐ सरस्वती का वीजाक्षर है, की काली का और ही माया वीज रह लाता है। इसे तात्रिक प्रणव भी कहते हैं। जिस तरह अं वेदान्तियों के लिए है, तात्रिक ही को वही स्थान देते हैं।

तत्त्ववीज इस प्रकार हैं ह—आकाश वीज, थ—वायु वीज, र—अग्नि वीज, व—वरण वीज, ल—भूवीज, प—मनो वीज, प—वृद्धि वीज, म—शक्तिवीज, ग—श्रद्धाश्च-जीव वीजादि ।

मध्ये अद्यार मन्त्रस्थप हैं । इनमें महान् शक्तियाँ छिपी रहता हैं । केवल इनके ठोक प्रयोग की विविध जातियाँ आवश्यकता रहती हैं ।

याग दयन में महर्षि पन्चजलि न आदेश दिया कि मन्त्र-जप, अथ-चित्तन महित होना चाहिए । अत कुछ वीज मन्त्रों का अथ यहाँ दिया जा रहा है—

१ ऐ—ऐ—मरम्बती और विन्दु—दुख-नश । भगवती मरम्बनी मेर दुखों को दूर कर । यहाँ मरम्बनी वीज है ।

२ ओ—ग—महालक्ष्मी, र—घन, ई—पुष्टि, नाद—विश्वमाता, विन्दु—दुख-नाश । घन और तुण्डित गुणित वीज शक्तिशाली देवी लक्ष्मी मेर दुखों को दूर कर, यही लक्ष्मी अथवा श्रीवीज है ।

३ ह्री—ह—शिव, र—प्रकृति, ई—महामाया, नाद—विश्वमाता, विन्दु—दुख-नश । इमका अथ है—शिव महित विश्वमाता महामाया शक्ति मेरे दुखों का दूर कर । यह शक्ति अथवा मायार्द्वंज कहलाता है ।

४ ह—यह दुर्गा वीज है । द—दुर्गा, अ—रक्षा, विन्दु—करो । अर्थ है—दुर्गा मेरी रक्षा करे ।

५ की—क—काली, न—व्रह्म, ई—महामाया, नाद—विश्वमाता, विन्दु दुखनाश शक्ति रूपणी महामाया काली मेरे दुखों का दूर करे । यह काली वीज है ।

६ स्त्री—म—दुर्गोत्तारण । न—नारक मुक्ति ई—महामाया नाद—विश्वमाता विन्दु—दुखनाश । मुक्तिस्था, विश्वमाता, तारिणी, दुर्गोत्तारणी महामाया दुखों से मेरी रक्षा करे ।

७ ग—यह गणेश वीज है । ग—गणेश, विन्दु—दुखनाश । गणेश मेरे दुखों को नष्ट करे ।

जप-विज्ञान

महत्व—

सभी धर्मों और सम्प्रदायों की आध्यात्मिक साधनाओं में अपने-अपने हृष्टदेव के मन्त्र-साधना को एक आवश्यक अङ्ग माना जाता है। हिन्दू धर्म के वैदिक, पौराणिक, स्मृति और तात्त्विक मतावलम्बियों में नो यह साधना प्रचलित है ही, बीद्र और जैन मत वालों ने भी इसे अपनाया है। उनके विविध विधान में भी जप पर बहु दिया गया है। यहीं नहीं, सूफी मत और ईसाई कैथोलिक मत वाले भी इसे प्राचीन काल से अपनाए हुए हैं। योगी लोग क्रिया-योग से स्वाध्याय का इसे एक अङ्ग मानते हैं। तपयोग, मन्त्रयोग राजयोग और हठयोग में नादानुसधान का वर्णन आता है, वह वास्तव में जप की एक विशेष अवस्था है।

जप-साधना हिन्दू धर्म के आध्यात्मिक कर्मकाढ का मेरुदण्ड है। इससे सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसलिए भगवान् कृष्ण ने हसे सब यज्ञों से श्रेष्ठ कहा है और अपनी विभूति माना है। “यज्ञाना जप यज्ञोऽस्मि” यज्ञों में जप-यज्ञ मैं हूँ। भगवान् मनु (२।८७) ने अपने अनुभव से कहा है—“और कुछ करें या न करें, केवल जप से ही ब्राह्मण सिद्धि पाता है।” महाभारत (प्रश्न० ४४।८) में कहा है “यज्ञो मे आहृति देकर सिद्धि प्राप्त करने वाला यज्ञ उत्तम है और यही वैदिक कर्मकाढ वालों का मत है। परंतु भवित्वमार्ग में हृविर्यज की अपेक्षा नामयज्ञ का विशेष महत्व है।”

इसलिए शास्त्रकारों द्वारा यह धोरण अर्थात् पही कि दर्श-

८ हूँ—यह वय अथवा कूर्चबीज है। ह—शिव, श—भैरव, नाद—सर्वोक्तृष्ट, बिन्दु—दुखनाश। सर्वोत्कृष्ट श्रसुर भयच्छर शङ्कर दुखों को दूर करें।

९ हैं—ह—शिव, श्री—सदाशिव, बिन्दु—दुखनाश। अर्थ है—शिव और सदाशिव की कृग से मेरे दुख दूर हो, यह प्रसाद बीज है।

१०. वजी—यह कृष्ण बीज व काम बीज है। क—कृष्ण अथवा काम, ल—इन्द्र, ई—तुष्टि, बिन्दु—सुख शाति प्रदान करने वाला। भगवान् कृष्ण मुझे सुख शाति प्रदान करे।

क्षौ—यह नृसिंह बीज है। क्ष—नृसिंह, र—व्रह्म, श्री—ऊर्ध्वदन्त, बिन्दु—दुखनाश। अर्थ है—व्रह्म रूपी ऊर्ध्वदन्त भगवान् नृसिंह मेरे दुखों को दूर करें।

बीज मन्त्रों के अथ न हो, या प्रतीत न हो, तो भी उनमें विशेषता इवनि अथवा शक्ति को ही होनी है। वह शक्तिरूपा होते हैं और साधक को शक्ति का हो प्रसाद देते हैं।

जप-विज्ञान

महत्व—

सभी धर्मों और सम्प्रदायों की आध्यात्मिक माध्यनामों में अपने-अपने इष्टदेव के मन्त्र-साधना को एक आवश्यक अङ्ग माना जाता है। हिन्दू धर्म के वैदिक, पौराणिक, स्मृति और तात्रिक मतावलम्बियों में तो यह साधना प्रचलित है ही, बीद्र और जैन मत वालों ने भी इसे अपनाया है। उनके विविध विधान में भी जप पर बल दिया गया है। यहीं नहीं, सूफी मत और ईसाई कँथोलिक मत वाले भी इसे प्राचीन काल से अपनाया हुए हैं। योगी लोग क्रिया-योग में स्वाध्याय का इसे एक अङ्ग मानते हैं। तपयोग, मन्त्रयोग राजयोग और हठयोग में नादानुसन्धान का वर्णन आता है, वह वास्तव में जप की एक विशेष अवस्था है।

जप-साधना हिन्दू धर्म के आध्यात्मिक कर्मकाड़ का मेरुदण्ड है। इसमें सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसलिए भगवान् कृष्ण ने इसे सब यज्ञों से श्रेष्ठ कहा है और अपनी विभूति माना है। “यज्ञाना जप यज्ञोऽस्मि” यज्ञों में जप-यज्ञ मैं हूँ। भगवान् मनु (२।८७) ने अपने अनुभव से कहा है—“और कुछ करें या न करें, केवल जप से ही ब्राह्मण सिद्धि पाता है।” महाभारत (अश्व० ४४।८) में कहा है “यज्ञो में आहृति देकर सिद्धि प्राप्त करने वाला यज्ञ उत्तम है और यहीं वैदिक कर्मकाड़ वालों का मत है। परंतु भक्तिमार्ग में हविर्यंज की अपेक्षा नामयज्ञ का विशेष महत्व है।”

इसोलिए शास्त्रकारों द्वारा यह घोषणा करनी पड़ी कि दर्श-

पोणमास, जयोतिष्ट्रोम, राजमूय आदि यज्ञ, वैश्वदेव, बौलकम, नित्य-
श्राद्ध, अतिथि-भोज आदि सत्कम भगवन्नाम के अथवा गायत्रीरूपी यज्ञ
के १६ वें भाग के भी तुल्य नहीं माने जाने ।

गोम्बासी श्रीतुलसीदाम ने भी जप की महिमा का गान
किया है—

नाम जपत मगल दिसि दस्तूँ,
जपहि नामु जन आरत भारो ।
मिटहिं कुसकट होहिं सुखारी ॥'

जप एक आध्यात्मिक व्यायाम है, एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसका हमारे मानसिक और बौद्धिक क्षेत्र पर सुनिश्चित प्रभाव पड़ता है । उसमें अनेक प्रकार की मिद्दियः प्राप्त होती हैं । साधक का मनोवृत्त दृढ़ होता जाता है, विचारों में विवेकशीलता प्राप्ति है, बुद्धि निमन व पवित्र बनती है, आत्मा ऐ प्रकाश प्राप्ता है । इसके अमिट प्रभाव को देखते हुए शास्त्रज्ञानी ने इसकी अपार महिमा का गान किया है। लिङ्ग पुराण ८ ५। १२४, १२५ में लिखा है “जप करने वाले का कभी अनिष्ट नहीं होता, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भीषण ग्रह उसके पास कभी फटक नहीं सकते । इससे जन्म-न्यातरो के पाप नष्ट हो जाते हैं, सुखो व सौभाग्यो की वृद्धि हो जाती है और मुक्ति की प्राप्ति होती है ।” गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा—“आयते महतो भयान्” जप, साधक का महान् भय से ब्राह्मण करता है ।” मनुस्मृति ४। १४६ में कहा है—“जप करने वालों का कभी पतन नहीं होता ।” भगवान् मनु ने एक और स्थान पर कहा है कि जर से अन्त करण पर-ब्रह्ममय हो जाता है ।

जप की महिमा बनने वाले कुछ प्रमाण नीचे दिये जाते हैं—

महर्षीणा भृगुरह गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञाना जपयज्ञोस्मि स्थावराणा हिमालय ॥

"मे महसियो मे भूग्र और वासियो मे शोकार, यज्ञो मे जपयज्ञ तथा स्वावरो मे दिमानय है ।"

ये पाक्यज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञ समन्वित
सर्वे त जप यज्ञम्य कला नाहृति पोडगामु ॥

— मनु० २-८६

"होम विकर्म, नित्यवाङ्म, अतिथि-भोजन आदि पाक यज्ञ और विधि-यज्ञ दर्शपीर्णमासादि ये समस्त मिलकर भी जपयज्ञ की सोलहवी कला के समान नहीं है ।"

समस्तसप्तनन्तुम्यो जपयज्ञ परं स्मृत ।
हिनान्ये प्रवन्नते नपयज्ञो न हिमया ॥
यावस्त कम यज्ञाऽच दानाति च नपामि च ।
ते मर्वे जप यज्ञश्च नाहृति पोडगीकला ।
जपने दैवता नित्य स्तूयमाना प्रसीदति ॥
प्रसन्ना विपुलान् भोगान् दधान्मुक्तिञ्च शाश्वतीम् ।
यक्ष राक्षस वैताल भूतप्रेतपिण्डाचक ।
जपाश्रयी द्विज दृष्टा, दूरते यास्ति भीतित ॥
तम्माज्जप मदा श्रेष्ठ सर्वमत्पूर्गायमाघनात ।
इत्येष स्वर्धा ज्ञात्वा विप्रो जपपरो भवेत ।

— भारद्वाज गायत्री व्यास्या

"समस्त यज्ञो मे जप धर्मिक श्रेष्ठ है । पन्थ यज्ञो में तो हिसा होती है, जपयज्ञ डिसा से नहीं होता है । जितने भी कर्म यज्ञ, दान तप हैं वे समस्त जपयज्ञ की सोलहवी कला के समान भी नहीं होते हैं । जप द्वारा स्तुति किये गये देवता प्रणन्न होकर बड़े-बड़े भोगों को तथा अक्षय शक्ति को प्रदान करते हैं । जप जप करने वाले द्विज को दूर मे देखते ही क्ष, राक्षस, वैताल, भूत, प्रेत, पिण्डाच आदि भय से भयभीत हो भाग जाते हैं । इस कारण समस्त पुण्य-साधनों मे

जप सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार जोनकर ब्राह्मण को सर्वथा जप परायण होना चाहिए।

मास शतत्रय विप्र स्वर्णिमानवाप्नुयात् ।

एव शतोत्तर जप्त्वा सहस्र सर्वमाप्नुयात् ॥

“इस प्रकार एक मास तक ३०० मन्त्र प्रतिदिन जप करने पर मब कार्यों में गिर्धि प्राप्त करता है। इसी प्रकार ग्यारह सौ निःय जपने से सब काय ही सम्पन्न हो जाते हैं।”

रुद्रा प्राणमपान च जपोन्मास शतत्रयम् ।

यदिच्छेनदिवाप्नोति सहस्रात्मरमाप्नुयात् ॥

“प्राण अपान वायु को रोककर एक मास तक प्रतिदिन एक महसु मन्त्र जपने से इच्छित वस्तु द्वी उपलब्धि होती है।”

एक पादो जपेदूर्ध्वं बाहूरुद्रानिल वश ।

मास शतमवाप्नोति यदिच्छेदिति कौशिक ॥

“श्राकाश की ओर भुजाये उठाये हुए एक पैर के ऊपर खड़ा होकर सौंस को यथाशक्ति अवरोध कर एक माप तक १०० मन्त्र प्रतिदिन जप करने से अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है।”

एव शतत्रय जप्त्वा सहस्र सर्वमाप्नुयात् ।

निमज्जग्राप्सु जपेन्मास शतमिष्टमवाप्नुयात् ॥

‘जल के भीतर डुबकी लगाकर एक मास तक ३०० मन्त्र प्रतिदिन जप करने से अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होती है।’

लाभ—

जप प्रारम्भ करते ही साधक के भ्रंत करणे में एक हलचल मचती है और उसकी विलक्षण शक्ति से श्रातरिक ऐत्र में अनेकों सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं। बुरे दिनार, भाव और श्वभाव घटने लगते हैं और सत्य, प्रेम, न्याय, क्षमा, ईमानदारी, मन्त्रोत्तमांति एवं विज्ञान उत्तम

सर्वम्, पेवा और उदारता जैसे सद्गुण बढ़ने लगते हैं। मन क्षेत्र प्रभावित होने में चिकित्सा, दूरदृष्टिता, तत्त्वज्ञान और ऋतमध्यभारा बुद्धि की प्राप्ति होती है, जिसमें दुखों का कटना और सुख शान्ति का प्राप्त होता अनिवार्य परिणाम है। जर में मनिननाथों का पर्दा हटकर सद्गुणों का विकास होता है और महानना के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। दुर्गुण और दोष कम होने लगते हैं और साधक धीरे धारे निर्मल चरित्र की साक्षात् प्रतिमा बन जाता है। वह अमृत से सत्, अन्वकार में प्रकाश, मृग्य से अमरत्व, निराशा म आशा, सीमित से अनीम, शिथिलता से हड्डना, नरक में घर्ग, तुच्छना से श्रेष्ठना और कुबुद्धि से सद्बुद्धि की आर कदम बढ़ाता है।

मन्त्र-जप में शक्ति उत्पन्न होती है। शक्ति ही मिद्दि का दूसरा नाम है। योगदर्शन ४।१ में स्पष्ट इहा है कि मन्त्र-जप से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। मन्त्र करण की पवित्रता तो मर्वश्रेष्ठ सिद्धि है जो जप का स्वाभाविक लाभ है। योगदर्शन १।२८ में तो यहीं तक कह दिया गया है कि जप माधक धीरे-धीरे इनना से ऊँचा उठ जाता है कि वह इसी माधना से समाधि-प्रवस्था तक पहुँच जाता है। आगामी सूत्र २६ में महर्षि ने निर्देश दिया है कि साधना-काल में आए विघ्नों का इपस न श होना है और अनन्तरात्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है। ईश्वर के साक्षात्कार का मार्ग खुल जाता है और साधक निय आनन्द में मन रहता है उसे कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता, उसे किसी वस्तु का अभाव नहीं लगता, वह सम्राट् बनकर सर्वोच्च आसन पर अवस्थित हो जाता है। स्वामी रामनीय इसी स्थिति पर पहुँचकर अपने को गम बादशाह कहा करते थे। हर साधक साधना-तपश्चर्या द्वारा इम सम्भाज्य का नर्वोच्च ध्यानिकारा बन सकता है, यदि वह शास्त्रों में वर्णित नियमों के प्रनुमार साधना करता रहे। पर यह अवस्था ज्ञान समय के अभ्यास के बाद आती है, जैसा कि योग दर्शनकार ने

११४ में लिखा है—“वह अभ्यास वहन काल तक लगातर विधि-
च्यवस्था से ठोक-ठीक किया जाने पर दृढ़ अवस्था वाला होता है।”

जप से आध्यात्मिक लाभ ही प्राप्त हो, ऐसी बात नहीं है,
भौतिक उपनिषद्यां भी इसकी विशेषता है। कठिनाइयाँ और आपत्तियाँ
तो हर एक के जीवन में आनी हैं, मनोबल की वृद्धि की जप-
माध्यक उनको हैमते-हैमते भेजता है, पहाड़ जैसे कष्ट उसे फूल समान
लगते हैं। आत्मिक शक्ति के बढ़ने से उनका मात्रम् भी बढ़ता है।
शारीक अभाव, विवाह, मन्नान, मुकुदमे, शकुण, सर्व आदि आपत्तियों
का ऐसा सखल यमाधार हो जाता है जिसका ही दिखाई
देता है। तपस्वी साधक अपने लिए ही नहीं, वरन् दूसरे को लाभ
पहुँचाने की स्थिति में रहते हैं। यह किसी के अनुग्रह से अनायास प्राप्त
नहीं हो जाते वरन् जप द्वारा प्राप्त शक्ति के ही चमत्कार होते हैं।

जप द्वारा आयु वृद्धि के लाभों की वैज्ञानिक व्याख्या भी किंद्रानो
ने की है। २४ घन्टे में प्रत्येक मृवस्थ ध्यक्ति २१६०० बार श्वास लेता
है श्रष्टात् १ मिनट में १५ बार छान लेना स्वाभाविक है। यदि किसी
उपाय से इन श्वासों की मरुण कम हो जायें तो आयु वृद्धि सुनिश्चित
है। प्राणायाम ऐसी धोग की सशक्त क्रिया है, जिसमें श्वास-प्रश्वास
क्रिया का नियमन निया जाता है। जप से भी ऐसा होता है। जप के
समय श्वासों की सरुण स्वाभाविक रूप से कम हो जाती है। यह एक
मिनट में १५ के स्थान पर ७-८ इह जाती है। यदि साधक एक घण्टा
प्रतिदिन जाप करता है, तो लगभग ५०० श्वासों की आयु-वृद्धि हो
गई। इस तरह मेरे यदि वह इस प्रक्रिया को निरन्तर जारी रखता है,
तो जीवन में कई वर्षों की वृद्धि हो सकती है। यह किसी देव-दानव की
कृपा में नहीं, अपने पुरुषाय का फन है।

अर्थ—

जप धातु का एक शर्य है—‘जप ध्यक्ताया वाचि सप्ट बोलना

ओर दूसरा 'जर मानमे च मन में उमे कहना। मन्त्र के बाँ-बार उच्चारण को जप कहते हैं। अग्नि-युग्म में इसकी व्याख्या इन प्रकार में की गई है—

जकारो जन्म विच्छेद पकार पाप नाशक ।

तस्याऽज्जर इनि प्रोक्तो जन्म पाप विनाशक ॥

अर्थात् "ज" का अभिप्राय जन्म का विच्छेद और "त" का अथ हृदय में भगवान का नाम नेने से भी जप कहते हैं। एक है पापो का विनाश। जिसमें जन्म मरण और पापो का विनाश हो— वह जप कहनाना है।"

विद्वान् ने इसका अभिप्राय भगवान को प्रथम करना बनाया है और कहा है—'इसकी घट्यावश्यक परिभाषा है— निर्वाच अन्त करण प्रकाश'। यह मूलम कल्पाद्रुत अन्त करण की विशुद्ध नीति है इस निर्णयात्मक नीति में मारे बन्धन छिन्न हो जाते हैं।' श्री रामकृष्ण परमहम ने जप का अर्थ किया है—"एकान्त में दैठकर मन-ही-मन भगवान का नाम लेना।"

प्रकार—

जब विभिन्न प्रकार का होता है, उसका सक्षिप्त विवेचन यहाँ किया जाता है—

१ नित्य-जप—जैसे स्थून शगीर के लिए धाह्य पवित्रता, स्नान, ध्यायाम, भोजन और नियमित मल-विमर्श आवश्यक क्रियाएँ हैं, उसी तरह मूलम शगीर के लिए नियमित रूप से उसके अनुच्छेद पवित्रता के मावन, उसके पोषण और विचाम के लिए साध्यात्मिक ध्यायाम जप और मन पर चढ़े मन-विशेषों को दूर करने के लिए नित्य धर्म्याम आवश्यक है ताकि पुराने मस्कारों का शमन होता रहे और नए प्रासुरी आक्रमणों के मुकाबिले की तैयारी होनी रहे। अपने इष्टदेव का जो रुचिकर और गुह प्रदत्त मन्त्र हो, उसका वाप नित्य ही करना चाहिए। रोग या यात्रा वी अवस्था में इसकी नित्यता

मेरा वादा न आना चाहिये । मरुया प्रोर विधि-विधान मेरे कुछ शियलता भले ही आ जाए परन्तु इसकी नियमितता मेरे कोई अन्तर न आना चाहिए । यह नित्य जग कहलाना है । नियमित रूप मेरे करने के कारण इससे शीघ्र ही सूक्ष्म शक्ति का विकास होता है ।

२ नमित्तिक जप—कृतज्ञता की भावना का विकास करना
हमारी मस्तुकि की महान विशेषता है । हम मानते हैं कि आत्मा अजर-अपर है । इसका नाश नहीं होता, केवल शरीर मेरे परिवर्तन हो जाता है । अत पितृ ऋण से उऋण होने के लिए हम पितृ-धार्म आदि कर्म करते हैं, जिसमे पितर जहाँ भी हो, उनके सूक्ष्म शरीर को बल मिलता है और प्रमन्त्रा हो जाती है । आशीर्वाद देने हैं। वे देव पितरों के सम्बन्ध मेरे जो जप किया जाता है, उसे नैमित्तिक जप की मज़ा दी जाती है । यह पितृपक्ष मेरे तो किया ही जाता है । इसके अतिरिक्त पर्व तिथियों मेरथवा श्रमावच्चा, पूर्णिमा एकादशी, गिरवात्रि, गमनवसी, नवरात्रि, गणेश चतुर्थी, कृष्णाष्टमी व ग्रहणादि पर्वों पर भी किया जाता है । इस जग से पितरों की सदागति होती है ।

३ काम्य-जप—जप-साधना विभिन्न प्रकार के प्रयोजनों से की जाती है । साधक का मन सकाम और निष्काम—दोनों प्रकार का हो सकता है । मन के स्तर के अनुकूल ही साधना चलती है । जिम तरह आरम्भक साधक के लिए मूर्ति-पूजा और अन्य बाह्य उपकरणों की आवश्यकता रहती है क्योंकि उसके लिए ईश्वर के निराकार रूप की कल्पना करना सहज नहीं है, उसी तरह पशु-भाव के साधक को ईश्वराधन की ओर आकर्षित करने के लिए पहले भौतिक विद्धियों की उपलब्धि मेर सहयोग दिया जाता है, जिसमे उसके विश्वास मेर दृढ़ता हो और आत्म-कल्याण की साधना को अगली सीढ़ा पर चढ़ने के लिए तैयार हो । किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए जो सकाम साधना की जाती है, वह काम्य-जप कहलाना है । इसमे देव-शक्तिया को आकर्षित किया जाता है, जो अभीष्ट विद्धि मेर महायक होती है ।

निपिद्ध-जप—माघक किसी भी क्षेत्र मे माध्यनागत हो, उसका कुछ भी उद्देश्य हो उसके विवि-विधान वा महत्व होता ही । यदि उसकी उपेक्षा की जाती है, तो पूर्ण मफलता मे मन्देह ही रहता है । आचार्यात्मिक साधना प तो इयका विशेष दग्धान रखा जाता है । पवित्रता, सयप, ब्रह्मचर्य, मिनाहार —म नियमो का पालन, मनोनियन्त्र जप-साधना मे आवश्यक बनाए गए हैं । यदि किसी भा माघना के नियमो का पालन पूर्ण रीति मे नहीं किया जाता है, तो देव-कृपा मदरिधि रहती है । अनधिकारी गुरु य दीक्षा लेकर अशुद्ध दब्बारणा के साथ अपवित्र अवस्था मे और निष्टुप्त म्यान पर यदि अविचिपूर्वक जप किया जाए, तो वह निपिद्ध जप कहलाना है जिसमे देवता और मन्त्र मे भी अनुकूलना न हो और धद्दा विश्वास का अभाव हो, ऐसी माघना मे कोई लाभ नहीं होता । केवल निराशा ही हाथ लगती है ।

४ प्रायशिच्छत जप--मानव-शरीर धारण करने मे पूर्व हमें १४ लाख योनियो म होकर ग्राना पड़ता है जिसमे विभिन्न प्रकार की पशु-योनियाँ होती हैं । उनक मस्कार हमारे मानस पटल पर अद्वृत रहते हैं । छोटा-मा चत्ते-जक्क कारण मिल जाने पर हममे बड़े-से-बड़े दोष, अपराध अथवा पाप हो जाते हैं, जिनके निए वाद को मन मे पहचानाप भी होता है । दोष और त्रुटि मानव म्यभाव का एक अङ्ग है । पिछले मस्कार और सामाजिक परिस्थितियाँ इसका कारण बन जाती हैं । इन दोषो के परिक्लार के निए आवश्यक उपाय अपनाना बुद्धिमानी है, क्योंकि हर कर्म की प्रतिक्रिया होती है जो योग और प्रारब्ध के रूप मे हमारे मामने प्राती है । मचिन प्रारब्ध कर्मो से ही हमारा जीवन दुखमय प्रतीत होता रहे तो इन भौतिक दुखो मे भी कमी की जा सकती है । पिछले प्रारब्ध-कर्मो को योग अथवा अ-य माघनाओं द्वारा कम किया जाए और आगे सावधानी वरकी जाए, यही अच्छियो का आदेश है । आचार्यो ने सचित व नित्य दोषो के प्रभाव को

दूर करने के लिए अनेकों प्रकार के उपायों का दिग्दर्शन किया है, उनमें से एक प्रायश्चित् जप है। इसका स्पष्ट मर्य है—अपने दोष और अपराध को स्वीकार करना। पाप की गाँठ उसके स्वीकार करने से ही खुलती है। इसे स्वीकार न करने से वह और दृढ़ होती है। अत जान व अनजाने पापों के परिमाजन के लिए जो जाप किया जाता है। उसका प्रायश्चित् किया जाता है।

६ भ्रचल जप—घभोष्ट सिद्धि के लिए कुछ विशिष्ट साधन भी आवश्यक होती है। नियम, सथम और सकला भी उसके आवश्यक अङ्ग हैं। विना सफल्प के काई भी काम निहित ममय में पूण नहीं हो पाता। कठिन कार्यों के लिए तो सफलता अनिवाय होता है। जप-साधना में ममय और सख्या की विशेषता रहती है। जब साधक यह निश्चय करता है कि नित्यप्रति वह इतना समय लगाने रइतना जप करके ही आसन से उठेगा—वह भ्रचल जप कहनाता है। इससे साधक की मनोभूमि में दृढ़ता आती है और किसी भी बड़ी-से-बड़ी साधना के लिए साहम बटोर सकता है।

७ चल जप—मन्त्र जप तो विधिपूर्वक आसन पर बैठकर किए जाते हैं, परन्तु चल जप किसी भी परिस्थिति में किया जा सकता है। चलने, फिरते, यात्रा में या कढ़ी भी यड़ हो सकता है। इसके लिए किसी प्रकार का प्रतिवन्ध नहीं है। खाली मन को शीतान का घर कहा गया है, तो उसमें विभिन्न प्रकार के अनावश्यक विचार लक्षकर लगाते रहते हैं; कमजोर मन पर आमुरी विचार अपना नियन्त्रण जमा लेते हैं, तो उसके काय भी उसी के पनुकून होने लगते हैं। इसमें बचने के लिए आवश्यक है कि मन में दुरे विनागों का आगमन न हो। यह तभी हो सकता है, जब मन खाली न हो और सदैव उसे व्यस्त रखा जाए। अपने दृष्टि देवना के स्मरण के अतिरिक्त और कौन-मा श्रेष्ठ माधन हो सकता है? मन्त्र-जप का साधन हर समय चलता रहे, तो आमुरी दृतियों के

पोषण विकास का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि मन की पवित्रता को बनाए रखने के लिए निरन्तर साधन चलता रहता है। इस साधन में प्रदर्शन धातु क सिद्ध होना है। प्रदर्शन के बिना यह साधन चलती रहे, तो इसमें अपूर्व मफलता मिलती है।

८ वाचिक जप—भगवान् मनु ने इस जप की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि यह विधि-यज्ञ से दम गुना श्रेष्ठ है। जिस मन्त्र-उच्चारण को अन्य व्यक्ति भी सुन सके, उसे वाचिक-जप कहते हैं। आरम्भ में साधन के लिए यहीं ठीक रहता है क्योंकि अन्य जप अभ्यास साध्य है। यह जप निम्न कोटि का जाना आना है। फिर भी शब्द-विज्ञान की महत्ता स्वीकार करते हुए इसकी उपयोगिता को स्वीकार करना ही होगा। योगियों का कहना है कि इससे वाक्-सिद्धि होती है और पट्टकों में विद्यमान वर्णवीज शक्तियाँ जाग्रत होती हैं।

९ उपाशु जप—मनुभृति २१८५ के अनुसार उपाशु-जप उस कहते हैं कि मन्त्र का उच्चारण होता रहे होठ हिलते रहें परन्तु पास बैठा व्यक्ति भी उसे सुन न सके, जापका स्वयं ही उसे सुने। भगवान् मनु ने इसे विधि-यज्ञ की अपेक्षा सौ गुना श्रेष्ठ बताया है। इस जप के प्रभाव से स्थूल से सूक्ष्म शरीर में प्रवेश होता है और वाह्य वृत्तियाँ अनन्मुख होने लगती हैं, एकाग्रता बढ़ने लगती हैं, एक अद्भुत मस्ती प्रतीत होती है, जो अनुभव की ही वस्तु है।

१० भ्रमर जप—भ्रमर के गुञ्जारब की भाति गुनगुनाना इस जप की विशेषता है। इसमें होठ और जिह्वा नहीं हिलानी पड़ती। जिस तरह वशी बजाई जाती है, उसी तरह प्राणघाषु के सहयोग से मत्रावृत्ति की जाती है। योग-विज्ञान का मत है कि जो माधक मनोलय के लिए नादानुसधान की साधना करते हैं, यदि भ्रमर जप में वह सफलता प्राप्त कर लें, तो उनकी अनाहत नाद की सा ना सरल हो जायगी। इस जप से योगिक तन्द्रा की वृद्धि होती है और पट्टकों का धीरे-धीरे

जागरण होने लगता है, प्रकाश की अनुभूति होती है आन्तरिक तेज की वृद्धि होती है।

११ मानसिन-जप—मानसिक जप—मानसिक जप में होठ और जिह्वा कुछ भी नहीं हिलते। मन्त्र के पद और अक्षरों के ग्रथ पर मन में विचार निया जाता है। इसी महत्ता मनुष्मृति २१८, विष्णुपुराण ५६१, वृड्द पाराशर ४५७ में वर्णित की गई है। उनके अनुसार विधि-यज्ञ की अपेक्षा मानसिक जप सहस्र गुना श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है।

मानसिक जय की उपायागिता पर प० दीनानाथ शास्त्री लिखते हैं 'स्पष्ट बोलने से वाणी स्थूलता में रहती है। और उसका प्रभाव भी सीमित स्थल पर रहता है। परं मन के द्वारा मन्त्र के उच्चारण से वह वाक् सूक्ष्म हो जाती है परा, पश्यन्ती, मध्यमा—यह तीन वाक् भी सूक्ष्म होती हैं। उनके द्वारा नाभि प्रदेश आदि परे प्रयत्न होता है, उसमें विद्युत प्रकट होती है। उसका प्रभाव अपेक्षित स्थल है। सूक्ष्म की शक्ति स्थूल की अपेक्षा अधिक होती है। परं स्थूल वाक् की अपेक्षा अतिक पड़ता मन्त्र में 'मत्रि गुण भाष्ये' धार्तु है, मन्त्र का मन्त्रत्व गुप्त इसी भाषण मानस जपन होना से है। उसका प्रभाव भी बहुत पड़ता है। मानस जप का प्रभाव सारे आकाश में व्याप्त हो जाता है, परेक्षित स्थल पर तो पड़ता ही है।'

१२ अखण्ड-जप—इसका अभिप्राय इसके नाम से ही स्पष्ट है। शरीर को वारण करने के लिए जो आवश्यक कृत्य करने होते हैं, उतना समय इनमें तथा शैय साधना में लगाकर यह अनुमत्वजन्य है कि हर जर करना सम्भव नहीं है। अश्वारट भी होती है और मन भी उच्चटना है। परिवर्तन में मन लगता है, इसलिए गुरुजनों ने यह आदेश दिया है कि जब जप में मन उच्चट जाए, तो ध्यान करना चाहिए। ध्यान की भी एक सीमा होती है। जब ध्यान में मन उच्चटने लगे, तो आत्म-चित्तन करना चाहिए, आप प्रन्थों का अव्ययन करना चाहिए। इस तरह से मन को हर समय नगाए ही रहना चाहिए, उसे एक क्षण

के लिए भी स्वतन्त्र न छोड़ना अखण्डता की परिभाषा में आता है। शास्त्र का भी यही आदेश है—

जपाच्छ्रान्तं पुनर्द्ययिद् ध्यानाच्छ्रुन्तं पुनर्जपेत् ।

जपध्यानपरिश्रान्तं आत्मानं च विचारयेत् ।

“जप करते-करते जब थके तो ध्यान करना चाहिए, ध्यान में थकें, तो पुन जप करे। इन दोनों से जब थके तो आत्म-तत्त्व का चिनन करें।”

१२ वष की इस अखण्ड साधना को नप की सज्जा दी गई है। इससे महासिद्धि की उपलब्धि होती है।

१३ अजपा जप—यह जप माना के बिना ही होता है। श्वासोच्छ्रु वास की क्रिया हमारे शरीर में वरावर स्वाभाविक रूप में होती रहती है, जो एक अहोग्रन्थ में २१६०० की संख्या में होती है। जो श्वास वाहर निकलता है, उसकी ध्वनि ‘हम्’ की तरह होती है और जो अन्दर आता है उसकी ध्वनि ‘म्’ की तरह होती है। इस त-ह में हस् मन्त्र का जप हमारे शरीर में अपने आप होता रहता है। इसे अजपा गायत्री भी कहते हैं। अत श्वासोच्छ्रु वास के माध्य मन्त्रावत्ति अजपा जप कहलाती है। योग की भाषा में कहा जाए, तो ‘स’ ध्वनि का सम्बन्ध प्राण से और ‘ह’ ध्वनि का ग्रपान से सम्बन्ध है। प्राण-ग्रपान की क्रिया वरावर चलनी रहनी है। यही अजपा विद्या कहनाती है। इप जप की यही विशेषता है कि यह अपने आप होता रहता है, इसके लिए कुछ करना नहीं पड़ता। केवल दृष्टि रूप में इसकी स्वाभाविक क्रिया को देखना होता है। इस जप को अजपा-गायत्री व हस् विद्या के अतिरिक्त आत्म-मन्त्र और प्राण-यज भी कहा जाता है। गीता के चौथे अध्याय में कहा गया है—“प्राणानि प्राणेषु जुहवति।” यही प्राणयज्ञ है इस प्राणयज्ञ को श्रीवर स्वामी ने अपनी टीका में अजपा माध्यन बताया है। नाथ-सम्प्रदाय में तो यह विशेष रूप में प्रचलित है। नाथ साहित्य में

इमकी महिमा का वर्णन आता है। बौद्ध पत में जो साधना 'आनापानसति' के नाम से प्रसिद्ध थी वह प्राचार्यों की हठिट में अजपा साधन का ही एक भाग थी।

हमोपनिषद् (५) में हम मन्त्र की स्वाभाविक क्रिया का वर्णन करते हुए कहा है—

सर्वेषु देवेषु व्याप्त वतते यथा हयग्नि काष्ठेषु तिलेषु
तंलमिव । त दिवित्वा नमृत्युमेति ।

"समस्त देहों में यह जीव हम हम जपता हुमा व्याप्त रहता है, उसी प्रकार जैसे काठ में अग्नि रहनी है और तिलों में तेज रहता है। इसके जान लेने वाला मृत्यु को उत्तम्भूत कर जाता है।"

१४ प्रदक्षिणा-जप—इसकी प्रक्रिया नाम से ही स्पष्ट है। वट श्रीदुर्घार व पीरन के वृत्त को परिक्रमा करना जाता है। जप करते हुए परिक्रमा करनी पड़ती है। ज्योतिर्निंग-मन्दिर की प्रदक्षिणा का भी विधान है। साथ में ऋग्य-भावना का रहना आवश्यक होता है। इससे भी विशेष लाभ होता है।

जप की सहयोगी प्रक्रियाये—

जप का लाभ तभी होता है, जब वह एकाग्रतापूर्वक किया जाए, वृत्तिर्या प्रन्तमुखी हों, यदि जप-साधन में माला घुमाने के साथ-साथ विचार अन्यत्र घूमते रहते हैं, तो शक्ति का विशेष विकास नहीं हो पाता। एकाग्रना के लिए ध्यान किया जाता है, जो शक्ति का विशेष साधन है। ध्यान की सफलता में जप की सफलता निश्चित है। जप के साथ ग्रन्थ-चित्तन को भी आवश्यक बताया गया है। इष्टदेव के मन्त्र का जब उच्चारण किया जाता है, तो मन-मन्त्रिष्टक में इश्वरेव के गुण-रूप का एक सजोव चित्र बन जाना है, जो कान्तातर में सस्कार का रूप ग्रहण कर लेता है और पूर्व सस्कार का शमन करता है। पूर्व सस्कारों में जो काम, फ्रोव, मद, नोभ, द्वेष, ईर्यादि की भावनाएँ भरी पड़ा हैं,

उनको धीरे-धीरे समाप्त करना जप-माध्यन की विशेषता है। विचारो में परिवर्तन होता है, मस्तिष्क-कोष प्रभावित होने हैं, उन पर चिन्ह बनते हैं, स्स्कार जमते हैं और स्थायित्व आमा है।

मन ऐसा ही भूत है जो जब भी निरर्थक रैठता है तभी कुछ-न-कुछ खुगफात करता है। इसलिए यह जब भी काम से छुट्टी पाए, तभी इसे जप पर लगा देना चाहिए। जप केवल ममय काटने के लिए ही नहीं है, वर्त्त वह एक वडा ही उत्पादक एवं निर्माणात्मक मनो-वैज्ञानिक श्रम है। निरन्तर पुनरावृत्ति करते रहने से मन में उम प्रकार का अस्थाम एवं स्स्कार बन जाता है जिससे वह स्वभावत उसी ओर चलने लगता है।

पत्थर पर बार-बार रम्सी की रगड़ लग जाने में उससे रगड़ लग जाने से गङ्गा पड़ जाना है। रिजडे में रहने वाला कवृतर बाहर निकाल देने पर भी उसी में वापिस आ जाना है। गाय को जङ्गल में छोड़ दिया जाए तो वह भी रात को स्वयमेव लौट आती है। निरन्तर अस्थाम से मन भी ऐसा अस्थान हो जाता है कि अपने दीर्घकाल तक किए गए कार्यक्रम में अनायास ही प्रवृत्त हो जाता है।

अनेक निरर्थक कल्पना-प्रपञ्चो में उच्छलते कूदते फिरने की अपेक्षा प्राद्यात्मिक भावना की एक सीमित परिवर्ति में भ्रमण करने के लिए जप का अस्थास करने से मन एक ही दिशा में प्रवृत्त रहने लगता है। आत्मिक क्षेत्र में मन का लगा रहना, उम दिशा में एक दिन पूर्ण सफनता प्राप्त होने का लक्षण है। मन रूपी भूत वडा बलवान है। यह सासारिक कायों को भी वडी सफनतापूर्वक करता है और जब आन्तिक क्षेत्र में जुट जाता है, जो भगवान के सिंहासन को हिला देने में भी नहीं चूकता। मन की उत्पादक, रचनात्मक एवं प्रेरक शक्ति इतनी विलक्षण है कि उसके लिए ससार की कोई वस्तु असम्भव नहीं। भगवान को प्राप्त करना भी उसके लिए विलकुल मरल है। कठिनाई

केवल एक नियत क्षेत्र मे जमने की है, सो जप के ध्यवस्थित विधान से वह भी दूर हो जाती है।

हमारा मन कैसा ही उच्छृङ्खल क्यों न हो, पर जब उसका बार-बार किसी भावना पर के द्वित क्रिया जाता रहेगा, तो कोई कारण नहीं कि कालातर मे उसी प्रकार का न बनने लगे। लगातार प्रयत्न करने से सरकस मे खेल दिखाने वाले बन्दर, सिंह, बाघ, रीछ, जैमेंट्रदृड जानवर मालिक की मरजी पर काम करने लगते हैं, उसे इशारे पर नाचते हैं तो कोई कारण नहीं कि चच्चल और कुमागगामी मनको बशने करके इच्छावर्ती न बनाया जा सके। पहलवान लोग नित्यप्रति अपनी निरात मर्फता मे दरड बैठक आदि करते हैं, उनकी इस क्रिया-पद्धति से उनका शरीर दिनो-दिन हृष्ट पुष्ट होता जाता है और एक दिन वे अच्छे बलवान बन जाते हैं। नित्य का जप एक आध्यात्मिक व्यायाम है, जिसन आध्यात्मिक स्वास्थ्य को सुदृढ और सूक्ष्म शरीर को बलवान बनाने मे महत्व-पूर्ण सहायता मिलती है।

एक-एक दूँद जमा करने मे घड़ा भर जाता है। जीटी पक्का दाना ले जाकर अपने विलो मे मनो अनाज जमा कर लेती है। एव-एक अक्षर पढ़ने से थोड़े दिनो मे विद्वान बना जा सकता है। पक्का एक रदम चलने से लम्बी मञ्जिले पार हो जाती है। एक एक पेसा जोड़ने मे खजाने जमा ड्रो जाते हैं। एक एक तिनका मिलने मे मजबूत रसी बन जाती है। जप मे भी वही होता है। माना वा पक्का दाना फेरने से बहुत जमा हो जाता है—और इनना जमा हो जाता है कि उमप शातमा कल्याण का हो जाता है इसलिए योग ग्रथो मे जप को, यज्ञ वताया गया है। उसकी ढी महिमा गाई गई है और आत्म मार्ग पर चलने की दृष्टा करने वाले पथिकों के निए जप करने का वृतव्य आवश्यक स्पष्ट मे निर्धारित किया गया।

शब्द-साधना का महत्व—

जप साधना-विज्ञान में शब्द का विशेष महत्व रहता है। सृष्टि मा मूल और तत्व भी इसे ही माना गया है। शास्त्र का वचन है—

वागेव विश्वा भुत्वनानि जज्ञे वाच इत्यर्वममृत यच्च मत्यं म् ।

वादेष्वेवापिता शक्तिविस्वास्यास्य तिवन्वतो ।

जब शब्द को सृष्टि का मूल माना गया है, तो इसके बाहर जाने के लिए डमी को आवार बनाना पड़ेगा। यही कारण है कि जप योग में शब्दानीन परम्परा पद में स्थित हाने की घोषणा की गई है। इस विज्ञान पर प्रकाश डालते हुए योगियों ने कहा है कि योगशास्त्र के अनुमान चार प्रकार की वाणियाँ होती हैं—वैखरी मध्यमा, पश्यन्ती और पग। स्थून शब्द को वैखरी कहते हैं। इस साधक की वृत्ति बहिर्मुखी ही रहती है। वृत्तियों को अन्त मुखी करने के लिए सूक्ष्म और सूक्ष्मतर वाणियों का सहारा लेना आवश्यक माना गया है। वैखरी में मध्यमा, पश्यन्ती और पग की ओर बढ़ना ही साधना की मफनता है। अन्तिम सीढ़ी पर चढ़ने के लिए तो इसके भी प्रगति जाना होता है। वैखरी से मध्यम भूमि पर अवस्थित होने के लिए जप एक सरल मार्ग है। दो किनारों के बीच के स्थान को मध्य कहते हैं। वैखरी और पश्यन्ती के मध्य-स्थिति को प्रहण करने वाली को मध्यमा कहा गया है। यही इसका कार्यश्रेष्ठ है। पशु-भाव में में दिव्य-भाव में जाने के लिए इस मध्यमा का अवलम्बन अपेक्षित रहता है। योगियों का मत है कि सहस्र-कमल के दल से हृदय तक इसका विस्तार क्षेत्र है। यह माया के जाल काटने की प्रसना रखती है। अन्तिम अवस्था तक पहुँचने के लिए प्रयत्नशीन साधक पश्यन्ती और पग की ओर बढ़ना है और फिर इनका भी प्रतिक्रिय करता हमा आगे बढ़ता है, क्योंकि परम्परा को

शब्दानीत कहा गया है। इसलिए शास्त्रकारों ने घोषणा की है कि शब्द-में निष्णात होने पर परब्रह्म की उपलब्धि होती है।

शब्द ब्रह्माणि निष्णात्, पर ब्रह्माधिगच्छति ।

इन मध्यी उपलब्धियों के लिए जप-साधन को श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है क्योंकि शब्द ही उपकी किया का माध्यम है।

वैज्ञानिक प्रक्रिया—

शास्त्रकारों ने जिन लाभों का वर्णन किया है, उसका विशेष वैज्ञानिक कारण है। स्थूल शरीर की तरह ही सूक्ष्म शरीर में भी नाड़ी-तन्तुओं का जाल विच्छा रहता है और सभी एक-दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं और उनके सुमञ्चालन के लिए घनेकों केन्द्रों की व्यवस्था की गई है, जहाँ से सम्बन्धित क्षेत्रों का नियन्त्रण होता है। जब जप आरम्भ होता है, तो सूक्ष्म शरीर में एक अद्भुत प्रक्रिया का श्रीगणेश होता है। जिस परह की वीणा से एक प्रकार की स्वर-लहरी उत्पन्न होती है, उसी तरह से जप से भी सारे शरीर में एक झकार उत्पन्न होती है, जिसका विशेष प्रभाव उन शक्ति-केन्द्रों पर पड़ता है जो सूक्ष्म शरीर की शक्तियों के प्रतिनिधि नियुक्त किये गये हैं। इस बार-बार के आधात-प्रतिधात से वह जाग्रत होते हैं और साधक अपने में अपार शक्ति की अनुभूति करता है। वह समझता है कि यह शक्तियाँ उसे दैव-कृपा में प्राप्त हुई हैं, परन्तु वास्तव में यह उस वैज्ञानिक प्रक्रिया का सुफल है, जो जप आरम्भ करते ही शुरू हो जाती है। शब्द की शक्ति को आधुनिक विज्ञान ने भी स्वीकार किया है और उससे लाभ उठाने की विभिन्न विधियाँ खोज निकाली हैं। भारतीय विज्ञान ने तो शब्द-शक्ति का प्रयोग आध्यात्मिक उत्थान के लिये किया था कि यहाँ का हर नागरिक इसका अद्वा और विश्वासपूर्वक ग्रन्थास करता था और अपना नैतिक उत्थान करता हुआ देवता की श्रेणी में पहुँच जाता था, तभी तो भारत में ३३ करोड़ देवताओं की कल्पना की गई है। विधि-व्यवस्था और

मन्त्र आज भी हमें उपलब्ध हैं, उन पर चलकर हमनी पशुत्व ने ऊँचे उठकर मच्छरों में मानव बन सकते हैं और देवत्व की भूमिका में प्रवेश कर सकते हैं।

नियम—

जप के जितने लाभ ऊरर वर्णित किये गये हैं, वह तभी प्राप्त होने सम्भव हैं, जब माघना नियमपूर्वक की जाए। अत शास्त्र म जप के कुछ नियम बताए गए हैं, जिनका दृढ़तापूर्वक पाठन करना आवश्यक है।

शरीर की शुद्धि करके बुले और म्वच्छ वस्त्रों को पहिन कर साघना पर वैठना चाहिये। पालनी मारकर मीधे ढग पर वैठना चाहिये। इष्टसाध्य आसनों में चित्त में ग्रस्तिगता रहना है। प्राप्त उर्व की ओर मध्याह्न को उत्तर की ओर, शाम को पश्चिम की ओर मूँख करके बैठना चाहिए। मल-मूत्र त्याग या किमी अनिवार्य काय के निष वीच में उठना पड़े तो हाथ-पैर धाकर तुन बैठना चाहिए। शिखा खालचर, पगड़ी या कुर्ता पड़न कर पैर फैलाकर, नरे होकर, वर्ग चित्त से, क्रोध में और जूतादि पहनकर जप करना नियिद्ध है। सावक का आत्मा-विहार सात्त्विक होना चाहिए। तन्त्र-मार के अनुमार मन की शुद्धि पवित्रता, सयम, शौच, वैग्रह, मन्त्रार्प-चिरत, अन्यग्रता-यह जप-सिद्धि की प्रवान सम्पत्तियाँ हैं। कुलार्णव नन्त्र के अनुमार अपवित्रता, राग-रोप, नगनगिरता, वहिरन्नाप, अनवधानता, अन्यमनस्कता माधना में वावक माने गये हैं। सावक को पराया अन्न नहीं खाना चाहिए। वह जिसका अन्न खाता है, उसी को फल मिलता है।

जप न धीरे धीरे हो, और न ही ग्रस्तिक तोन्न—स्वाभाविक गति से चलना चाहिये। सिद्धि के लिये मन, शिव, शक्ति और वायु का सयम आवश्यक है। यह न होने पर शास्त्रों के अनुमार कल्पपद्मन जप करने पर भी सिद्धि प्राप्त करना सम्भव नहीं है। साधना स्थन का

पूर्ण रूप से सत्त्विक रखना चाहिए । वहाँ पर तामसिक व राजसिक वृत्ति वाले व्यक्तियों को न आने देना चाहिए । महापुरुषों और देवताओं के बिन्द्रों और प्रेरणाप्रद वाङ्गों से वह स्थान सुसज्जित होना चाहिये । साधक को अपनी इन्द्रियों पर सत्यम् रखना आवश्यक है । इससे शीघ्र लाभ होता है । उत्तम विधि को एक साधक ने इस तरह बताया है—

नाम ही जन शून्य मन घर, पाँचो इन्द्रिय वश मे करे ।

ब्रह्म शर्मिन मे हामे काया, ता के विष्णु पखारे पाँया ॥

जप के समय मन्त्र के अथ का चिन्तन करना चाहिये । मन्त्रार्थ में जिन गुणों का वर्णन किया गया हो वह गुण हमसे श्रोत-प्रोत हो रहे हैं, यह दृढ़ भावना करनी चाहिये । मन्त्र-जप से जो एकाग्रता और शक्ति उत्पन्न होती है, उसमें उन गुणों को अपने अन्न करण में स्थापित करने से सहायता मिलती है और धीरे-धीरे साधक उस मन्त्र के साक्षातरूप होता जाता है, यही सिद्धि के लक्षण हैं । योग-दर्शन ११२८ में इप तथ्य का सनर्वत करते हुए लिखा गया है कि मन्त्र का जप और अथ विचारने से समाधि-लाभ होता है । पूर्ण मनोयोग के साथ साधना करने वाले साधक इस स्थिति तक पहुँच ही जाते हैं ।

जप के लिए उपयुक्त स्थान का होना आवश्यक है । लिंगपुराण द५। १०६ के अनुसार घर में किए जप का फन साधारण होता है । नदी तट पर इए जप का फन लाख गुना और भगवान के श्री विग्रह के मामने किये जप का फन अनात होता है । निंग-पुराण द५। १०७। १०८ के अनुसार पवित्र आश्रमों, देवानयों, पर्वत-शिखर पर, देव-हृदय पर, ममुद्र नट पर यह लाभ करोड़ गुना हो जाता है । ध्रुवतारा, सूर्य के अभिमुख होकर और गो, श्रमिन्, दीपक और जल के मामने जप करने का भी फन श्रेष्ठ माना गया है । सुविदा के लिये घर का स्वच्छ और सात्त्विक स्थान लेना अनिवार्य है ।

जप में माला की भी विदेश उपयोगिता है । तन्त्र-सार के अनु-
Hinduism Discord Server <https://dsc.gg/dharma> | MADE

धैर्य-गुणियों पर मन्त्र-जप सावारण, पुत्र-जीव की माला में दस गुना, अद्वा से सौ गुना, मूँगे से हजार गुना, मणि और रत्नों की माला से दस हजार गुना, स्फटिक की माला से भी दस हजार गुना, मोरी की माला में नाखुं गुना, सोने की माला से करोड़ गुना, कुण्ड ग्रन्थ की माला से अर्चव गुना और लद्वाक्ष ने जप करने से अनन्त गुना लाभ होता है। गणेशजी का जप हाथी-दीत की माला में श्रेष्ठ माला गया है। कानिका पुराण में मूँगे की माला को सर्व प्रकार की कामनाओं की पूर्ति करने वाली, पुत्र-जीव की माला के पुश्रदाता और समस्त पापों का विनाश करने वाली दताया गया है। वैष्णव मन्त्रों में तुनसी की माला ही श्रेष्ठ माली गई। सात्त्विक उपायना के लिये इसी का प्रयोग करना चाहिए।

जप-साधना में आमन भी विशेष महत्व रखता है। हम माहेश्वर तन्त्र में बच्च, पत्नी, तृण, पापाण, वशकुण्ड, कम्बल, कृष्णाजिन, व्याघ्रचर्म आदि के आमनों की चर्चा की गई है परन्तु मात्विक उपायना में कुण्ड का आमन ही श्रेष्ठ माला गया है। यदि दिना प्रामन भूमि पर बैठकर जप किया जाय, तो जप-साधना में उपाजित शक्ति के पृथकों में प्रवेश करने की सम्भावना रहनी है, इसलिए साधक को अभीष्ट लाभ की प्राप्ति नहीं होती। कुण्ड के आसन पर बैठकर साधना करने ने यह लाभ है कि वह शक्ति को पृथकी में प्रविष्ट करने ने रोकते आर उस मुरक्कित रखने की सामर्थ्य रखता है। इसलिए प्राय इसी का प्रयोग किया जाता है।

जप से सिद्धि-प्राप्ति का उसकी स्तर्या में भी मम्बन्ध दताया गया है। इसलिए विशेष प्रयोजनों के लिए २४०० व १,२५००० के अनुष्टान किए जाते हैं। यह मान्यता है कि यदि मानसिक हृषि से छैना ८६ हजार जप किया जाए तो प्रत्याहार की सिद्धि होती है। धारणा के निर दो करोड़ सात लाख छत्तीस हजार जप करना पड़ता है। यह अद्वा-विश्वास युक्त उत्तम साधक की मर्यादा है।

अब जप एक ऐसी वैज्ञानिक प्रक्रिया प्रथमा आध्यात्मिक व्यायाम है, जिससे साधरु में शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक नवीन शक्तियों का सृजन होता है, जिससे वह हर क्षेत्र में उन्नति-पथ को प्रशस्त करता हुम्हा विकासोन्मुख होता है। क्योंकि वह चारों ओर से शक्तियों का आकर्षण करता है। शक्ति-केन्द्र बनने पर सभी प्रकार की निर्बलताएँ, असुरताएँ, दोष, दुर्गुण, पाप, बुराइयाँ, अज्ञान, अन्धकार, निराशा आदि अपना उपयुक्त स्थान न देखकर वहाँ से चले जाते हैं और वह सुख, शांति और आनन्द का स्रोत ही बना रहता है। जप में मन्त्र शक्ति की विशेषता तो ही ही। इसके साथ जो नियम-उपनियम बताये गए हैं, वह भी विशेष महत्व के हैं। उनकी सहायता से ही मन्त्र-शक्ति से इच्छित फल की प्राप्ति सम्भव है। यह साधना हमारे चहूँमुखी विकास के लिए ऋषियों की अपार देन है। इसको उपेक्षा करने से हम अपने भविष्य के निर्माण में बाधा ढालते हैं और एक अनुभूत वैज्ञानिक साधन से लाभ उठाने से बचित रहते हैं।

• • •

पट्टकर्मी साधना

योगिनी-तन्त्र में तान्त्रिक पट्टकर्मों के नाम हम प्रकार बताए गए हैं—

शान्तिवश्यस्तम्भनानि विद्वेषोच्चाटने तथा ।

मारण परमेशानि पट्टकर्मद प्रकीर्तितम् ॥

“महेश ने कहा—हे महेशानि ! शालि वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन और मारण—यही छ पट्टकर्म कहे गये हैं ।”

कोई भी शिष्ट धर्मिय जानि के अतिरिक्त कर्मों का अनुमोदन नहीं कर सकता, क्योंकि यह कर्म तभी किए जा सकते हैं, जब मानव में परले दर्जे की स्वार्थपरता प्रविष्ट हो चुकी हो । ऐसा विचार करने वाला व्यक्ति क्षुद्रना का ही परिचय देता है ।

यह भी स्मरण रहे कि तन्त्र एक ऐसी वैज्ञानिक साधना-प्रणाली है जिसके द्वारा शक्ति का उद्भव और विकास होता है । मानव की जैसी मानसिक पृष्ठभूमि है, उसे उसके अनुयार प्रयुक्त प्रकर अपने उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकती है । तन्त्र के उच्च श्रेणी के साधक आत्मिक उत्थान की उपासना करते हैं, तो तामसिक साधक इस प्रकार के प्रयोगों में उनके रहते हैं । फिर भी इनका अपना महत्व है । जब शक्ति किसी के विनाश का प्रयत्न करता है, और तब उसे अपनी सुरक्षाके लिए यह उपाय अपनाने पड़े, तो इन्हे बुरा नहीं कहा जाएगा । क्योंकि मरता क्या नहीं करता की कहावन के अनुसार सभी उपाय जायज माने जायेंगे, परन्तु यदि वह स्वार्थवश इन्हे काम में लाता है, तो यह भालो-चना का विषय बन जाता है ।

इन दोनों पहलुओं की समालोचना से दूर रहकर यदि हम इस पर विचार करें, तो हमें तन्त्र-विज्ञान के प्रयोगों का चमत्कार ही दृष्टिगोचर होगा, क्योंकि सावारण व्यक्ति को यह प्रयोग भ्रस्मभव ही जान पड़ते हैं परन्तु वास्तव में इनकी वैज्ञानिक पृष्ठभूमि है। इन प्रयोगों का सम्बन्ध अन्तर्मन से है, जो विश्व की एक आश्चर्यजनक प्रयोगशाला है। इसमें अनेकों मानसिक ग्रथियों का निवास है, जो जटिल क्रियाओं, विलक्षण चेष्टाओं और अद्भुत कार्यों का मूल कारण बनती हैं। विकसित मानव को अभी इसके बारे में बहुत कम जानकारी प्राप्त हो पाई है, फिर भी जो प्राप्त है, उससे वह बड़े-बड़े चमत्कार दिखा सकता है। जागरण, उच्चाटन, भाड़, फूँक, तांबीज, नजर, गडा, ढोग आदि की सूचना (Suggestion) का प्रभाव इसी अन्तर्मन पर पड़ता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी इस तथ्य को स्वीकार करता है कि सूचनासकेतों द्वारा अपने या किसी के भी मन को प्रभावित किया जा सकता है, उसके मन में इच्छानुसार विचार उड़ेले जा सकते हैं, उसके विचारों को जैसा चाहे, बनाया जा सकता है। यह सक्रेत-दिया कोई जादू नहीं है, वरन् मनोविज्ञान की एक विकसित अभ्यास प्रणाली है, जिसके माध्यम से अनेकों चमत्कार देखने को मिले हैं। यह प्रयोगकर्ता पर निर्भर करता है कि वह उन सकेतों को किस उद्देश्य के लिए प्रयुक्त करता है।

आधुनिक मनोविज्ञान के शब्दों में पुष्ट एवं दृढ़ विचार, स्पर्श, छवि, शब्द, दृष्टि तथा विभिन्न प्रासनों एवं क्रियाओं द्वारा किसी के मन पर प्रभाव डालने तथा अपनी इच्छा द्वारा कार्य मम्पन्न कराने का नाम सकेन करना है। सकेत ऐसे वाक्यों से किया जाता है, जिनमें अपूर्व दृढ़ता, गहन शब्द, शब्द शब्द में शक्ति भरी रहती है। किन्तु विचारों को बार-बार सोचने से वह मन का एक भाग-भाग ही बन जाते हैं और वैसा ही क्रियायें होने लगती हैं। मन एक शक्तिशाली उन्नय है।

उसकी गविन से दूसरों के विचारों को परिवर्तित किया जा सकता है। हिप्पोटिजम आदि ऐसी वैज्ञानिक प्रणालियों का आविष्कार भी किया जा चुका है, जिनसे यह सिद्ध हो चुका है कि दूसरे के मन को वशीभूत किया जा सकता है।

आधुनिक मनोविज्ञान तो केवल मनोन-विद्या द्वारा दूसरों के मन को प्रभावित करने की बात कहता है, तन्म इसके अतिरिक्त मन्त्रशक्ति के प्रयोग की भी विद्या सिखाता है। आज मन्त्रशक्ति की सच्चाई से कोई इन्कार नहीं कर सकता, जबकि ज्वनि से विज्ञान ने अनर्को प्रकार के चमत्कारिक प्रयोग कर दिखाए हैं।

अत यह कहने में कुछ भी मकोच नहीं कि मारण, मौहन, उच्चाटन आदि कर्म सफनतापूर्वक किए जाते थे, परन्तु इन साधनों का दुरुपयोग न होने लगे, इसलिए इनको गुण रखा जाना था, यह अनुभवी गुरु की देख-रेख में ही सिखाते थे। गुरु पात्र शिष्य को ही यह प्रयोग बनाता था। आज यह लुच्न प्राय है कि भी जो जानकारी प्राप्त है, उसके अनुसार सबसे भयानक प्रयोग मारण की मक्षित विवेचना करते हैं।

शत्रुनाश के लिए मारण प्रयोगों को काम में लाया जाता है। मारण किन्तु ही प्रकार का होता है। एक तो ऐसा, जिससे किसी मनुष्य की तुरन्त मृत्यु हो जाय। ऐसे प्रयोगों में ‘घात या ‘कृत्या’ है। यह एक शक्तिशाली तात्रिक अविन-ग्रस्त है, जो प्रत्यक्षन, दिखाई नहीं पड़ता, तो भा बन्दूक की गोली की तरह निशाने पर पहुंचता है और शत्रु को गिरा देता है। दूसरे प्रकार के मारण, मद मारण कहे जाते हैं। इनके प्रयोग से किसी व्यक्ति को रोगी बनाया जा सकता है। ज्वर, दस्त, लकवा, दर्द, उन्माद, मतिभ्रम आदि रोगों का आक्रमण किसी व्यक्ति पर उसी प्रकार हो सकता है, जिस प्रकार कीटाणु वर्सो से प्लेग, हैजा आदि महामारियों को फेलाया जाती है।

इस प्रकार के प्रयोग नैतिक हृष्टि से उचित हैं या अनुचित ? यह प्रश्न दूसरा है, पर इतना निश्चित है कि यह असम्भव नहीं, सम्भव है। जिस प्रकार विष खिलाकर या शब्द चलाकर किसी मनुष्य को मार डाला जा सकता है, वैसे ही ऐसे अदृश्य उपकरण भी हो सकते हैं, जिनको प्रेरित करने से प्रकृति के घातक परमाणु एकत्रित होकर अभीष्ट लक्ष्य की ओर ढोड़ पड़ते हैं और उस पर भयङ्कर आक्रमण करके उस पर चढ़ बैठते हैं और परास्त करके प्राण सङ्कट में डाल देते हैं। इसी प्रकार प्रकृति के गम्भ में विचरण करते हुए किसी रोग विशेष के कीटाणुओं को किसी व्यक्ति विशेष की ओर विजेष रूप से प्रेरित किया जा सकता है।

‘मृत्यु-किरण’ आज का ऐसा ही वैज्ञानिक आविष्कार है। किसी प्राणी पर इन किरणों को डाला जाय तो उसकी मृत्यु हो जाती है। प्रत्यक्ष देखने में उस व्यक्ति को किसी प्रकार का घाव आदि नहीं होता, पर अदृश्य माग से उसके भीतरी अवयवों पर ऐसा सूक्ष्म आघात होता है कि उस प्रहार से उसका प्राणात हो जाता है। यदि वह आघात हल्के दर्जे का हुआ, तो उससे मृत्यु तो नहीं होती, पर मृत्यु तुल्य कष्ट देने वाले या घुला-घुलाकर मार डालने वाले रोग पैदा हो जाते हैं।

शाप देने की विद्या प्राचीनकाल में अनेक लोगों को मालूम थी। जिसे शाप दिया जाता था, उसका बड़ा अनिष्ट होता था। शाप देने वाला अपनी आत्मिक शक्तियों को एकत्रित करके एक विशेष विधि-व्यवस्था के साथ जिमके ऊपर उनका प्रहार करता था, उसका वैसा ही अनिष्ट हो जाता था, जैसा कि शाप देने वाला चाहता था। तात्रिक अभिचारों द्वारा भी इसी प्रकार से दूसरों का अनिष्ट हो सकता है। परन्तु ध्यान रखने योग्य बात यह है कि इस प्रकार के प्रयोगों में प्रयोगकर्ता की शक्ति भी कम नष्ट नहीं होती। चालक प्रसव करने के उपरान्त माता विलकुल निर्बल, निःसत्त्व हो जाती है, किसी को काटने के बाद

सांप तिस्तेज, हनुवीर्य और शक्तिरहित हो जाना है। मारणा उच्चाटन के अभिचार करने वाले लोगों को जक्षिन्याँ मा भारी परिमाण में व्यय हो जानी है और उसकी अति-जूनि के लिए उन्हें असाधारण प्रश्नोग करने होते हैं।

जिस प्रकार तन्त्र द्वारा दूसरों का मारण, मोहन, उच्चाटन आदि हो सकता है, उसी प्रकार जोई कुशल नाविक इस प्रकार के अभिचारों को रोक भी सकता है। उन प्रयागों का निःकृत भी कर सकता है और यहाँ तक कि उम आक्रमण का इस प्रकार उनट मक्ता है कि वह प्रयोग-कर्ता पर उलटा पड़े और उसी का अनिष्ट कर द। प्रान, कृन्या, चौकी आदि को कोई भी भिज्ज नाविक उलट द, तो उसके प्रेरक प्रयोक्ता पर विपत्ति का पहाड़ दूटा समिक्षिए।

उपरोक्त अनिष्टकर प्रयोग प्राय होते हैं—तन्त्र विद्या द्वारा हो सकते हैं। परं नीति, धर्म, मनुष्यता और ईश्वरीय विवान की सुस्थिरता की दृष्टि से ऐसे प्रयोगों का किया जाना नितान्न अनुचित और अवाक्ष-नीय है। यदि इस प्रकार की गुप्त हत्याओं का तांता चल पड़े तो उससे लोक-व्यवस्था में भारी गडबडी उत्पन्न हो जाए और परस्पर के सद-भाव एवं विश्वास का नाश हो जाए, हर व्यक्ति दूसरों को प्राशङ्खा, मदेह एवं अविश्वास की दृष्टि से दबने लगे। इसलिए तन्त्र विद्या के भारतीय तात्रिकों ने इन क्रियाओं को निपिछ घोषित करके उन विधियों को गोपनीय रखा है। आजकल परमाणु वर्म वनानेक रहस्यों को बड़ी मावधानी से गुप्त रखते हैं, उमकी जानकारी सर्व-सुलभ हो जाने से कहीं उसका दुरुपयोग न होने लगे। उसी प्रकार इन अभिचारों को भी सुर्वधा गोपनीय रखने का ही नियम बनाया गया है।

शारदा-तिलक तन्त्र के गायत्री पट्टन में इस प्रकार के अभिचारों का वर्णन है, इनमें सकेत रूप से उन विस्तृत क्रियाओं का थोड़ा-थोड़ा अधारास कराया गया है। वह सकेत यत्येया अद्युर्ण एवं अपम्बद्ध हैं, तो

भी उस सूत्र के आधार पर यह जाना जा सकता है कि कार्य को पूरा करने के लिए किस प्रणाली का अवलम्बन करना होगा, किन वस्तुओं की प्रधान रूप से आवश्यकता होगी। इन संकेतों के द्वारा इस मार्ग पर चलने वाले को किसी-न किसी प्रकार उन गुप्त रहस्यों की जानकारी हो ही जाएगी।

शारदा-तिलक तन्त्र में कुछ ऐसे अभिचार सूत्र दिए गए हैं, जिससे इस प्रकार की विधियों पर कुछ प्रकाश पड़ना है और यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार गायत्री से सात्त्विक लाभ उठाये जाते हैं उसी प्रकार उससे तामसिक कार्य भी किये जा सकते हैं। परन्तु ऐसा उन विधानों को गृह्ण ही रखा जा रहा है। नीचे कुछ अभिचार संकेतों के श्लोक दिए जा रहे हैं—

घृतूर् विषवृक्षाक्षभूरुहोत्थान्समिद्वरान् ।

राजीतैलेन सलिप्तान् प्रथक्सस्प सहस्रकम् ॥

जहूयात् सथतो मन्यो, रिपुर्यमपुर प्रजेत् ॥

“घृतूरा, कुचिला तथा सरमो के तेल से युक्त शेष समिधानों से, प्रथक् सात हजार आहूति जितेन्द्रिय होकर दे तो शत्रु यमपुर को जावे।”

सप्तरात्र प्रजुह्यात् सिद्धार्थस्नेहलौलितै ।

आद्र वस्त्रो वष्टिकाले, मरीचौम्र्मनुनामुना ॥

“सात रात तक सरसो के तेल से युक्त मिरचों द्वारा हवन करे, गीला वस्त्र धारण कर वर्षाकाल में यह प्रयोग करे।”

निगृह्यते ज्वरेणारि प्रलयाग्नि समेत स ।

तालपत्रे समालिख्य शत्रु नाम यथाविधि ॥

“ऐसा करने पर शत्रु प्रलयाग्नि के सहज ज्वर से युक्त हो जाता है। तालपत्र पर शत्रु के नाम वो दधा दिए पूर्व क त्रिवृक्ष।”

आग्नेयास्त्रेण स वैष्ट्य, कुरुडमध्ये निखन्यते ।

जहुयात्मरिचौ कृद्धो, ज्वराक्रान्त म जायते ॥

“उस नाम को आग्नेयास्त्र में आभमन्त्रित कर कुरुड के मध्य में गाढ़ देवे और क्रोधित होकर मर्चो द्वारा हवन करे तो वे री ज्वर में युक्त हो जाता है ।

तदादाय क्षिपेत्तोये शीतले सर्वं जो भवेत् ।

पिष्टवापामाग्नं वीजानि, मरीच मधु मयुतम् ॥

“पुन कुरुड में मे उखाड़कर उमको शीतल जल में डाल दें और अपामार्ग (चिट्ठिवा) के दीजो को पीम, शहद में युक्त मिरचों को—”

अत्युपरा लवणे तोये निक्षिप्य वदाय येत्तन ।

ऋक्षदृक्ष प्रतिकृते हृदये वदने नसि ।

“नमक के जल में डाल अग्नि पर रखकर वदाय के मट्ट पकावे । पुन ऋक्ष दृक्ष में छोचित करे ।”

किञ्चित्किञ्चतिक्षिपेत्तोये, ददर्या कास्करोत्थया ।

आग्नेयमच्चरमन्त्री सोऽचिराज्वरितो भवेत् ॥

‘और साथ में थोड़ा थोड़ा जल डालता हमा मन्त्र को उचारण कर दर्कों (कर्हूली) में चलावे तो जीव ही इन ज्वरयुक्त हो जावे ।’

क्वथितेऽभ्यसि ता क्षिप्त्वा हन्याच्छत्रतयन्ततः ।

तीक्षण स्नेहेन सलिमा, शत्रो प्रतिकृति निशि ॥

“क्वाय वन जाने पर उसको जल में डालकर कूटे हुए करुवे तेन में युक्त उम कूटे हए क्वाय को रात्रि मे—

तापयेदेघिते वन्हौ प्रतिलोममनु लपन् ।

ज्वरेणावाद्यते सद्यो होमादम्य मृतिर्भवेत् ॥

“प्रतिलोमन्तापूर्वक मन्त्र जपता हमा प्रज्वलित अग्नि में तपावे । जलदी ही शत्रु ज्वर से आक्रान्त हो जाता है और होम से उसकी मृत्यु हो जाती है ।”

सामुद्रे नलिले हिङ्गु बोजजीरकलोलिते ।

कवयिते पुत्तलि साध्य नक्षत्र तरुनिर्मिताम् ॥

“नमक युक्त जल में हीण, जीरा मिनाकर क्वाथ बनाकर, उसकी मूर्ति इनावे ।”

अधोवक्त्रा विनि क्षिप्य, यष्ट्या विषतरूप्तथया ।

तच्छगस्ताऽन कवन् जपेदस्त्र विलोमत् ॥

“ओर उमको अधोमुख पृथ्वी पर ढालकर विष-वृक्ष की जाठी से उसका विर फोड़े और मन्त्र को पढ़ता जावे ।”

मत्साहान्मरण याति शत्रुज्वर विमोहित ।

आदित्य रथ नागेन्द्र ग्रस्ताऽन्त्रिद्विषाहतम् ॥

“इस प्रकार करने पर शत्रु ज्वर से युक्त हो जाता है और उसकी एक मत्साह में मृगु हो जाती है। उसको सर्व पैर में काट लेता है।”

नग्न तेजेन लिसाङ्ग दग्ध भानुमरीचिभि ।

अधोमुख निज रिपून्ध्यात्वा कवयित वारिणा ॥

तपयेद्धनुमालोक्य शत्रुमृत्यु, प्रियो भवेत् ॥

“शत्रु की मूर्ति को तेल में चुपड़कर मिरचों के साथ जलाकर उसका नीचे को मुब कर उषणे जल से तप गु करे, तो शत्रु की शीघ्र मृत्यु होवे।

ग्रञ्ज गु स्थएडल कृत्वा, सुगन्धिकुसुमादिभि ।

देवामभ्यचयेन्नित्य, प्रागुक्तेनैव वर्तमना ॥

“आँगन में वेणी बनाकर सुगन्धित पुष्प आदि से नित्य देवी की विधानपूर्वक अर्चना करे।”

आहरेद्रात्रिपुत्रलि चरुणा सर्वसिद्धिदा ।

कृत्यारोग भय द्रोह, भूतादीन्नात्र सर्गय ॥

“ओर गत्रि में ममस्त सिद्धिदायक चह द्वारा बलिदान देवे। इस प्रकार करने पर रोग, भय, द्रोह तथा भूतादिकों का भय नहीं रहना।”

यथावदग्निमाराध्य, गन्धौ पुष्टो मनोरमौ ।

स्थित्वा तस्याग्रनोमन्त्री जपेन्मन्त्रमनन्यघी ॥

“मनोहर सुपत्तिं पुष्टो द्वारा अग्नि की पूजा कर अग्नि के समक्ष अनन्य बुद्धि द्वारा मन्त्रजाप करे ।”

जपोऽय सर्वं सिद्ध्यर्थं स्यान्नात्र कार्यं विचारणा ।

लवणैमधुरासिक्तं जुहुयात्पश्चिमौमुख ॥

“यह जर समस्त मिद्दि प्रदायन् है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए, तदनन्तर पश्चिममुख हो नमकीन अन्न तथा मिष्ठान द्वारा हवन करे ।”

मन्त्रार्थं सख्यया मन्त्री, रिपुमात्मवशं नयेत् ।

शाली-प्रक्षाल्य सशोध्य, शुद्धान्तकुर्वीत् तरडुलान् ॥

“४४ हजार मन्त्रजाप करने पर जपने वाला शत्रु को अपने वश में कर लेता है। शाठी चावलों को धोकर शुद्ध करे—”

जपित्वा पचगव्येषु सस्कृते हव्यवाहने ।

सपचेऽजपन्मन्त्र, मववाय पुन् सुधी ॥

“शोधित चावलों को पचगव्य में शुद्ध करके विद्वान् पुन मन्त्र का जप करे ।”

अर्चयित्वा विशदवीदेवीमग्नी यथापुरा ।

जुहुयाच्चारुणानेन, साज्येनाष्ट सहस्रकम् ॥

“पुन, पूववत् देवी को पूजकर अग्नि में घृतयुक्त इस चरु के द्वारा आठ हजार आहुति दे ।”

पात्रे सम्पातन कुर्वन्साध्यतत्प्राशयेत्सुधी ।

शेष त निखने द्वारि सम्पान प्राङ्गणान्तरे ॥

‘पुन कुछ चरु पत्र में रख स्वयं भक्षण करे और शेष को आगन में गाढ देवे अथवा द्वार पर फेंक देवे ।’

कृत्यरोगा विनश्यन्ति सह भूत ग्रहामये ।

परैरुत्पादिता कृत्या, पुनस्तानेव भक्षयेत् ॥



COLLECTION OF VARIOUS

- HINDUISM SCRIPTURES
- HINDU COMICS
- AYURVEDA
- MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!

“कृत्या से उत्पन्न रोग भूत ग्रहों के साथ-साथ नष्ट हो जाते हैं। दूसरों द्वारा भेजी गई कृत्या (धात) उन्हीं को नष्ट करती है।”

जुहुयात्सम्पदा भूमि साधको भवति ध्रुवम् ।

“ऐसा करने पर साधक सम्पत्ति युक्त निश्चय हो जाता है।”

ब्रीहिभिहविषा क्षोरै पयोवृक्ष समिद्वरै ।

आज्यैर्मधुत्रयोपेत रत्नदशशत प्रथक् ॥

“हवि, जो, दूध युक्त वृक्षों की समिवामो, घृत से, शहद से, इनसे एक हजार आहुति प्रथक् दे।”

इसी प्रकार वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण और उच्चाटन के भी सक्षिप्त विधान मिलते हैं। उनके सम्बन्ध में केवल इतना जानना ही पर्याप्त है कि विधि-विधान की पूरी जानकारी होने पर इन्हें सफलता-पूर्वक किया जा सकता है।

* तन्त्र-विज्ञान (प्रथम खण्ड) समाप्त *